श्रीवीतरागाय नमः।

# भगवान् महावीर

और

## उनका उपदेश

---

लेखक

**कामताप्रसाद जैन,**

उपसम्पादक 'वीर'

---

दातार

**श्रीयुत शिवचरणलालजी जैन,**

रईस जसवन्तनगर ( इटावा )

---

प्रकाशक

**श्रीवीरकार्यालय, बिजनौर**

प्रथमावृत्ति ]　　२४५१　　[ मूल्य 'प्रेम'
१०००
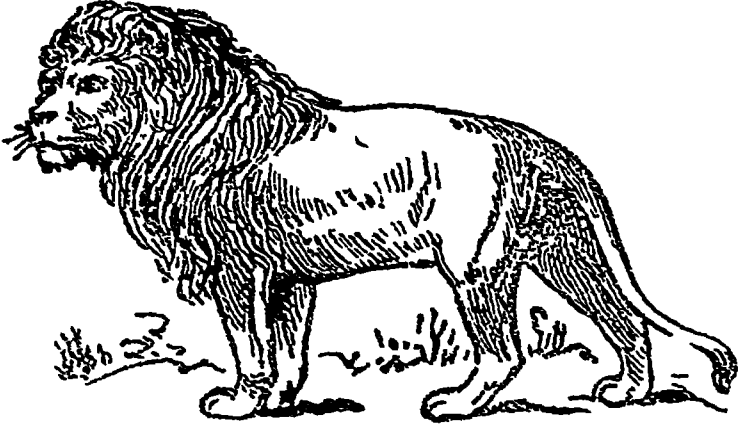
" वीरो वीरनराग्रणीर्गुणनिधिर्वीरा हि वीरं श्रिताः ।
वीरे सोह भवेत्सुवीरविभवं वीराय नित्यं नमः ॥"

—श्रीसकलकीर्तिः
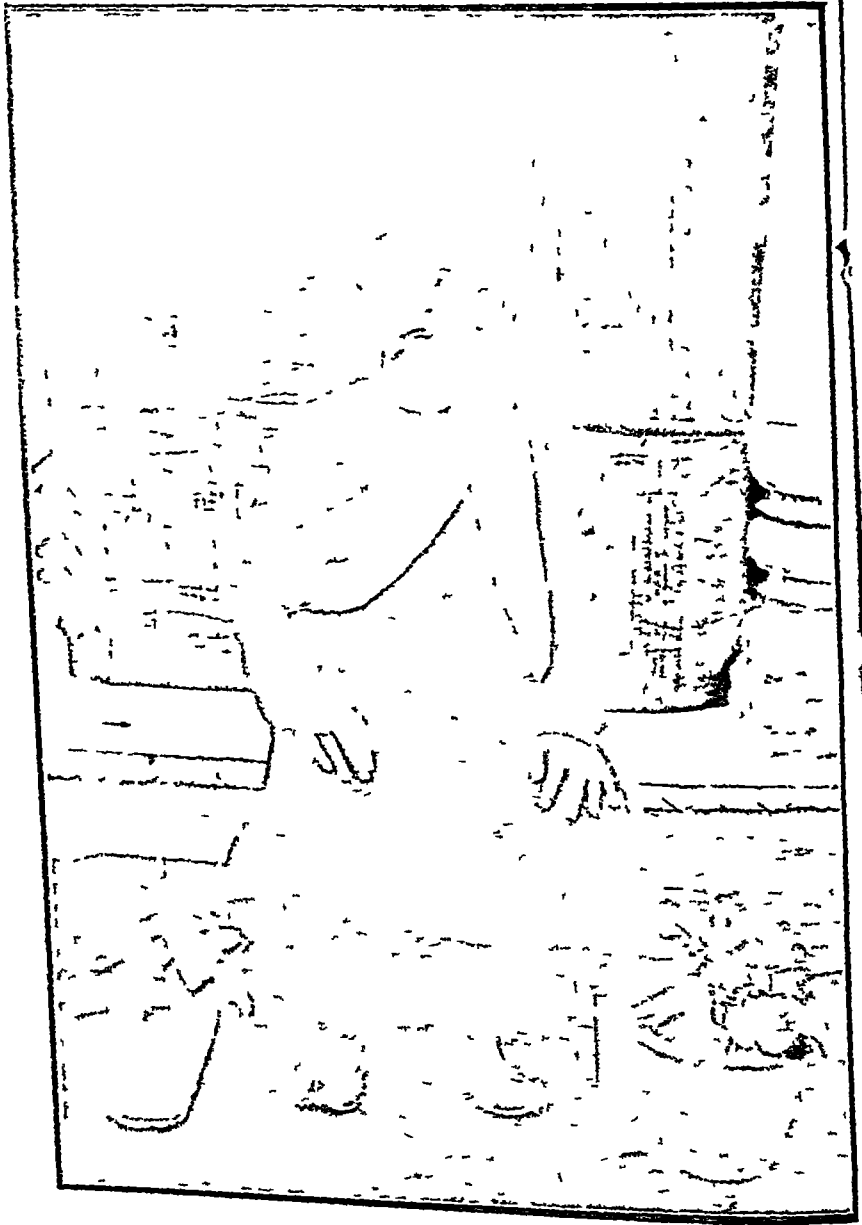
श्रीमान् स्व० लाला मगनीराम जी जैन, रईस व ज़िमीन्दार
जसवन्तनगर ( इटावा )

# प्रेमोपहार।

"वीर" के द्वितीय वर्ष के ग्राहकों को यह भगवान् महावीर का संक्षिप्त जीवन और दिव्योपदेश श्रीमान् स्वर्गीय ला० मगनीरामजी की पुण्य-स्मृति में श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजी, जसवन्तनगर-निवासी-द्वारा सादर सप्रेम समर्पित है।

आवश्यक माँग की ओर आगामी रहेगा ? दुःख है कि अभी भी अतुल जैन-साहित्य शास्त्र-भंडारों में ही सीमित हो रहा है। यदि वह समुचित रीति से प्रकाशित किया जाकर सभ्य विद्वत्समाज के सन्मुख लाया जावे, तो अवश्य ही भारत के प्राचीन इतिहास में और संसार के सैद्धान्तिक विज्ञान में नवयुग उपस्थित हो जावे ! और जैन-धर्म का प्रचुर प्रताप पूर्णतया चहुँ ओर प्रसरित हो जावे ! क्या यह स्वर्णावसर निकट भविष्य की गोद में संभवित समझा जावे ? इसका उत्तर तो जैन धनवानों पर ही अवलम्बित है !

भगवान् महावीर के जीवन पर प्रचुर प्रकाश पड़ चुका है। अतएव इस पुस्तक से संभव है कि कोई नवीन संदेश प्राप्त न हो। परन्तु पाठकों को ध्यान रहे कि यह भगवान् के पवित्र चरित्र और दिव्योपदेश को प्रकट करने के लिए ही प्रकाश में आरही है। आशा है जैन-अजैन सर्व ही इससे उपयुक्त लाभ उठावेंगे। ॐ वन्दे वीरम् ।

विनीतः—

कामताप्रसाद जैन ।

जसवन्तनगर,
ता० ७ । १० । १९२४

# श्रीमान् स्वर्गीय ला० मगनीरामजी का संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त ।

संयुक्त-प्रान्त के ज़िले इटावे में क़स्बा जसवन्तनगर अपने व्यापार के लिए प्रसिद्ध है। इसी स्थान पर सन् १८५७ ई० के बहुत वर्षों पहिले से बसा हुआ एक प्रख्यात मोदी वंश है। यह वंश दिगम्बर जैन-धर्म का श्रद्धानी बढ़ेलवाल जाति का है। इसी वंश मे सन् १८५७ ई० के ग़दर के पूर्व एक श्रीबुद्धसेनजी नामक पुरुष थे। आपके ही दो पुत्र श्रीमान् ला० भजनलालजी व ला० मगनीरामजी थे। दोनों पुत्रों का जन्म क्रम से श्रावणशुक्ला द्वितीया सं० १६०६ और आश्विन-शुक्ला प्रतिपदा सं० १६१३ को हुआ था। ग़दर मे ला० भजन-लालजी यद्यपि अल्पावस्था के थे, परन्तु आप हवेली पर चढ़ कर अपनी टोपी मे भर भर बारूद पहुँचाते थे। उस समय जसवन्तनगर क़रीब क़रीब सब ही ओर से निर्जन हो गया था। इस प्रकार बचपन से ही यह दोनों भाई विचक्षण बुद्धि के और समय की जानकारी रखनेवाले थे। उस समय में सारी जैन-समाज में विद्याप्रचार किस कमी पर था, यह हमको प्रकट है। उसी अनुरूप में इन दोनों भाइयों की भी शिक्षा साधारणतया हिन्दी और महाजनी के पढ़ने मे ही पूर्ण हो गई थी। परन्तु उस समय के प्रवाहानुसार आपको जैन-धर्म के स्तोत्रादि अवश्य ही कण्ठस्थ करा दिये गये थे।

दोनों भाइयों के विवाह भी जब वह चौदह वर्ष के थे हुए थे। ला० भजनलालजी के दो विवाह हुए थे। दूसरे विवाह से आपके एक मात्र पुत्र और उत्तराधिकारी श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजी का जन्म हुआ था। बाबूजी ही अपने पूज्य पूर्वजों की पवित्र-स्मृति मे यह ग्रन्थ प्रकट कर धर्म का उद्योत कर रहे हैं।

ला० भजनलालजी अपनी जिमींदारी की देख-रेख और घी व हुण्डी के व्यापार में विशेष पटुता से कार्य किया करते थे। आपके आसामी आपको वस्तुतः अपना हितेच्छु समझते थे। उनके आपसी लड़ाई झगड़ो को आप ख़ुद ही निवटा दिया करते थे। आप शास्त्रश्रवण और सामायिकादि नित्य-प्रति किया करते थे। सं० १९५७ मे आपने श्रीजिन भगवान् का विशेष पूजन ( पाठ ) कराया और उसमे अपने सारे सजातीय भाइयों को निमंत्रित किया। इस सुअवसर के सर्वदिवस आनन्द से पूर्ण हुए। परन्तु पाठ के पूर्ण होने के दूसरे दिन आप रात्रि के ४ बजे सामायिक करने के लिए बैठे कि वहीं सामायिक करते सहसा आपका स्वर्गवास हो गया! आपको ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान था। कहते हैं कि आपने अपनी मृत्यु के विषय में पहिले ही कह दिया था कि मंदिरजी, राज-दरबार अथवा दुकान की गद्दी पर हमारी मृत्यु होगी। तदनुसार गद्दी पर धर्म ध्यान मे लीन आपका पवित्रात्मा इस नश्वर देह को छोड़ किसी उत्तम गति मे जा विराजमान हुआ। यह मिती माह सुदी २ सं० १९५७ का दिन था। जहाँ सब लोग आनन्द में मग्न थे, वहाँ सहसा घोर हाहाकार मच गया। सांसारिक कार्यों के रंग में भंग होने का मानो वही

काल निर्णीत था ! अन्ततः शोकसंतप्त परिवार को सान्त्वना ग्रहण करनी पड़ी । ला० मगनीरामजी ने वंश की रक्षा व कारभार की देखरेख का भार ग्रहण किया । इस समय बाबू शिवचरणलालजी अल्पावस्था मे थे । आपने आपका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध बड़े चाव से अपने पुत्र के समान ही किया । यद्यपि आपके तीन विवाह हुए थे, परन्तु दैव की भृकुटी को यह छिन्न भिन्न न कर सके । आपके कई सन्तान हुईं; परन्तु जीवित न रहीं । इस प्रकार इन दोनों भाइयों के मध्य कुल के उद्धारक श्रीयुत बाबू शिवचरण-लालजी हैं ।

लाला मगनीरामजी का जीवन कर्तव्यपरायण और धर्म-मय था । लेखक ने स्वयं अपनी आँखों से उन नाटे क़द के स्थूल पर सुंदर शरीरधारी गौर वर्ण के उत्तम पुरुष को अपनी दिनचर्य्या मे इस निपुणता और उत्साह से संलग्न देखा है कि वह उनकी उस वयप्राप्त अवस्था के श्रम को देख अपनी युवा-वस्था की चर्य्या को आलस्यमय ही समझता है । आप प्रातः-काल ही उठते और सामायिक करने बैठ जाते । सामायिक से निर्वृत्ति पा और शौच करके श्रीदेवदर्शन के लिए प्रस्थान कर जाते ! सर्दी और गर्मी सबमे आपका यही व्यवहार रहता ! आज जिस समय हमारे अधिकांश नवयुवक सो के मुश्किल से उठते होंगे कि उसके पहिले ही वह आत्मध्यान और स्नान आदि करके भगवद्दर्शन के लिए पहुँच जाते । फिर अपने व्यापारी कार्य—वहीखाता स्वयं लिखने आदि में व्यस्त हो जाते । इस कार्य को पूर्ण कर आप नियम से शास्त्रश्रवण करने मंदिरजी में पहुँच जाते । जब तक आप जीवित

रहे जसवन्तनगर मे शास्त्र भी नियमित रूप से होता रहा था।

आप जिस प्रकार व्यापार में सिद्धहस्त थे, उसी प्रकार अपने संचित धन का उपयोग भी समुचित रीति से करना जानते थे। जब आपके उत्तराधिकारी श्रीयुत बाबू शिवचरण-लालजी का विवाह अलीगंज (एटा) होने गया, उस समय आपने उचित दान के साथ साथ श्रीकम्पिलजी तीर्थक्षेत्र मे धर्मशाला बनवाने के लिए जमीन खरीद दी। उसी पर एक पुख्ता धर्मशाला बढ़ेलेलमेचू आदि धर्मात्मा भाइयों की सहायता से बन रहा है। इसके अतिरिक्त आपने श्रीमंदिरजी जसवन्तनगर में एक वेदी संगमरमर की लगाई और उसमे स्वर्ण का कार्य कराया। तथा वहीं एक दालान मे स्वर्ण और शीशे पर रंग का कार्य भी करवाया। और उस वेदी के लिए तीन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई। अपनी वेदी की प्रतिष्ठा माहशुक्ला ५ सं० १९७३ में करवाई और उसमे उन प्रतिमाओं को बड़े उत्सव से पधरवाया। उस समय रथ-यात्रा निकली थी। और विद्वानों के अपूर्व व्याख्यानों-द्वारा जैन-धर्म की प्रभावना की गई थी। जैन-धर्म भूषण ब्र० शीतलप्रसादजी, पं० तुलसीरामजी काव्यतीर्थ, पं० देवकीनन्दनजी शास्त्री आदि धुरंधर विद्वान् उस समय पधारे थे। जसवन्तनगर मे आपकी दान-शीलता के कार्य दो और हुए थे। एक तो आपने एक धर्मशाला की नींव डलवाई और उसमें दो कमरे और एक दालान बनवा दिये। तथा दूसरे जैन-पाठशाला की स्थापना में सहायता प्रदान की। और जब तक पाठशाला रही तब तक सहायता प्रदान करते रहे। इस प्रकार आपकी धार्मिक उदा-

रता प्रकट है। आपकी धर्मवृत्ति सदैव बढ़ती रही। आप बराबर श्रीकम्पिलजी तीर्थक्षेत्र की वन्दना करने क़रीब क़रीब प्रति वर्ष जाया करते थे। तथापि कई बार आप शिखरजी, गिरनारजी, सोनागिरिजी आदि की यात्रा करने गये थे।

आपका उदार चारित्र्य सर्व प्रकट था। सरकार में भी आपकी मान्यता विशेष थी। आप टाउन की पंचायत के पंच और डिस्ट्रिक्टबोर्ड के मेम्बर थे। इन कार्यों को भी आप विशेष चारुता से किया करते थे। इस प्रकार अपने दैनिक जीवन में कालयापन करते हुए आप मिती चैत्रवदी १२ शनिवार सं० १९७९ की शाम को ७ बजे स्वर्गगामी हुए। आपके उत्तराधिकारी बाबू शिवचरणलालजी ने काल की विचित्र गति को विचारते हुए यह वज्राघात संतोषपूर्वक सहन किया। और अब वह अपने पूर्वजों की भाँति अपने कारभार को सँभाल रहे हैं। आपका "वीर" के प्रति विशेष सद्भाव है। और दानशीलता भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती जाती है। अभी हाल ही मे आपने जसवन्तनगर मे अस्पताल खोलने की आयोजना में १०००) प्रदान किये है।

समाज में यदि सामयिक आवश्यकतानुसार दान करनेवाले दानवीर उत्पन्न हो जावें तो समाज की हीन दशा अति शीघ्र दूर हो जावे! पाठको, इस प्रकार उस वंश के पुरुषों का यह संक्षिप्त वृत्तान्त है जिनकी स्मृति मे यह पुस्तक प्रकट की जा रही है! इति शम्।

—लेखक

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः ।

# भगवान् महावीर और उनका उपदेश ।

"बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥"

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

भी अपनी कामना की पूर्तिहेतु हम तीर्थङ्कर भगवान् के विशद्-तत्त्व-उपदेश-नद में प्रवेश कर इन शब्दो का यथार्थ रसपान करेंगे। परन्तु पहिले यह जानना आवश्यक है कि यह भगवान् महावीर थे कौन? इन्होंने किस जाति के, किस समय के और किस अवस्था के मनुष्यों को उपदेश दिया था? और उसको किस प्रकार उन लोगों ने स्वीकृत किया था? इन बातों से विज्ञ हुए बिना उस उपदेश का महत्त्व कैसे समझा जा सकता है? हाँ, यह अवश्य है कि अन्य ग्रन्थों से उन भगवान् के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु जिस महान् आत्मा के दिव्योपदेश का परिचय हम यहाँ प्राप्त कर रहे हैं, तो यह आवश्यकीय है कि हम उसका संक्षिप्त वृत्तान्त भी जान ले। अतएव कहना होगा कि भगवान् महावीर जैनियों के—अथवा जैनधर्म में माने हुए २४ तीर्थङ्करों में से अन्तिम तीर्थङ्कर थे।

भगवान् महावीर हम आप जैसे मनुष्य ही थे: परन्तु अपने पूर्वभवों मे विशेष पुण्यकर्म करने से वह जन्म से ही मति, श्रुति और अवधिज्ञान* के धारक थे। उनका शरीर अतुल बलकर पूर्ण परम मनोहर मलादिरहित था। वे वैशाली के निकट अवस्थित कुण्डग्राम के अधिपति नृप सिद्धार्थ के सुपुत्र थे। नृप सिद्धार्थ नाथवंशीय काश्यपगोत्री क्षत्री थे और जैनधर्म के श्रद्धानी

भगवान् का संक्षिप्त परिचय।

---

* जैन-शास्त्रों में ज्ञान पांच प्रकार का बताया है, "मतिश्रुताव-धिमनःपर्य्ययकेवलानि ज्ञानम्" अर्थात् (१) मतिज्ञान—वह ज्ञान

थे*। इनकी महारानी—वैशाली के राजा चेटक की पुत्री त्रिशला या प्रियकारिणी भगवान् की माता थीं, जो रूप, गुणादि के साथ साथ विद्या में भी निपुण थीं। नृप सिद्धार्थ के विषय में यह दृढ़ अनुमान किया जाता है कि वह वज्जियन प्रजा-सत्तात्मक राज्यसंघ में सम्मिलित थे। इन्हीं के पवित्र गृह मे भगवान् महावीर का जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। भगवान् के गर्भ-समय के छः मास पहले से ही स्वर्गलोक के देवों ने रत्नवृष्टि करना प्रारंभ कर दी थी और भगवान् के जन्मसमय उत्सव मनाया था। चार प्रकार देवों के इन्द्र और देव तीर्थङ्कर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणों—अवसरों पर आनन्दोत्सव मनाते हैं। इस समय दिशायें भी निर्मल होगई थीं। सुन्दर वायु बहने लगी थी। सर्व जीवों को क्षणभर के लिए सुख का अनुभव प्राप्त होगया

---

है जिससे इन्द्रियों और मन द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो।

(२) श्रुतज्ञान—वह ज्ञान है जो शास्त्रों के अध्ययनादि से प्राप्त हो।

(३) अवधिज्ञान—वह ज्ञान है जो बिना पर की सहायता के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा रूपी द्रव्यो का ज्ञान कराता हो।

(४) मनःपर्य्यय ज्ञान—प्रत्यक्ष दूसरे के मन का हाल जानने का ज्ञान।

(५) और केवल ज्ञान—पूर्ण ज्ञान है अर्थात् सर्वज्ञता!

* जैन एवं जैनेतर शास्त्र इस युग मे जैन-धर्म के संस्थापक श्री० ऋषभदेव को बतलाते है जिनका उल्लेख वेदों में है। इस हेतु भगवान् महावीर से पहिले भी जैनधर्म विद्यमान था। और नृप सिद्धार्थ उस ही के श्रद्धानी थे जैसे मि० विमलचरण लॉ-एम० ए० ने अपनी पुस्तक The Kshatriya Clans in Buddhist India में व्यक्त किया है।

था। बात यह है कि महान् पुरुष के जन्म-समय सब बातें शुभ की सूचना देनेवाली होती हैं।

भगवान् का जन्म होगया। वह चन्द्रकला की भाँति दिन प्रति दिन बढ़ने लगे। बाल्यकालीन क्रीड़ाओं को करने भगवान् महावीर मंत्रीपुत्रो और देवसहचरों सहित राज-उद्यानादि में जाया करते थे, और बालक्रीड़ाये किया करते थे। अपने अपरिमित शारीरिक पराक्रम के बल भगवान् ने एक बार 'मदमद' नामक मत्त हाथी को वश किया था। एक अन्य स्थान पर जब आप अपने सखा सहचरों समेत राज्योद्यान मे क्रीड़ा कर रहे थे, तब सहसा वहाँ एक अति विकराल काला नाग आ निकला। अन्य बालक घबड़ा कर इधर-उधर भागने लगे। परन्तु भगवान् ने झट उसे वश कर लिया। इसी प्रकार आप धर्मपालन मे भी विशेष कटिबद्ध थे। आपने आठ वर्ष की नन्ही अवस्था से ही श्रावक के वृतों को पालन करना प्रारंभ कर दिया था। इसी समय चारणलब्धि के धारक विजय व संजय* नाम के यतियों का संशय एक दिन भगवान् को देखते ही दूर हो गया था। इसीलिए उन्होंने भगवान् का नाम 'सन्मति' रक्खा था।

---

* म० गौतम बुद्ध के एक मुख्य शिष्य मौद्गलायन के गुरु का नाम भी 'संजय' था। मौद्गलायन पहिले जैन मुनि था यह जैनाचार्य अमितगति व्यक्त करते हैं। इस हेतु इनके गुरु संजय 'महावीरचरित्र' में उल्लिखित चारण ऋद्धि धारक जैनमुनि होना चाहिए। मि० विमलचरण ला० एम० ए० बी० एल० अपनी पुस्तक "The Historical Gleanings" में लिखते है कि यूनानी फिलास्फर पैरहो (Pyrrho) ने भारत में आकर "जैमनोसूफिस्ट्स" (Gym-

दिन बीतते देर नही लगती। भगवान् महावीर भी शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हो गये। इस समय आप पिता के राजकाज में भी सहयोग देने लगे। श्वेताम्बराम्नाय के सूत्रग्रन्थ व्यक्त करते हैं कि भगवान् का इस अवस्था में यशोदया नाम की एक राजकन्या से पाणिग्रहण हुआ था। परन्तु दिगंबर ग्रन्थ प्रकट करते हैं कि भगवान् महावीर आजन्म बाल-ब्रह्मचारी रहे थे। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंश पुराण में इस विषय में जो उल्लेख हैं उससे यह प्रकट नही होता कि भगवान् ने विवाह कर लिया था। राजा जितशत्रु अपनी कन्या यशोदा भगवान् को समर्पित करना चाहते थे परन्तु उनको संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने विवाह नहीं किया यही प्रकट है। बौद्धग्रन्थ भी शायद इस ओर मौन हैं। जो हो यह मतभेद ऐसा हैं कि इससे दोनों सम्प्रदायों मे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही उपस्थित होता!

इस प्रकार भगवान् तीस वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम में रहे। परन्तु इस समय आपको वैराग्य होगया था। भगवान् के माता-पिता आपके संसार-त्याग के निश्चय को जान कर पहिले तो दुःखी हुए, परन्तु भगवान् के समझाने पर वह प्रतिबुद्ध हो गये और उनके मोह का नाश होगया। वैराग्य में

---

nosophists) से दार्शनिक शिक्षा ग्रहण की थी। यह "जैमनोसू-फिस्टस" दि० जैन मुनिगण थे यह "इनसायक्लोपेडिया ब्रेटेनिका" भाग २९ के कथन से प्रमाणित है। फिर उसी पुस्तक में मि० लौं अगाडी लिखते है कि पैरहो की सैद्धान्तिक शिक्षा संजय के अनुसार है। इसलिए मौद्गलायन के गुरु संजय जैनमुनि थे, जिनका उल्लेख असग कविकृत 'महावीरचरित्र' में है, यह सम्भवित है।

उसका अन्त होना अवश्यम्भावी है। विवेकपूर्ण मोह मोह नहीं होता। वह प्रेम होता है और उसका अन्त वैराग्य मे नहीं होता। वह विवेकमय प्रेम इस निर्वृत्तिमार्ग मे उत्तरोत्तर बढ़ता है। इस हेतु वैराग्य-प्राप्ति पर सब ओर से ममत्व भाव हटा कर भगवान् महावीर ने 'वनखंड' नामक वन मे जाकर अगहन वदी १० के दिन नग्न दिगम्बर वेश को धारण कर संयम को ग्रहण कर लिया और सिद्धों को नमस्कार कर स्वध्यान मे लवलीन होगये। तवही आपको मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त होगया था। परन्तु श्वेताम्बरग्रन्थ कहते हैं कि डेढ़ वर्ष तक उन्होंने इन्द्र दत्त देवदूष्य वस्त्र धारण किये थे। पश्चात् वह नग्न अचेलक हो गये थे।* इससे भी यही प्रकट है कि वह नग्न दिगंबर वेश में रहे थे। इस समय

दीक्षाग्रहण और केवलज्ञान-प्राप्ति।

---

* मुनियो के वेश को ही लेकर श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से पवित्र जैनसंघ में फूट के बीज पड गये थे। जो अन्त में ईसा की प्रथम शताब्दी में पूर्णरूप में प्रस्फुटित हो गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर का भेद महाराज चन्द्रगुप्त के समय मे ही वह निकला। उस समय के घोर दुष्काल ने उत्तर में रहे मुनियो को प्राचीन नग्नवेश धारण करने में शिथिल बना दिया। जिस शिथिलता के कारण अन्त में जैन-संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायो में विभाजित होगया। प्राचीन जैन मुनियो का वेश यथार्थ में नग्न ही था जैसा कि दिगम्बर-सम्प्रदाय को इष्ट है। यही नग्न वेश स्वयं श्वेताम्बरों के आचाराङ्ग सूत्र के निम्न उद्धरणों से प्रमाणित है —

( १ ) जो मुनि अचेल ( वस्त्ररहित ) रहते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरे वस्त्र फट गये हैं आदि ( ३६० )

भगवान् उपदेश नहीं देते थे। वह मात्र आतममनन मे सदैव लीन रहा करते थे। भगवान् का सब से प्रथम पारणा (आहार) कूलनगर के कूलनृप के यहाँ हुआ था। नगर और राजा का नाम एक होना हमको विश्वास दिलाता है कि यह नृपति कोलिय जाति में से था। यहाँ से भगवान् सर्वत्र भारत मे विहार करते रहे।

भगवान् ने १२ वर्ष का दुर्धर तपश्चरण धारण किया था। इसी बीच मे जब आप उज्जैन की ओर विहार कर रहे थे तब ११ वें रुद्र ने आप पर घोर उपसर्ग किया था; परन्तु उससे भी आप विचलित न हुए। पश्चात् जब आप ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भकग्राम मे निकट-वर्ती विराजमान थे, तब मध्याह्न के समय आपको अन्तिम ज्ञान—केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। इस समय आपकी अवस्था ४२ वर्ष की थी। आपको सर्वज्ञता प्राप्त हो गई। आप जीवन्मुक्त परमात्मा होगये।

---

(२) वस्त्ररहित रहनेवाले मुनियों को बार बार काँटे लगते है, उनके शरीर को जाडे का, डांसों का, मच्छरों का आदि कई प्रकार के परीषह सहन करना पड़ते है जिससे शीघ्र ही तप की प्राप्ति होती है। ( ३६८ )

इनमें मुनियों का नग्न वेश ही स्वीकार किया गया है तथा श्लोक नं० ४३२ मे उन मुनियों के लिए कटिवस्त्र धारण करने का विधान किया गया है जो लज्जा को निवारण नहीं कर सकते उससे ग्रन्थकार के विवेचन मे अवैज्ञानिकता प्रतिभाषित होती है। दिगम्बर-सम्प्रदाय मे क्रम वार मुनि अवस्था को धारण करने का नियम वैज्ञानिक रूप मे वर्णित है। वहाँ उदासीन श्रावक अभ्यास करते करते अन्य वस्त्रों का त्याग करके केवल एक कटिवस्त्र रखता है और जब जान लेता है कि इसकी भी आवश्यकता नहीं है तब वह उसको भी त्याग देता है और नग्न मुनि हो जाता है। "तथापि इस प्रकार श्वेताम्बरों के प्रामाणिक

इस परमात्मावस्था में ही आपने सर्वत्र भारत में अपने विशिष्ट ज्ञान का रसपान सर्व लालायित जनता को कराया था। यह ईसा से पूर्व करीब साढ़े पाँच सौ वर्ष की बात है। उस समय भारतीय जनता यथार्थ सत्य के लिए लालायित हो रही थी और थोथे क्रियाकाण्ड एवं निरर्थक हिंसा-बलिदान से ऊब रही थी। उसके नेत्रों मे मनुष्य मनुष्य का भेद भी विशेषरूप मे खटक रहा था। इसी समय भगवान् महावीर ने अपनी सर्वज्ञ परमात्मावस्था मे इनको यथार्थ सत्य का रसपान तीस वर्ष तक अपने समवशरण सहित सर्वत्र विचर कर कराया और उनकी आत्मा को सुख शान्ति का अनुपम मार्ग सुझाया। भारतीय जनता भी उनके इस महत् उपकार से उनकी अटल भक्त होगई। यहाँ तक कि उसने इन भगवान् की

पवित्र विहार निर्वाण और उसका प्रभाव।

ग्रन्थो में भी कहीं ऐसा नहीं पाया जाता जहा पर वस्त्र और पात्र के लिए विशेष आग्रह किया गया हो कि इनके बिना मुक्ति ही नहीं, इनके बिना संयम ही नहीं, अथवा इनके सिवा कल्याण ही नहीं। उनमें तो साफ़ साफ़ बतलाया गया है कि जो साधु वस्त्र और पात्र रहित रह कर भी निर्दोष सयम पालन कर सकता हो उसके लिए वस्त्र और पात्र की कोई आवश्यकता नहीं।" (देखो मि० भण्डारी (श्वे० ) का 'भगवान् महावीर' पृष्ठ ४२९ ) परन्तु दु ख है कि शास्त्रों के विवरणों में ढूँढने से सामञ्जस्य मिलने पर भी आज इन दोनों सम्प्रदायों में परस्पर घोर द्वेष फैल रहा है। धर्म के नाम पर परस्पर मुकद्दमेबाज़ी हो रही है। यह भगवान् महावीर के अनुयायियों के लिए शोभनीय नहीं है। अब तो प्रेमपूर्वक गले मिलकर लालायित जनता को पवित्र धर्म-पीयूष पिलाने का अवसर है। भाई भाई का मिलना कठिन नहीं है। ध्यान दीजिए।

निर्वाण प्राप्ति के हर्षोपलक्ष में एक जातीय त्यौहार स्थापित किया, जो आज भी 'दीपावली' के नाम से विख्यात है। इसी कार्तिककृष्णा १५ के दिन भगवान् महावीर ने विहार-प्रान्त में अवस्थित मल्लवंशीय राजा हस्तिपाल की राजधानी पावापुरी से निर्वाणावस्था को प्राप्त किया था। उस समय देवों ने आकर उत्सव मनाया था। और भगवान् के मोक्ष-स्थान पर रत्नजटित स्तूप निर्माण किया था। विविध राजाओं ने भी आनन्दोत्सव मनाया था। इस विषय मे श्रीगुणभद्राचार्यजी ने उत्तरपुराण पर्व ७६ में लिखा है:—

"क्रमात् पावापुरं प्राप्य मनोहरवनांतरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥ ५०६ ॥

स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥ ५१० ॥

स्वातियोगे तृतीयार्द्धशुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसंरोधसमुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥ ५११ ॥

हता घातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् ॥ ५१२ ॥

भावार्थः—श्रीमहावीर भगवान् क्रम से पावापुर के मनोहर वन मे आये, जहाँ कमलों के मध्य में एक शिला पर दो दिन विराजमान रहे। प्रभु का विहार बंद हुआ। कर्म की निर्जरा बढ़ने लगी। कार्तिककृष्ण चौदस की रात्रि को समाप्त होते होते तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान से चार-अघातिया कर्मों का नाश कर शरीर रहित हो परमगुणवान् प्रभु मोक्ष पधारे। तब ही से यह जातीय त्योहार चला आरहा है। यह आज से क़रीब

२४५१* वर्ष पहिले की बात है। इस त्यौहार के साथ ही उस कृतज्ञ सत्यप्रिय जनता ने भगवान् की स्मृति मे एक पवित्र अब्द भी चलाया था। इसकी साक्षी मे वीर संवत् ८४ जैसे प्राचीन काल का एक शिलालेख आज भी अवशेष है। यह अजमेर के अजायबघर मे मौजूद है और इसको वहाँ के क्यूरेटर रायबहादुर गौरीशंकर ओझा ने पढ़ा है। अतएव हम देखते हैं कि वस्तुतः उस समय भगवान् महावीर की प्रतिभा प्रत्येक भारतवासी के हृदय में घर कर गई थी; अन्यथा यह संभव नहीं था कि उनकी पवित्र स्मृति में उक्त प्रकार राष्ट्रीय त्यौहारादि चालू होते।

वास्तव मे उस समय हर अवस्था और जाति के प्राणी को उनके उपदेश से सुखशांति का सच्चा मार्ग प्राप्त होगया था। भगवान् के सर्व-मुख्य शिष्य ब्राह्मण वर्ण से थे। उनके मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम भी पहिले एक वेदपारंगत कट्टर ब्राह्मण थे। इनका उल्लेख हुएनत्सांग ने भी अपने यात्रा-विवरण में किया है। इनके अतिरिक्त क्षत्रिय राजा लोग तथा राजकुमार और राजकुमारियाँ एवं अन्य

---

* कुछ विद्वान् इस समय से सहमत नहीं है। वास्तव में भगवान् का यथार्थ निर्वाण-काल निश्चित करना अति कठिन साध्य है। जो हो इस ओर विद्वानों को ध्यान देते हुए इस बात को विचार में रखना चाहिए कि जिस समय भगवान् सर्वज्ञावस्था में धर्म-प्रचार कर रहे थे उस समय म० बुद्ध की अवस्था ५० से ७० वर्ष की थी। ( देखो "वीर" भाग २ संख्या १ ) तिस पर श्रीयुत विहारीलालजी ने विशेष प्रमाणों से यह समय २४७० सिद्ध किया है। इससे डॉ० जैकोबी भी कुछ कुछ सहमत है। ( देखो "वीर" भाग २ सं० ३ )

कुलीन भव्यगण भी गृहत्याग कर भगवान् के साधुसंघ मे सम्मिलित हुए थे। राजा शतानीक राजपाठ त्याग भगवान् के निकट साधु होगये थे। क्षात्र-चूड़ामणि जीवंधर, राजकुमार अभय आदि भी मुनिधर्म मे लीन हुए थे। राजकुमारी ज्येष्ठा, चन्दना आदि भी सांसारिक सुख त्याग आर्यिका हुई थीं। इनके अतिरिक्त हज़ारों श्रावक और श्राविका उदासीन रूप मे भगवान् के संघ मे सम्मिलित थे। राजगृह के सेठ शालिभद्र तथा धन्यकुमार विशेष प्रख्यात थे। वणिकपुत्र सेठ धन्यकुमार का पाणिग्रहण सम्राट् श्रेणिक की पुत्री से हुआ था। इस घटना से उस समय के जातीय विवाह संबंध की उदारता का पता चलता है। आजकल की तरह, मालूम होता है, उस समय विवाह का क्षेत्र संकुचित नहीं था।

भगवान् के शिष्यों में प्रख्यात ब्राह्मण विद्वान् और क्षत्रिय राजा।

भगवान् महावीर के समय मे भारत मे एक ओर तो मगध, कौशल, वत्स, काशी और अवन्ती आदि राज्यतंत्र थे व दूसरी ओर शाक्य, कालाप, कोलीय, मोरीय, मल्ल, लिच्छवि, विदेह इनमे लोकतंत्र शासन था। इन राजतंत्रो मे मगध के राजा श्रेणिक बिम्बसार भगवान् महावीर के दृढ़ भक्त थे। इनका पुत्र अंगदेश का शासक कुणिक अजातशत्रु भी प्रारंभ मे आपका भक्त था, परन्तु पश्चात् मे बौद्ध-संघ के एक नेता देवदत्त के बहकाने से वह बौद्धमती होगया था। श्रेणिक बिम्बसार जैन-धर्मानुयायी होने के पहिले बौद्ध-मतानुयायी थे। पश्चात् अपने अंत समय तक वह जैनधर्म के दृढ़ श्रद्धानी रहे थे। कौशल के राजा प्रसेनजीत (Pasenadi) और उनकी

रानी मल्लिका भी भगवान् के भक्त थे यह स्वयं बौद्ध-ग्रंथों से प्रकट है।* तथापि श्वेताम्बराम्नाय के कल्पसूत्र मे कथन है कि 'महावीर भगवान् के निर्वाणगमन के हर्षोपलक्ष में कौशल और काशी के १८ राजाओ ने और ६ मल्लक व ६ लिच्छवियों ने दीपमालिकोत्सव मनाया था।' इससे प्रगट है कि यहाँ भी जैन-धर्म की गति थी। कलिंग-देश के यादव-वंशी नृपति जितशत्रु भगवान् महावीर के फूफा थे और वहाँ भी जैनधर्म का प्रचार था। वैशाली के राजा चेटक भी भगवान् के भक्त थे। दशार्ण देश के कच्छपुर के स्वामी सूर्यवंशी राजा दशरथ और कच्छदेश के रोरुकपुर के राजा महातुर भगवान् के निकट सम्बन्धी थे। इनके भी यहाँ भगवान् के धर्म की गति थी।

---

*मि० लॉ अपनी पुस्तक The Life and work of Buddhagosha के पृष्ठ ११४ पर लिखते हैं—"The Papancasudani names .. .... . Pasenadi was the ruler of Kosala at the time Buddha preached his religion. *Pasenadi was envious of the Buddha* At first he sided with the heretics against the Buddha . .Even after Pasenadi's initiation, he did not disregard other Sadhus and hermits, *e g* the Tatilas, *Niganthas*, the Achelkas *etc*, इससे प्रकट है कि उसे भगवान् के संघ से भी प्रेम था। उसकी रानी मल्लिका ने एक सभागृह बनवाया था जो The Hall कहलाता था। इसमें ब्राह्मण, निगन्थ ( जैनी ) अचेलक आदि धर्म-प्रचारक सम्मिलित हो सैद्धान्तिक विवेचना किया करते थे। (Ibid p. 109)

लोकतंत्रराज्यों मे विदेह और लिच्छवियो मे जैनधर्म का उत्कट प्रचार था:*। वत्स और कोलीय जातियों के राजा भी भगवान् के भक्त थे। मोरीय अथवा मौर्य-जाति के विख्यात राजा चन्द्रगुप्त मौर्य्य पश्चात् मे जैनधर्म के परम अनुयायी थे, यह प्रकट है। शेष में शाक्यों के यहाँ भी बुद्धदेव के प्रारंभिक समय में जैनधर्म का प्रचार था ऐसा प्रकट होता है। तिब्बत-भाषा के बौद्धग्रंथ ललित विस्तार मे लिखा है कि "जब गौतमबुद्ध शिशु था तब अपने सिर मे ऐसे चिह्नवाले लक्षण पहिनता था:—श्रीवत्स, स्वस्तिका, नंद्यावर्त और वर्द्धमान।" † इन चिह्नो मे पहिले तीन तो सीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ तथा अर्हनाथ तीर्थङ्करो के चिह्न हैं तथा चौथा श्री महावीर स्वामी का नाम है। अस्तु इससे प्रकट है कि शाक्य घराने मे जैनधर्म की मान्यता थी। तिस पर जैनशास्त्रों का कथन है कि म० बुद्ध ‡ ने पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थकाल

---

* See The Kshatriya clans in Buddhist India, p. 82.

† See Jainism. The Early Faith of Asoka.

‡ जो लोग म० बुद्ध और भ० महावीर को एक व्यक्ति समझ कर जैनधर्म और बौद्धधर्म को एक ही धर्म अथवा जैन-धर्म को उससे निकला हुआ समझते है वह ग़लती करते है। हम पहिले ही जैनधर्म के संस्थापक श्रीऋषभदेव का उल्लेख वेदो मे होना बतला चुके है। इससे प्रमाणित है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से निकलने के स्थान पर ऋग्वेद से भी प्राचीन है। दूसरे म० बुद्ध और भ० महावीर की जीवन-घटनायें तथा धर्म-सिद्धान्त इस व्याख्या को निर्मूल सिद्ध कर देते है, जैसे भ० महावीर का जन्म वैशाली के निकट कुंडग्राम में हुआ था जब कि बुद्ध

के पिहिताश्रव नामक मुनि से दीक्षा ली थी। पश्चात् वह परीषह न सह सकने के कारण भ्रष्ट हो गये और अपने 'मध्य-

---

का कपिलवस्तु में, बुद्ध के जन्मते ही उनकी माता मर गई, भ० महावीर की माता उनके दीक्षा-समय तक जीवित रहीं; बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यवंशी थे, भ० महावीर के पिता सिद्धार्थ नाथवंशी थे, भ० महावीर आठ वर्ष की अवस्था से ही श्रावक के व्रत पालते थे, बुद्ध ३० वर्ष तक धर्म से अनभिज्ञ रहे।

बुद्ध ने २९ वर्ष की अवस्था मे गृहत्याग कर राजगृह की ओर प्रस्थान किया था; भगवान् महावीर ने क़रीब ३० वर्ष की आयु में दिगम्बर मुनि हो सर्व प्रथम कूलनगर में प्रवेश किया था, उपरान्त भगवान् ने १२ वर्ष का दुर्द्धर तपश्चरण किया था तथा उन्हें ४२ वर्ष की अवस्था में सर्वज्ञावस्था प्राप्त हुई थी; बुद्ध ने गृहत्याग कर किसी एक मत का अनुसरण नहीं किया था—वह जैन मुनि भी रहा था—परन्तु अंत में तपश्चरण की कठिनता से घबडा कर उसने अपने मध्यमार्ग को ढूँढ़ निकाला था, जिसका प्रचार वह क़रीब ३६ वर्ष की अवस्था से करने लगा था। वह अपने को अरहंत कहते हुए भी साधारण मनुष्य की भाँति भोजन पान करता था और शङ्काओ से भी परे नहीं था तथापि उसे मृत-मांस के खाने का भी त्याग नहीं था। वह अपनी अर्हंता-वस्था में पुनः एक वार अपने मातापिता और पत्नी-पुत्र को दर्शन देने अपने घर आया था, तथा मध्यमार्ग का उपदेश जब उसने अपने पहिले के पाँच शिष्यों को दिया था तब उनसे अपने आपको "तथागत" कहने का आदेश किया था। ( देखो महावग्ग, प्रथम भाग VI. 10 ) परन्तु महावीरजी जब सर्वज्ञ-अरहंत हो गये तब उनकी सत्ता में वह कर्मवर्गणायें नष्ट हो गईं जिनसे उनको किसी प्रकार की वेदना सहन करनी पडती और वह कवलाहार करते तथापि उनकी सर्वज्ञावस्था स्वयं सर्वत्र प्रकट हो गई। उधर जब बुद्ध की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था

मार्ग का प्रचार करने लगे। जैनमुनि होना स्वयं बुद्धदेव ने भी स्वीकार किया है: क्योंकि वह एक स्थान पर कहते हैं कि

---

में हुई तब भगवान् महावीर को मोक्षलाभ क़रीब ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ। इस प्रकार दोनों महान् पुरुषों की जीवन-घटनाओं में बिल्कुल अन्तर दिखलाई पड़ता है। तिसपर बौद्ध-ग्रन्थों में भगवान् महावीर का उल्लेख एक से अधिक स्थान पर आया है; जिससे उनका बुद्धदेव से अलग व्यक्ति होना प्रमाणित होता है। उधर यदि हम दोनो महानुभावों के धर्मोपदेश पर ध्यान दें तो भी दोनों का पृथक्त्व प्रमाणित होता है। म० बुद्ध ने तो स्वयं एक नवीन मत की स्थापना की थी परन्तु भ०महावीर ने परम्परा से चालित जैनधर्म का उद्धार-मात्र किया था। उनके धर्मोपदेश का दिग्दर्शन पाठकों को इस पुस्तक में अगाड़ी हो जायगा। उससे यदि म० बुद्ध के धर्मोपदेश से मुकाबिला किया जाय तो ज़मीन आसमान की विभिन्नता प्रकट हो। भ० महावीर के और म० बुद्ध के उपदेशों में सबसे बड़ा अन्तर तो यही है कि जब बौद्धधर्म में "आत्मा" के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है तब जैनधर्म में आत्मा मानी गई है। म० बुद्ध ने साफ़ शब्दों में निम्न बातों का उत्तर देना अस्वीकार किया था अर्थात्:—

(१) क्या जगत् अनादि निधन है ? (२) अथवा वह अनादि निधन नहीं है ?

(३) क्या वह अनन्त है ? (४) अथवा अनन्त नहीं है ?

(५) क्या आत्मा वही है जो शरीर है ? (६) अथवा आत्मा भिन्न पदार्थ है और शरीर भिन्न पदार्थ ?

(७) जिसने सत्य को पा लिया है वह मृत्यु के उपरान्त भी क्या जीवित रहेगा ?

(८) अथवा वह मृत्यु के उपरान्त नहीं रहेगा ?

(९) क्या वह रहेगा भी और नहीं रहेगा भी ?

"मैं बालों और डाढ़ी को उखाड़नेवाला भी था और शिर एवं मुख के बाल नोचने की परीषह भी सहन कर चुका हूँ।"

---

(१०) अथवा न वह जीवित रहेगा और न नहीं जीवित रहेगा भी ? See The Dialogues of Buddha—Potthapada Sutta—P 254 )

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उसने आत्मा, जगत् और निर्वाण के विषय में अपना कुछ भी मत प्रकट नहीं किया है। परन्तु यह निश्चित है कि उसने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। बौद्ध-धर्म के माननीय विद्वान् ह्रीस डेविड्स साफ़ तौर से लिखते हैं कि.—Now the central position of the Buddhist alternative to those previous views of life was this—that Gotama not only ignored the whole of the soul theory but even held all discussion as to the ultimate soul problems . . . .as not only childish and useless, but as actually inimical to the only ideal worth striving after—the ideal of a perfect life, here and now, in this present world, in Arahatship" (See The Buddhism: its History and Liter· P 39)

भावार्थ रूप में यह प्रकट है कि बुद्धदेव के निकट आत्मा का सिद्धान्त केवल उपेक्षणीय ही नहीं था प्रत्युत वह समझता था कि यह मेरे माने हुए जीवनोद्देश्य "अर्हंतावस्था" में भी बाधक है। अतएव बौद्धधर्म और जैनधर्म का सबसे बडा सैद्धान्तिक अन्तर दृष्टिगत है। अब ज़रा उनके जीवनोद्देश्य 'अर्हंतावस्था' को ले लीजिए ! शब्द के नाम से हमारे बहुत से भाई उसका अर्थ सशरीरी परमात्मा ही समझ लेंगे, परन्तु बुद्धदेव के निकट उसके वह भाव नहीं है। जिस प्रकार जैनधर्म से लिए

(See Saunder's Gotama Buddha, p 15) यहाँ पर संकेत जैनमुनि की केशलुंचन क्रिया की ओर है। इसके अति-

---

हुए शब्द "आश्रव" आदि का निरूपण म० बुद्ध न शब्दार्थ भाव में नहीं किया है वैसे ही इसमें समझना चाहिए। जैन-कर्म-सिद्धान्त मे व्यवहृत शब्दों को बौद्धों ने जैनियों से लिया है इस बात को डा० जैकोबी ने सप्रमाण सिद्ध किया है। (See the Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. VII. Pp. 472 ) हाँ तो बौद्धो के निकट अर्हंतावस्था एक विभिन्न पदार्थ है। उनका विश्वास है कि जगत् मे कोई भी वस्तु नित्यात्मक नहीं है और न कोई स्वतन्त्र व्यक्ति है। केवल अवस्थाये है। There is no being,—there is only a becoming. इन अवस्थाओ में दुःखों का कारण उस अवस्था को नष्ट होने में रुकावट डालने से है। मि० ह्रीसडेविड्स यही कहते है—" The unity of forces which consitutes essential Being must sooner or later be dissolved , and it is to this effort to delay that dissolution that all sorrow and all pain are due " (See The Budhism, its History and Lit P. 124.) बस बौद्ध कहते है कि "यह मैं हूँ और यह मेरा है" इसको भूल कर तृष्णा को घटाते हुए बुद्ध-धर्म और संघ की शरण आने से 'अर्हंतावस्था' प्राप्त होती है। अर्हंतावस्था इसी जन्म में प्राप्त होगी। भविष्य के लिए आशा भरोसा करना निरर्थक है। वर्तमान के व्यक्ति के शुभ कर्मों का एक दूसरा ही व्यक्ति अगाड़ी उत्पन्न होता है और मौजूदा व्यक्ति नष्ट हो जाता है। कर्म में यह एक 'उपादान' शक्ति उन्होने मानी है जो वर्तमान के व्यक्ति के किये हुए कर्मों को आगामी एक नवीन व्यक्ति में परिणति करती है। अर्हंतावस्था में व्यक्ति, कहते है, इस उपादान शक्ति को नष्ट कर देता है, जिससे उसके कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। बस यही अर्हंतावस्था और उसका

रिक्त बौद्धग्रन्थ 'महावग्ग' मे लिखा है कि बुद्ध ने अपने पहिल के २४ बुद्धों ( जिनों ) को देखा था । डॉ० स्टीवेन्सन साहब

---

निर्वाण है । शून्यता में गर्त होना ही इसका पाठ है । ह्रीसडेविड्स महोदय भी इसी की पुष्टि करते है । वह लिखते हैं.—"The victory to be gained by the destruction of ignorance (of Individuality) is in Gotama's view, a victory which can be gained and enjoyed in this life and in this life only. This is what is meant by the Buddhist ideal of Arhataship—the life of a man made perfect by insight, the life of a man who has travelled along the "Noble-eight-fold path" and broken all the "fetters", and carried out in its entirety, the Buddhist system of self-culture and self-control.' (Ibid P. 163.)

यह जैनियों की अर्हतावस्था से कितनी विलक्षण है यह साफ़ प्रकट है । तिस पर उनका निर्वाण भी कोई नित्यात्मक वस्तु नहीं है । नष्टता ही उनका ध्येय है । इसलिए उनके यहाँ कोई निर्वाणस्थान भी नहीं माना गया है । (See the Question of King Milinda, Vol. II pp. 202-204 जब कि जैनसिद्धान्त में एक ख़ास निर्वाणस्थान माना गया है । इस विवरण से जैनियों के और बौद्धों के कर्म-सिद्धान्त में भी अन्तर पड़ जाता है । वहाँ कर्म-सिद्धान्त एक स्वतंत्र नियम (Unsubstantial Law) बन जाता है जब कि जैनियों के निकट वह एक ससारी आत्मा के बंध का कारण है । इस प्रकार सैद्धान्तिक अन्तर भी हम दोनों धर्मों में विशेष पाते हैं । बौद्धों के यहाँ जीवत्व केवल मनुष्य, तिर्यञ्च और वृक्षों में माना गया है

इनको जैन तीर्थङ्कर वतलाते है। अतएव इससे प्रकट है कि शाक्य-घराने मे भी जैनधर्म का प्रचार था। यूनान-देशवासी

---

तब जैनी उनके साथ साथ जल, अग्नि और पृथ्वी में भी मानते हैं। यही कारण हैं कि दोनों के आचार-नियमों मे भी अंतर पड़ गया है। जैन-अहिंसा और बौद्ध-अहिंसा में बड़ा भारी अन्तर है। जैन-दृष्टि में वह हिंसा ही है। मृत पशुओं का मांस खाना उसमें जायज़ है। यही कारण है कि आज के बौद्ध मांसभक्षी हो गये है। उनके और जैनियों के संघ मे भी अन्तर है। बौद्धसंघ मे केवल भिक्षु-भिक्षुणी रहते थे परन्तु जैनियों के सघ मे श्रावक-श्राविका भी सम्मिलित थे। तिस पर बौद्धों के साधुओ को कपडे पहिनने, एक से अधिक बार भोजन करने, मांस खाने आदि की रियायत है, परन्तु जैन-साधुओं में यह बातें नहीं है। वह एक बार भोजन-मात्र शरीर-रक्षा-हेतु करेगा तथा नग्न रह समताभाव से परीषह सहन कर आत्म-ध्यान में लीन रहेगा। जैन-मुनियों का नग्नवेश होना तो स्वयं बौद्धग्रंथों से प्रमाणित है। ईसा से पूर्व की छठी शताब्दी में प्रचलित बौद्ध कथाओं की पुस्तक जातकमाला में "घडे की कथा में" (The story of jar) उल्लेख है कि—"Even the bashful loose shame by drinking it and will have done with the trouble and restraint of dress; *unclothed like Nirgranthas* (Jains) they will walk boldly on the highways, etc." (See The Garland of Birth Stories by Arya Sura, translated by J. S. Speyer. S. B. B., Vol. I., P. 145.) इससे प्रकट है कि निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन-मुनि नग्न रहते थे। अनुवादक महोदय ने भी फुटनोट मे यही लिखा है कि The Nirgranthas are a class of monks especially Jain monks, who wander

जो कालान्तर मे सीमाप्रान्त पर वस गये थे वह भी भगवान्
के धर्म के परमभक्त हुए थे । मि० विमलचरण लॉ० एम० ए०

---

about naked अतएव इन बातों से सिद्ध है कि म० बुद्ध और भगवान् महावीर एक व्यक्ति नहीं थे और न उनके धर्म ही एक थे। प्रत्युत खोज करने से यह प्रमाणित होता है कि जैनमुनि अवस्था से भ्रष्ट होकर ही म० बुद्ध ने अपने धर्म की नींव डाली थी जो कोई सैद्धान्तिक धर्म न होकर प्रारंभ में एक सुधारमात्र था। वह हिन्दू-धर्म के क्रिया-काण्ड और जैनियों के कठिन तपश्चरण के मध्य एक राज़ीनामा था।

अब जब कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पृथक् है तब क्या यह संभवित है कि वह हिन्दू-धर्म की शाखा हो ? इसके उत्तर में हम प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी के निम्न शब्द ही पेश करेंगे कि:—

"Whether I still thought Jainism an offshoot of Hinduism, for it was believed that I had given expression to that opinion in the introduction of Jain Sutras in the Sacred Books of the East Now I have never been of the opinion that Jainism is derived from Hinduism or Brahmanism. I believe that Jainism is in the main an independent religious system, but as the Jains always lived amongst the Hindus, they most probably exchanged ideas with them and adopted some of theirs." See The Jain Svetambara Conference Herald Vol. X. PP. 252—253 )

भावार्थ कि जैनधर्म हिन्दू-धर्म की शाखा नहीं है यद्यपि यह संभव है कि साथ साथ रहने के कारण जैनधर्म पर हिन्दु-धर्म का प्रभाव पड़ा हो। इस प्रकार जैन-धर्म को हम एक स्वतंत्र धर्म पाते हैं।

अपनी पुस्तक The Historical Gleanings के पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं कि "क़रीव ईसा से पहिले की दूसरी शताब्दी मे जब यूनानी लोगों ने अधिकांश पश्चिमीय भारत पर आधिपत्य जमा लिया था तव जैनधर्म का प्रचार उनके मध्य हो गया था। और इस धर्म के नायक की मान्यता भी उनके मध्य अधिक थी; जैसे कि बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपह्नो' के एक कथानक से विदित है। उस कथानक मे कहा गया है कि ५०० योद्धाओ (यूनानियों) ने राजा मिलिन्द (मेनेन्डर) से निग्गन्थनातपुत्त (महावीर) के पास चलने को कहा और अपने मन्तव्यों को उनके निकट प्रकट करने के लिए एवं अपनी शङ्काओं को निर्वृत्त करने को भी कहा।" इससे यह भी प्रकट है कि राजा मिलिन्द भी संभवतः भगवान् महावीर के भक्त थे। इस अनुमान की पुष्टि उसी बौद्धग्रन्थ के इस वर्णन से भी होती है कि नागसेन के गुरु ने अपने शिष्य के मन के नीच भाव को जान लिया और नागसेन को उसके लिए दुतकारा। नागसेन के क्षमा-प्रार्थना करने पर गुरु ने कहा:—"I will not forgive you until you go and defeat King Milinda, who troubles the monks by asking questions from the heretic's point of view" अर्थात् जब तक तुम राजा मिलिन्द को परास्त नहीं कर दोगे, जो एक मिथ्यात्वी की भाँति भिक्षुओं से प्रश्न करता है, तब तक मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा। अतएव कहना होगा कि राजा मिलिन्द भी किसी समय अवश्य जैनधर्म का श्रद्धानी रहा था। जो हो इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् महावीर के

* See The life and work of Buddhaghosha p. 37.

वैज्ञानिक धर्म का प्रचार सर्व मे सर्व ओर हो गया था। और उनके पश्चात् वही विदेशों में भी व्याप्त हो गया था। परन्तु दुःख है कि आज वह गौरवगरिमा सब लुप्त हो गई है।

इस प्राचीन गौरव का दिग्दर्शन करने के साथ ही हमे भगवान् के दिव्योपदेश की यथार्थता और विशेषता भी स्वीकृत करनी पड़ती है जैसे कि भगवान् समन्तभद्राचार्य ने उक्त श्लोक मे प्रकट की है; क्योंकि यदि उसमें यथार्थता और विशेषता न होती तो यथार्थ सत्य के लिए लालायित जनता क्योंकर उनकी प्रतिभा को स्वीकार कर कृतज्ञ-हृदय होती? इस व्याख्या की पुष्टि मे हम म० बुद्ध के वचनो की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिनके द्वारा उन्होंने भगवान् महावीर की सर्वज्ञता और उनके मत की यथार्थता के प्रति सद्भाव प्रकट किये हैं। यह वचन बौद्धग्रन्थ 'मज्झिमनिकाय' मे अङ्कित है। (See The Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol II p. 70.) तिस पर म० बुद्ध पर ही भगवान् के दिव्य जीवन का प्रभाव नहीं पड़ा; प्रत्युत जो पाखंड पन्थ उस समय प्रचलित हो गये थे, वह सब लुप्त हो गये अथवा अपनी प्रधानता को खो बैठे। जैसे कि आजीवक सम्प्रदाय के उदाहरण से व्यक्त है। जिस समय भगवान् महावीर का उपदेश हुआ उस समय अधिकांश आजीवकगण उनके संघ मे सम्मिलित हो गये। (See The Ajıvakas, Pt I, by Dr B M. Barua). और उनके संस्थापक मक्खाली गोशाल का प्रभाव इतना हीन पड़ा कि वह स्वयं एक 'पागल की भाँति मृत्यु को प्राप्त हुआ'।

दिव्योपदेश का अन्य धर्मों पर प्रभाव।

( See The Heart of Jainism. p. 60 ) बौद्ध-संघ मे भी इस उपदेश से हलचल मच गई और उनमे से कितनेक भिक्षु तपश्चरण की अधिकता, मांसभक्षण के त्याग आदि की आवश्यकता पर ज़ोर देने लगे। वस्तुतः भगवान् के दिव्योपदेश से चहुँ ओर ज्ञान का प्रकाश हुआ और सर्वप्रकार के जीव उनके संघ मे सम्मिलित हो आत्मकल्याण करने लगे। अतएव हम उस समय के धार्मिक संसार की बाह्य घटनाओ से भगवान् महावीर के दिव्योपदेश की यथार्थता और विशेषता के दर्शन करते है। जिसके विषय मे कविसम्राट् डॉ० रवीन्द्रनाथ टागोर कहते है कि "आश्चर्य्य का विषय है कि ( भगवान् महावीर की ) इस शिक्षा ने मनुष्य मनुष्य के भेद को दूर हटा दिया और समग्र देश को अपने वश कर लिया।"

अतएव इस सर्व विवरण से हमको भगवान् महावीर के उपदेश की विशेषता दृष्टिगत हो जाती है। और इस बात का पूर्ण विश्वास हृदय मे स्थान पा लेता है कि वस्तुतः भगवान् महावीर का दिव्योपदेश महत् सत्य ही होगा कि जिसके विषय मे उनके काल की प्राचीन जनता ही नहीं बल्कि आधुनिक विद्वान् भी चमकते हुए शब्दों में कृतज्ञता स्वीकार करते है। साथ ही यह वर्णन हमारे हृदय मे यह उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है कि वस्तुतः वह उपदेश क्या था ? इसलिए हम उसका यहाँ पर अवश्य ही साधारण दिग्दर्शन करेंगे।

भगवान् महावीर ने अपनी सर्वज्ञावस्था मे जो उपदेश हमे दिया था, वह उन्हीं के शब्दों में आज अवश्य ही हमको प्राप्त नहीं हैं परन्तु तो भी हम अपने पूर्वाचार्य्यों के अतीव

आभारी हैं कि उन्होंने अपनी महोघ स्मृति-द्वारा उसकी इस खूबी से रक्षा की कि वह आज भी हमको प्राप्त है, यद्यपि समग्र रूप में नहीं। यह उपलब्ध उपदेश आज अतुल जैन-साहित्य-ग्रन्थों में ओतप्रोत भरा हुआ है। अतएव इस छोटे से निबन्ध मे उसका दिग्दर्शन कराना अतीव दुस्साध्य ही कहा जायगा। तौ भी उस ओर प्रयत्नशील हो हम उसका किञ्चित् भान अवश्य ही प्राप्त करेंगे।

भगवान का दिव्योपदेश।

यह तो हम देख ही चुके कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ परमात्मा थे। इसलिए उनका उपदेश अवश्य ही 'ईश्वरीय वाणी' था, यह मानना पड़ेगा। किसी ईश्वरीय वाणी के सम्बन्ध में कहा गया है कि:—

"(१) वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा उत्पन्न होती है।

(२) वह तर्क-वितर्क में किसी प्रकार खण्डन नहीं की जा सकती अर्थात् न्याय उसका विरोध नहीं कर सकता॥

(३) वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (साक्षी) से सिद्ध होती है।

(४) वह सर्वजीवों की हितकारी होती है, अर्थात् वह किसी प्रकार भी किसी प्राणी के दुःख वा कष्ट का कारण नहीं हो सकती। जानवरों को भी दुःख और कष्टकारक नहीं हो सकती।

(५) वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सूचक है। और—

(६) उसमें धार्मिक विषय की भूल और भ्रम को दूर करने की योग्यता होती है।' ('रत्नकरण्डश्रावकाचार'—देखो "सनातन जैनधर्म" पृष्ठ ३३)

अतएव भगवान् महावीर का उपदेश अवश्य ही 'ईश्वरीय वाणी' था, क्योंकि वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर थे। जब उसकी उत्पत्ति ही उचित है तो उसके शेष लक्षण भी उक्त प्रकार अवश्य होना चाहिए। इसलिए हम उसके साधारण दिग्दर्शन-द्वारा उसमें उपर्युक्त लक्षणों को भी देखने का प्रयत्न करेंगे।

भगवान् महावीर का उपदेश वैसे तो सर्वाङ्गपूर्ण था ही; परन्तु यहाँ हम उसको सैद्धान्तिक एवं लौकिक दोनों दृष्टियों से देखेंगे। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम देखेंगे कि वह किस प्रकार आत्मा सम्बन्धी सर्व-शङ्काओं को दूर कर देता है और जगत् की समस्या को किस प्रकार कार्य-कारण-सिद्धान्त पर हल करता है।

भगवान् ने बतलाया था कि यह जगत् जिसमे कि हम रहते हैं और वह भी जो हमारे अनुभव और दृष्टि से परे है,

जगत् क्या है ?

अनादि निधन है। वह इसी रूप में अनादि से था और ऐसा ही हमेशा रहेगा: यद्यपि यह अवश्य है कि उसकी अवस्थाओं और दशाओं का परिवर्तन सदैव हुआ करता है। वर्तमान विज्ञान (Science) भी आज भगवान् के उपदेश के समान ही किसी जगत्कर्त्ता के अस्तित्व को नहीं मानता है। और उसका विश्वास उसी अनुरूप मे है कि 'यदि प्रकृति किसी ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न कर सकती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह एक सर्व वस्तुओं से परिपूर्ण एवं विकास-शक्ति से भरपूर जगत् को उत्पन्न कर सके। यदि किसी कर्ता के अस्तित्व को माना जावे तो उस माने हुए कर्ता का भी कोई कर्त्ता होना चाहिए और फिर उस कर्त्ता के कर्त्ता का भी कोई कर्त्ता होना

चाहिए, इत्यादि। ( यह बुद्धि के प्रतिकूल है। ) साधारणतया इसका यही अर्थ है कि जब एक अकृत्रिम कर्त्ता की सत्ता मानी जा सकती है तब एक स्वयं परिपूर्ण एवं स्वयं सत्तात्मक जगत् को अकृत्रिम मानने मे किसी प्रकार न्याय के नियमों का खंडन नही हो सकता है।'* इस प्रकार यथार्थरूप मे हम भगवान् महावीर के बताये अनुसार जगत् को अनादिनिधन अकृत्रिम पाते हैं। अब हमे देखना है कि इस जगत् मे है क्या ? इसका कार्य किस शक्ति के आधार पर चल रहा है ? क्या इसमे दुःख के स्थान के अतिरिक्त कही परमसुखपूर्ण स्थान भी है ?

भगवान् महावीर ने बतलाया था कि यह जगत् छः द्रव्यों से भरपूर है। उन ही की अवस्थायें इसमे सदैव हुआ करती हैं। और इसमे दुःख से परे एक परमसुखपूर्ण स्थान है। यह इस जगत् के शिखर पर विद्यमान है। यह छः द्रव्य इस प्रकार हैः—

छः द्रव्य और उनका स्वरूप।

(१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश (६) और काल। जीव वह पदार्थ है जो प्रत्येक जीवित प्राणी मे "मैं" के रूप मे विद्यमान है। यह जानता और देखता और अनुभव करता है। पुद्गल वह वस्तु है जो इसके विपरीत है अर्थात् ज्ञान और चेतनाहीन है। "मृतक शरीर है।" अतएव इस प्रकार प्रत्येक जीवित पदार्थ दो पदार्थों कर संयुक्त है— जीव और पुद्गल। यह जीव और पुद्गल का

---

*देखो जैन-कर्म्म-सिद्धान्त पृष्ठ ५-६।

संबंध अनादि से है। और यह दोनों ही अनादि और अनन्त हैं। इन दोनों के संयुक्त रूप अवश्य बदलते रहते हैं, परन्तु इनकी यह संयुक्तावस्था वैसी ही बनी रहती है। यह संयुक्तावस्था वैसी ही है जैसी आक्सीज़न और हाइड्रोजन गैसेस की संयुक्तावस्था अर्थात् पानी। जिसमे गैसेज़ के गैसरूप लक्षण का नाश नहीं हो जाता, यद्यपि वह अदृश्य अवश्य हो जाता है। जीव के निजी स्वभाव वा लक्षण निम्न-प्रकार समझना चाहिए जो यद्यपि इस संयुक्तावस्था मे अदृष्ट हैं परन्तु वह उसके अस्तित्व मे अवश्य विद्यमान हैः—(१) अनन्त दर्शन (२) अनन्त ज्ञान (३) अनन्त वीर्य्य (४) और अनन्त सुख। यही आत्मा के निज स्वभाव हैं। पुद्गल से उसका सम्बन्ध है इस कारण वह उसकी वर्तमान अवस्था मे ओझल हैं। यह पुद्गल से मेल अनादिकाल से है। इस मेल के रूप मे यह जीव संसार मे घूमता है और उसके रूप अवश्य बदलते रहते है। इनके प्रारम्भ के लिए अनन्त (Infinity) में चले जाइए। जिस प्रकार एक समुद्र का यात्री समुद्र-रेखा (Horizon) पर कभी नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार इस काल और आकाश का पार पाना असाध्य है, जिसमे कि जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हुआ है। काल भी अनन्त है और आकाश भी जो जीवात्मा को स्थान देता है। जिस प्रकार जिस स्थान पर जब जहाज़ होगा वहाँ पर समुद्र-रेखा भी होगी, उस तक वह पहुंच नहीं पायगा, उसी तरह इस प्रारंभ के लिए कोई भी काल और कोई भी स्थान हम ले लें परन्तु उसके पहिले भी वही बात मौजूद मिलेगी। और यह भी समझने की बात है कि बिना पुद्गल और जीव

के मेल के संसार का कार्य चल नहीं सकता। अकेले जीव और पुद्गलाणु इस संसार में भरे रहें तो भी उसमें हलन चलन नहीं हो सकती। यह दोनों पदार्थों की संयुक्तावस्था का ही कार्य है कि संसार में जीवित प्राणी चल रहे हैं अर्थात् उत्पन्न होते—रहते—और मरते हैं। इस हलन-चलन में जो वस्तु ठहरने वा विश्राम लेने में सहायक है वही अधर्म द्रव्य है। यह द्रव्य जीवात्मा को अपने संसार-परिभ्रमण में यात्री और वृक्ष की छायावत् सहायक है। कहते हैं कि यह द्रव्य अँग्रेज फिलासफर Newton की Theory of Gravitation के सदृश कुछ कुछ है। अब यदि संसार में वा जगत् मे अधर्म द्रव्य ही होती तो जीवात्मा की हलन-चलन की क्रिया रुक जाती, वह अधर्म द्रव्य मे आश्रय पा बैठ जाती। इसी लिए "धर्म" द्रव्य आवश्यक है। वह जीवात्मा के स्वयं हलन-चलन में सहायक है, जिस प्रकार कि मछली को चलने में जल सहायता करता है। धर्म अधर्म पुद्गल की गति और स्थिति में भी सहायक है। इसके बाद दो पदार्थ वह हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर भी कर चुके हैं। अर्थात् आकाश और काल। आकाश अनन्त हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं। आकाश अन्य द्रव्यों को स्थान देता है। और काल अकारण रूप में परिवर्तन उत्पन्न करने मे सहायक है। इस तरह षट् द्रव्यों का स्वरूप है, जिनसे कि यह जगत् बना है। इस प्रकार भगवान् महावीर के उपदेश से कार्य-कारण के वैज्ञानिकरूप में वह समस्या सहज मे हल हो जाती है जिसको लोग एक 'गोरखधन्धा' ही समझे बैठे हैं। सारांशतः यह गोरखधन्धे का पेच इस तरह हल होता है कि जगत्

अनादिनिधन है। इसमें छः द्रव्य हैं। अनन्त जीव हैं। और अनन्त पुद्गल। यह दोनों मिले हुए हैं। इस कारण संसार में हलन-चलन हो रही है अर्थात् जीवात्मा का संसार-परिभ्रमण हो रहा है। यह परिभ्रमण क्रम कर नियमित रहे इसलिए विश्राम के अर्थ अधर्म द्रव्य और चलने के अर्थ धर्म द्रव्य सहायक रूप मे है। इन सब द्रव्यों को स्थान देने के लिए आकाश द्रव्य और परिभ्रमण मे रूपान्तर उपस्थित करने के लिए काल द्रव्य विद्यमान हैं। इस प्रकार स्वयं सिद्ध अनादिनिधन यह जगत् है। प्रत्येक जीवात्मा उपर्युक्त द्रव्यों के साथ' स्वयं जगत् बना रहा है।

**क्या जैन-धर्म नास्तिक है ?**

संभव है कि इस पर से कहा जाय कि इस रूप में भगवान् महावीर ने नास्तिक धर्म का प्रतिपादन किया था; परन्तु यह शङ्का केवल भ्रम ही समझना चाहिए, क्योंकि कहा गया है कि जो आवागमन के सिद्धान्त को और आत्मा को स्वीकार न करे वही नास्तिक है। भगवान् महावीर ने इन बातों को स्वीकार किया है। तिस पर इस विषय मे एक विद्वान् के निम्न विचार पठनीय हैं अर्थात्:—

"इस सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जैनसिद्धान्त और वैदिक दर्शनों मे एक ही साधारण नियम पाया जाता है। यदि संस्कृत के विद्वान् न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य और योगदर्शनों में देखने का प्रयत्न करें तो वह अवश्य ही इस बात को पालें कि किसी भी भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टिकर्तृत्व का सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता है अर्थात् किसी भी भारतीय दर्शन ने

जगत् का कोई कर्त्ता स्वीकार नहीं किया है। यदि इसी कर्तृत्व-वाद के न मानने के कारण जैनधर्म नास्तिक बतलाया जावे तो उसी रूप में यही विशेषण प्रत्येक भारतीय दर्शन के साथ लगाना पड़ेगा। (दूसरे शब्दो मे प्रत्येक भारतीय धर्म नास्तिक कहा जायगा।) आस्तिक दर्शन के मुख्य विशेषण तीन कहे गये हैं और यह तीनों ही छः हिन्दू-दर्शनों के साथ साथ जैन-सिद्धान्त मे भी स्वीकृत हैं; अर्थात् (१) आत्मा (२) मोक्ष और (३) मोक्ष-मार्ग। जैनधर्म मे एक आस्तिक-धर्म के इन विशेषणों का प्रतिपादन हम उचित वैज्ञानिक रीति मे पाते हैं।"
(See Jain Gazette, Vol. XX P. 117.)

जीव का स्वभाव और उसके दुःखों का कारण।

अतएव भगवान् महावीर के उपदेश से जगत् के अस्तित्व की स्वाधीनता का दिग्दर्शन करके अब हमे देखना चाहिए कि उन्होने आत्मा की दुःखावस्था आदि के सम्बन्ध मे क्या कहा है? जीवात्मा के सम्बन्ध मे विचार करने से हमे भगवान् के उपदेश से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि उनके अनुसार जीवात्मा मुख्यतः दो प्रकार के हैं:—(१) संसारी (२) सिद्ध। संसारी आत्मा वह आत्मा है जो इस जगत् में पुद्गल के साथ वेष्टित हुई परिभ्रमण कर रही है और सिद्धात्मा वह आत्मा है जो इस सम्बन्ध को त्याग चुकी है और अपनी स्वाभाविक अवस्था में कृ. कृत्य कर पूर्ण जगत के शिखर पर विराज-मान है। इस प्रभेद से दूसरी बात यह मालूम हुई कि जगत में रुलती हुई आत्मा अवश्य ही पुद्गल के सम्बन्ध को त्याग सकती है और अपने असली स्वभाव को पा सकती है।

भगवान् ने यही बतलाया है कि जीवात्मा जब अपने संसारी सम्बन्ध छोड़ देता है तब वह निज स्वभावरूप परम ज्ञानी और सुखी और चराचरदर्शी हो जाता है । जीवात्मा स्वभाव से ही सुखमय और ज्ञानरूप है, जैसे कि भगवान् ने बतलाया है, उसकी सिद्धि ज़रा विचार करने से स्वयं प्रकट हो जाती है । एक आधुनिक फिलासफर के विचार इस ओर पर्याप्त हैं । वह लिखते हैं कि "प्रथम ही 'सुख' पर ज़रा विचार करने से यह विदित हो जायगा कि जीव का स्वभाव ही सुख है । कारण कि सुख एक अवस्था है जो जीव में उसके अंतः-करण के भीतर से ही प्रकट होता है । वास्तव मे इस संसार मे बाहर कहीं भी सुख का स्थान नहीं है । इसलिए यदि हम अपने से बाहर अन्य पदार्थों मे इसकी खोज आज से प्रलय-पर्यन्त करते रहे तो भी हम इस सुख से लाखों कोस दूर ही बने रहेंगे । यह सत्य है कि इन्द्रियों के भोग हमारे बाहर इस संसार मे विद्यमान हैं, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि उनमे से कोई भी स्वयं सुख नहीं है, जो वस्तुतः हमारी चेतना की एक अवस्था है । और यह व्याख्या साफ़ समझ मे आ जायगी, यदि हम ज़रा इस बात पर विचार करें कि वह सुख वा आनन्द का अनुभव जो किसी कठिनाई या परीक्षा के सफलता-पूर्वक अंत होने पर—उदाहरण के तौर पर विश्व-विद्यालय की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर—होता है, कहाँ से आता है ? प्रश्न यह है कि वह आनन्द की लहर जो तार-द्वारा सफलता की सूचना पाने पर हृदय में उठती है, कहाँ से आती है ? क्या वह आनन्द उस तार के कागज़ की अनूठी लम्बाई चौड़ाई या रङ्ग से उत्पन्न होगा, जिस पर सूचना लिखी हुई है ?

नहीं ! क्योंकि वह तार का काग़ज अथवा उसका रंग किसी अन्य आत्मा पर इस प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता है, और न वह काग़ज़ हमको ही आनन्ददायक हो सकता था. यदि उस पर असफलतासूचक सूचना लिखी होती। संभव है यहाँ पर आप कहें कि सुख उसकी भाषा या शब्दों में विद्यमान था ? परन्तु यह विचार भी झूठ साबित होता है, क्योंकि जब तक हमको तार की सत्यता पर विश्वास नहीं होगा तब तक हमको उस अवस्था का अनुभव नहीं होगा जो आनन्द का लक्षण है। तो फिर आनन्द क्या चीज है ? और उसकी उत्पत्ति कहाँ से है ? सूक्ष्म विचार से यह आवश्यक बात विदित हो जाती है कि सुख जीव का एक स्वाभाविक (अलग न होनेवाला) गुण होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और इसलिए वह हमारे अन्दर से ही उत्पन्न होता है। विचार से यह बात भी प्रकट हो जाती है कि जीव के ऊपर से किसी परेशान करने-वाले भार, चिन्ता, कष्ट या बोझ के हटने से ही सुख का भास होता है, और तभी तक होता है जब तक कि अन्य चिन्ता आदि जीव पर अधिकार नहीं जमा लेती। वह वकील जो वकालत के पास करने पर आनन्द का अनुभव करता है, तुरन्त ही एक विपरीत प्रकार के अनुभव को प्राप्त होता है। ज्यों ही वह इस बात की कोशिश करता है कि अपनी सफ-लता से असली लाभ उठावे। इन घटनाओं से जो नियम निकलता है वह यह है कि सुख आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है, जो जैसे जैसे जीव की चेतना इच्छाओं से क्षोभित वा उनसे मुक्त होती है वैसे वैसे अप्रकट वा प्रकट होती रहती है। बस आत्मा केवल सुख का ही पुञ्ज है;

जिसका अनुभव पूर्णतया उसी समय हो सकता है व होता है जब उसकी समस्त इच्छायें नष्ट हो जावें*।"

इसी प्रकार सूक्ष्म विचार आत्मा के अन्य स्वभाव ज्ञान और अमरत्व को भी सिद्ध कर देता है। अतएव वैज्ञानिक विचार स्वातंत्र्य से भी हम भगवान् के बताये हुए गुणों को आत्मा में पाते हैं। अब विचारना है कि संसारी आत्मा में जो पुद्गल का समावेश होता है, वह किस रूप मे होता है, जिससे कि आत्मा का निज रूप छुपा हुआ है और संसारी आत्मा किस तरह सिद्धात्मा होकर परम सुखी हो सकता है, जिस सुख के लिए वह इस संसार मे इस तरह भटक रहा है।

अतएव यह प्रकट है कि पुद्गल का ही प्रभाव है जो जीव के उपर्युक्त गुणों को प्रकट नहीं होने देता, क्योंकि द्रव्यों का संयोग सदैव स्वाभाविक गुणो को सीमित या स्थगित कर देता है। परन्तु वह उनका नाश नहीं कर सकता। ज्योंही वह संयुक्त पदार्थ जुदे जुदे हुए जैसे कि हाइड्रोजन और आक्सीजन गैसेज़ संयुक्तावस्था (पानी) से पृथक् होती हैं, वैसे ही तुरन्त उनके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं।

संसारपरिभ्रमण-कारक शक्तियाँ।

इसी अनुरूप में ही भगवान् ने बतलाया है कि "जीव और पुद्गल का संयोग सदैव अच्छी से अच्छी हालत में भी जीव के लिए दुःख और कष्ट उत्पन्न करता है। और यह संयोग अग्रलिखित आठ प्रकार की शक्तियों को धारनेवाले

* जैनकर्मसिद्धान्त पृष्ठ २-४।

पुद्गलमयी कर्मों का संयोग है जिससे निम्नलिखित आठ प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं:—

(१) ज्ञान की प्रतिरोधक शक्तियाँ (ज्ञानावरणीय कर्म)

(२) दर्शन की प्रतिरोधक शक्तियाँ (दर्शनावरणीय कर्म)

(३) वे शक्तियाँ जो सत्य श्रद्धान की बाधक हैं (मोहनीय कर्म)

(४) वे शक्तियाँ जिनके कारण दुःख और सुख का अनुभव होता है (वेदनीय कर्म)

(५) वे शक्तियाँ जिनके कारण विविध प्रकार के शरीर व शारीरिक अङ्ग बनते हैं (नाम कर्म)

(६) वे शक्तियाँ जिनके कारण जीव की आयु बँधती है (आयु कर्म)

(७) वे शक्तियाँ जिनके कारण गोत्र आदि का उदय होता है (गोत्र कर्म)

(८) वे शक्तियाँ जिनके कारण इच्छित कार्य में विघ्न पड़े और जो साधारण तौर से कारगुज़ारी में बाधक हो (अन्तराय कर्म)

प्रत्यक्षतया ये ही आठ कर्म की प्रकृतियाँ है जिनके कारण जीवों मे एक दूसरे से अन्तर पड़ता है। यद्यपि इन आठ की भी कितनी ही अन्तरशाखायें हैं। इन आठ कर्मशक्तियों में से वह जो ज्ञान, दर्शन, सत्यश्रद्धान और कारगुज़ारी (वीर्य) के घातक हैं घातिया कर्म कहलाते हैं। और शेषकर्म अघातिया (अ = नहीं + घातिया = घातक) कहलाते हैं। क्योंकि वे जीव के स्वाभाविक गुणों में विघ्न नहीं करते हैं, किन्तु वे विविध प्रकार के शरीरों और उनके आश्रित पर्यायों जैसे

आयु इत्यादि के निर्माण करने से सम्बन्ध रखते हैं। जीव के बन्धन मुख्यतः प्रथमोल्लिखित कर्म ही हैं, क्योंकि वे उसके आत्मिक क्षेम कुशल ( विशुद्धता ) के विरोधी हैं। यद्यपि अन्तिमोल्लिखित शक्तियाँ भी निर्वाणप्राप्ति में बाधा डालती हैं तो भी वे पूर्वोल्लिखित के फलस्वरूप ही हैं, और उनके नाश होने पर उचित समय मे स्वयं, उस चिराग की लौ की भाँति जिसमे तेल निवट चुका है, नष्ट हो जाती है। अब यह कर्म कैसे बनते हैं? और वह कैसे नष्ट हो सकते हैं? यह दोनों जीवनसिद्धान्त मे आवश्यक प्रश्न हैं। इन्ही प्रश्नों से तत्त्वों की उत्पत्ति होती है।"*

सात तत्त्व

भगवान् महावीर ने तत्त्व सात बतलाये हैं अर्थात् (१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा और (७) मोक्ष। इन सातो की उत्पत्ति दार्शनिक विचार मे स्वतः हो जाती है। हमे जीव का सम्बन्ध पुद्गल से दूर करना है, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या है? क्या वह पुद्गल के सम्बन्ध से मुक्त हो सकता है? इसलिए जीव प्रथम तत्त्व हुआ, जिसके विषय मे हम पहले ही ज्ञान प्राप्त कर चुके है। अब यह जानना भी आवश्यक है कि वह वस्तु क्या है जिससे जीव पर के दासत्व मे पड़ा हुआ है। यह दूसरा अजीव ( पुद्गल ) तत्त्व हुआ। इसका भी स्वरूप हम ऊपर देख चुके हैं। अब यह जानना भी आवश्यक है कि जीव अजीव तक कैसे पहुँचता है? यह नियम आश्रव कहलाता

---

* जैनकर्मसिद्धान्त पृष्ठ १०-११।

है। यह तीसरा तत्त्व हुआ। जीव तक कर्म पहुँच तो गये परन्तु वह उसमे मर्यादित कैसे हो जाते हैं, इसलिए वन्धतत्त्व आवश्यक हुआ। इस प्रकार तो कर्मों के आने का मार्ग रहा। अव उनके निकालने के लिए पाँचवें और छठे तत्त्व आवश्यक है। संवर नवीन आश्रव को रोकता है और निर्जरा स्थिति मे के कर्मों को नष्ट करता है। अतएव जव सर्व-कर्मशक्तियाँ नष्ट हो गई तो जीव मुक्त हो गया। इसलिए सातवाँ तत्त्व मोक्ष हुआ। इस प्रकार इस कार्य-कारण पर अवलम्वित दार्शनिक विचार में स्वयंसिद्ध तत्त्व प्राप्त होते है। और इस शिक्षा की इस वैज्ञानिक लड़ी मे कोई भी अन्तर नहीं डाला जा सकता, जव तक कि समूची लड़ी को ही नष्ट-भ्रष्ट न कर दिया जावे।

इन सात तत्त्वों में से हम जीव अजीव का दिग्दर्शन ऊपर कर चुके है। अव देखना है कि शेष के तत्त्वों का स्वरूप भगवान् महावीर ने किस प्रकार वतलाया था। उनके अनुसार कार्माण पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा मे आने का नाम आश्रव है। आश्रव के उदयरूप मे आत्मा पुद्गल परमाणुओं को स्वतः ही आकर्पित करने लगता है और इसके विविध कषायों वश ये परमाणु आत्मा से मिल जाते हैं, जिससे आत्मा के निजगुण ढँक जाते हैं। और वंध वँध जाता है। अतएव वंध तत्त्व आत्मा में कर्मवर्गणाओं का आश्रवित होकर कालस्थिति के लिए मिल कर ठहर जाना ही है। इन वंधनों के तोड़ने पर ही आत्मा पूर्ण स्वतंत्र निजरूप हो जाता है। अतएव पहले आश्रव को रोकने के लिए संवर तत्त्व है। संवर-द्वारा हर समय आत्मा में आनेवाली कर्मवर्गणाओं को आने नहीं दिया जाता है। यह

मोक्षप्राप्ति में प्रथम पादुका रूप है। जब अन्य कर्मों का आना रुक गया तब पूर्व संचित कर्मों का निकालना रह जाता है। इसी का नाम निर्जरा तत्त्व है। जब समस्त कर्मबंध तोड़ दिये जाते हैं और जीवात्मा का पुद्गल से किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता। तब आत्मा अपने स्वाभाविक गुण स्वतंत्रता, सुख, केवलज्ञान आदि का अनुभव करता है। यही अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने जगत् और आत्मा के सम्बन्ध मे हमें वस्तुस्थिति के अनुरूप में यथार्थ शिक्षा दी है। यहाँ पूर्ण स्वाधीनता का पाठ है। आत्मा अपनी ही कृति से परतंत्र हो दुःख उठाता है। देव, मनुष्य, पशु, नरक-गतियों में भटक रहा है और वह अपनी ही कृति से इस परतंत्रता से छूट कर सच्चे सुख को पा सकता है। इसके लिए भगवान् ने जीवन का एक नियमित चारित्र्य ढंग भी बतलाया है, परन्तु उसके विषय मे कहने के पहले हम भगवान् की वाणी को समझने के लिए जो स्याद्वाद सिद्धान्त बतलाया गया है उसका साधारण उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। क्योंकि उसके समझे बिना भगवान् की वाणी को यथावत् समझना दुष्कर है। यहीं पर शङ्का हो सकती है कि जब भगवान् ने सब बातें अनादिनिधन बताईं—वह पदार्थ उसी रूप में बने रहते हैं तो उनमे परिवर्तन कैसे होते

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय।

है? शङ्का ठीक है परन्तु इसकी निवृति सहज में होती है। भगवान् ने द्रव्यों को समझने के लिए दो दृष्टियाँ बतलाई हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक अर्थात् अपनी असली दशा के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने

असली रूप मे वतलाया जाता है और पर्यायार्थिक जो उसकी पर्यायें हो रही हैं उनको वतलाता है। इसलिए पदार्थों का रूप वही वना रहता है, परन्तु वह पर्याय की अपेक्षा वदलता रहता है। जैसे सोना है। वह अँगूठी वन गया—फिर विगाड़ कर वाली के रूप मे आ गया परन्तु सोना वहाँ मौजूद ही है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक दृष्टि से सोना सर्वावस्थाओं मे मौजूद है परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उसमें उत्पत्ति-ध्रौव्य-व्यय रूप परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए सर्व-दृष्टियों से प्रत्येक पदार्थ को समझने के लिए भगवान् ने स्याद्वाद का अनेकान्त सिद्धान्त वतलाया है। इसका महत्त्व अंधों और नेत्रवालों की कथा से सहज में समझ पड़ सकता है। जिस प्रकार एक हाथी को पाकर प्रत्येक अंधे ने जिस अंग को पकड़ा उसी के अनुसार उसका रूप वताया परन्तु नेत्रवाले ने उसके सर्व अवयवों का वर्णन करके उसका यथार्थ रूप सवको वता दिया। ठीक यही वात स्याद्वाद-सिद्धान्त की है। अन्य धर्म में एकान्त दृष्टि से ही सिद्धान्तवाद का निरूपण करते हैं तव भगवान् महावीर का धर्म अनेकान्त दृष्टि से उसका प्रतिपादन करके उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है। और आपसी थोथे द्वेष को दूर हटाता है। भगवान् महावीर के समय में ३६३ विविध धर्मपन्थ प्रचलित थे। ( देखो अंगपएणति ) और वह अपने विरोधी मन्तव्यों के कारण आपस में झगड़ते थे। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद-सिद्धान्त का फिर से निरूपण करके इस मतभेद को और थोथे वितण्डावाद को भारत से दूर भगा दिया। यह खूवी भगवान् महावीर के ही उपदेश में है कि प्रत्येक प्रकार के मतों की

सिद्धि उनके सिद्धान्त से होती है। और एक नास्तिक एवं एक आस्तिक प्रेमपूर्वक उसको स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए यदि मनुष्यों के भेदभावों को उचित रीति मे कोई समाधान कर सकता है तो वह भगवान् का यह सिद्धान्त है। अतएव भगवान् का यह उपदेश वैज्ञानिक है। इसी कारण वही सार्वभौमिक (Universal) मत है। उस ही की छत्रछाया मे मनुष्य यथार्थ सत्य के उपासक बन सकते हैं और आपसी विरोधों को नष्ट कर सकते हैं, जिस प्रकार कि भगवान् के समय की जनता ने इससे उपयुक्त लाभ उठाया था।

अतएव 'नय' उस अपेक्षा वा दृष्टि (Point of view) को कहते हैं जिसके द्वारा पदार्थ के कोई एक स्वभाव को देखा जा सके। स्याद्वाद शब्द मे दो शब्द है। स्यात् + वाद = अर्थ है कथंचित् या किसी अपेक्षा से कहना। यह शब्द, नय का स्वरूप प्रकट करता है। पदार्थों मे नित्य, अनित्य, एक,

स्याद्वाद-सिद्धांत

अनेक, अस्ति, नास्ति आदि अनेकविरोधी स्वभाव है। उनको एक साथ कहा नहीं जा सकता। जब नित्य स्वभाव बतावेंगे तब अनित्यादि स्वभाव नहीं कहे जा सकेंगे और जब अनित्य स्वभाव को कहेंगे तब नित्य आदि स्वभाव नहीं कहे जा सकते। एक स्वभाव को कहते हुए दूसरे भी स्वभाव वस्तु में हैं इस बात का झलकाव 'स्यात्' शब्द से होता है, जैसा कि श्रीसमन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा मे कहा है:—

'वाक्यष्वमेकान्तद्योती गम्यम्प्रति विशेषक;
स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्त्व केवलिनामपि॥"

भावार्थ—स्यात् ऐसा अव्यय वाक्यों में लगाने से वस्तु

में अनेक धर्म हैं, इस बात को झलकाता है तथा विशेष किसी धर्म को जिस अर्थ के साथ वह जुड़ा हुआ है विशेष करके बताता है। व अन्य धर्मों को गौण करके दिखाता है। जैसे हमने कहा—स्यात् नित्यं अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु नित्य वा अविनाशी है। यहाँ नित्यपने को विशेष्य करके बताते हुए अनित्यादि स्वभाव भी अन्य अपेक्षा से हैं इस बात को स्यात् शब्द द्योतित करता है। इसी तरह यदि हम कहें—स्यात् अनित्य अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु अनित्य है यहाँ स्यात् शब्द अनित्यपने को मुख्य कहता हुआ अन्य नित्यादि की तरफ़ भी संकेत करता है। स्याद्वाद नय के समझे बिना वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव एक ही समय में हैं इसका बोध नहीं हो सकता। पाठकों को मालूम हो कि जीव नाम वस्तु यदि हम समझना चाहें तो उसमें नित्यादि स्वभावों को निम्नलिखित प्रकार से समझना होगाः—

(१) द्रव्यपने और अनन्त गुणों के एक साथ हर समय रखने की अपेक्षा से जीव नित्य है।

(२) द्रव्य की पर्याय अथवा अनन्त गुणों की समय समय में अवस्था के पलटने की अपेक्षा जीव 'अनित्य' है। क्योंकि हर एक पर्याय एक समय-मात्र रह कर नष्ट हो जाती है।

(३) जीव अनंत गुण पर्यायों का एक अखंड अमित समुदाय है इस अपेक्षा से एक रूप है।

(४) जीव अपने अनन्त गुण पर्यायों के स्वरूप को भिन्न भिन्न रखता हुआ हर एक को अपने सर्वांग में व्यापक रखता है, इस अपेक्षा जीव अनेक रूप है।

(५) जीव अपने जीवपने के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा भावरूप वा अस्तिरूप है।

(६) जीव अपने भीतर अपने से अन्य जीव अजीव के द्रव्य क्षेत्र काल भावों को न रखने की अपेक्षा अभाव रूप वा नास्तिरूप है।

(७) जीव सदा ही अपने शुद्ध स्वभाव की शक्ति को नहीं त्यागता है इस अपेक्षा से जीव शुद्ध रूप है।

(८) जीव कर्मों के उदय के बल से अपने स्वभाव से विभाव भावों में आ सकता है इस अपेक्षा से अशुद्धरूप है।

इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से एक वस्तु के स्वभावों को समझाने के लिए स्याद्वाद नय उपयोगी है। यदि हम व्यवहार में दृष्टान्त लगावें तो मालूम होगा कि एक जवान मनुष्य गृहस्थ एक समय मे अनेक सम्बन्धों को रखता है उन सबको भिन्न भिन्न अपेक्षा से ही समझा या कहा जायगा; जैसेः—

( ) यह पुरुष अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है।
(२) ” ” ” पुत्र ” ” पिता है।
(:) ” ” ” मामा ” ” भानजा है।
(४) ” ” ” भानजे ” ” मामा है। इत्यादि

जो सिद्धान्त जीव को एकांत से नित्य ही मानते या अनित्य ही मानते या एक ही मानते या अनेक रूप ही मानते या शुद्ध ही मानते या अशुद्ध ही मानते उनके सिद्धान्त में संसार, मोक्ष, पुण्य, पाप, सुख, दुःख आदि नहीं सिद्ध हो सकेंगे। जैसा स्वामी समन्तभद्राचार्य ने आत्म-मीमांसा में—कहा हैः—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं नास्यात् वन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२॥"

भावार्थ—एकांत की हठ करने से पुण्य, पाप का द्वैत, सुख-दुःख का द्वैत, लोक-परलोक का द्वैत, विद्या-अविद्या का द्वैत तथा वन्धमोक्ष का द्वैत कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकेगा। श्रीमहावीर के स्याद्वाद नय के सिद्धान्त द्वारा ये सव वातें सहज साध्य है।'* इस सिद्धान्त का विशेष रूप जैन-सिद्धान्त-ग्रन्थो से समझना चाहिए। इस छोटे से निवन्ध मे उसका पूर्ण विवरण देना असंभव है। अतएव भगवान् की ईश्वरीय वाणी को अनेकान्त दृष्टि से समझने के लिए स्याद्वाद की आवश्यकता का दिग्दर्शन कर लेने पर अव हमे उनकी वताई हुई चारित्र्यशिक्षा वा लौकिकशिक्षा पर भी विचार करना चाहिए। देखना चाहिए कि उन्होने मोक्षमार्ग का निरूपण किस प्रकार किया है। भगवान् के उपदेश के अनुसार वतलाया गया है किः—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः।" वस्तुतः सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य मोक्ष का मार्ग है। जव तक हमको आत्मा पुद्गल आदि के अस्तित्व में विश्वास नहीं होगा तव तक हमको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए पहले सम्यक् दर्शन—यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान होना आवश्यक है। जव अपने स्वरूप और असली सुख का श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त हो गया तव आवश्यक है कि सम्यक्

परम सुख प्राप्त करने का मार्ग।

---

*-देखो, वीर, वर्ष १ अक १ पृष्ठ १६-२०

चारित्र्य का पालन किया जाय। सम्यक् चारित्र का निरूपण जैन-शास्त्रों मे किया गया है। साधारणतया वह दो प्रकार है एक तो गृहस्थों के लिए और दूसरे गृहत्यागी मुनियों के लिए। पहले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है। गृहस्थ इसका एक देश—अपूर्णरूप मे पालन करता है और मुनि पूर्णरूप मे। मुनि इनके पालन में जब पूर्णरूप में दत्तचित्त होता है और सर्व मे पूर्ण समभाव धारण करता है तब गृहस्थ भी यथाशक्य उनका पालन कर समता-भाव का रसास्वादन करता है। परन्तु दोनों ही जगत् के सर्वप्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझते हैं क्योंकि उनकी आत्माओं के स्वभाव मे—शक्ति में अन्तर नहीं है। इस कारण सर्वप्राणियों पर मुनि और श्रावक समभाव मैत्री रखता है। इस प्रकार का 'गृहस्थ क्रोध के वश होकर दूसरों को जान से नहीं मारता।* दूसरों पर अन्याय नहीं करता, न अत्याचार ही करता है। न वह लोभ के फन्दे मे फँस कर दूसरो का माल हड़प करता है। न मान से

---

*भगवान् महावीर ने जो उपदेश संसार के व्यवहार मे फँसे हुए लोगों के लिए दिया है, वस्तुतः वह हमारे वर्तमान के जटिल जीवन प्रश्न को हल कर देता है। भगवान् ने पहले ही बता दिया है कि परतंत्रता और अज्ञानता में रहना ठीक नहीं है। "सत्य" की खोज प्रत्येक प्राणी को करना चाहिए। उसके लिए सर्वस्व का भी त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिए। इसी सत्य की प्राप्ति के लिए भगवान् ने अपने राजसी भोगोपभोग को त्याग दिया था। अतएव उसकी प्राप्ति के लिए त्याग और संयम आवश्यक है। इसी कारण भगवान् ने सर्वप्राणियों के प्रति प्रेमभाव रखने का उपदेश दिया है।

अंधा होकर अपने आपको बड़ा और उच्च एवं अन्यों को छोटा और नीच समझता है। न माया के जाल में क़ैद

इस सिद्धान्त के महत्त्व का समझने से हमारे जीवन बड़े सुखी हो सकते हैं। इस हेतु इस सिद्धान्त को सर्व में प्रकट करना चाहिए। क्योंकि उनके सदृश अहिंसाधर्म का प्रतिपादन कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। इस अहिंसा-धर्म से लोगों में वास्तविक वीरता और दृढ़ता आती है। एवं आत्मविश्वास की उत्पत्ति होती है। अहिंसा-धर्म से जो लोग कायरता और निर्जीवता की बढ़वारी होना समझते हैं वह अहिंसा के मूल तत्त्व को ही नहीं समझते। वास्तव में अहिंसा के कारण कहीं किसी अवस्था में भी ह्रास की असह्य वेदना सहन नहीं करनी पड़ती। भारत का पतन इस अहिंसा के अभाव में ही हुआ है। प्राचीन काल में जिस समय जैन-धर्म की सार्वभौमिक अहिंसा का प्रचार सारे भारतवर्ष में था उस समय विदेशी आक्रमणकर्त्ताओं की दाल भारतीय राजाओं के समक्ष नहीं गली थी। उलटे पराजय का ही मुख देखना पड़ा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जैन-धर्मावलम्बी थे। उनके समय में यूनानी भारत पर अधिकारी नहीं हो सके थे। किन्तु ज्योंही विजातीय मनुष्यों के अमानुषिक अत्याचारों और कालदोष से जैन-धर्म का प्रभाव भारत से लुप्त हो गया और जब भारत में क़रीब क़रीब जैन राजाओं का अभाव हो गया और हिन्दू राजाओं की बाहुल्यता हो गई तब ही मुसलमानों ने भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। अधिक हिन्दू राजा विशेष मानी और सामयिक ज्ञान से अविज्ञ, अपने छोटे छोटे स्वार्थों में देश की बड़ी से बड़ी हानि करनेवाले थे। इनको मांसभक्षण से भी परहेज़ नहीं था। इन्हीं स्वार्थी राजाओं के हाथों से भारत का अधःपात हुआ! जैन-अहिंसा गृहस्थपुरुषों को अपनी रक्षा के लिए उचित और आवश्यक उपायों को अवलम्बन करने का विधान करती है। इसलिए अहिंसा-धर्म से भारत का पतन नहीं हुआ।

होकर दूसरों के साथ छल-कपट करता है। न काम से पराजित होकर दूसरे की स्त्री मे चित्त लगाता है। वह जानता है कि जिस तरह मेरे प्राण—मेरा द्रव्य—मेरी स्त्री हरी जाने से मुझको दुःख होता है। ऐसे ही दूसरे जीवों को भी उनके प्राण—उनका द्रव्य—उनकी स्त्री हरी जाने से दुःख होता है। भगवान् के बताये अनुसार साम्यभाव को धारण किये हुए गृहस्थ स्वार्थ मे भी अन्धा नहीं होता। वह स्वार्थ का दास होकर दूसरों की हानि नहीं करता। यद्यपि राजनीति के अनुसार दुष्टों का निग्रह अपराधियों को दंड, शत्रुओं का पराजय करता है। वह सांसारिक पदार्थों की अति तृष्णा में परिग्रह की पोट नहीं बाँधता है। न झूठ बोलता है। उसकी सदैव यही भावना रहती है कि मुझसे किसी जीव को दुःख न पहुँचे। मेरे निमित्त से किसी प्राणी का नुकसान न हो। इतना ही नहीं वह हर समय दूसरो पर दया करता है—दूसरों की सहायता करता है।' इस प्रकार वह भगवान् के बताये हुए चारित्र्य-मार्ग पर चलता हुआ स्वयं अपनी आत्मोन्नति करता है और दूसरों को भी उस ओर सहायता करता है। सदैव सच्चे सुख मोक्ष को पाने को तल्लीन रहता है। इस प्रकार क्रम क्रम ऊपर चढ़ने के लिए चारित्र्य नियम के ११ दर्जे हैं। उपरोक्त पाँच नियम उसके प्रथम दर्जे वा प्रतिमा के अन्तर्गत वर्णित हैं। इसी प्रकार ११ ही प्रतिमाओं के चारित्र्य का पालन करके अन्त में यह गृहस्थ उस अवस्था को पहुंच जाता है कि वह जैन साधु हो सके। एक-दम बिना अभ्यास किये हुए गृहत्याग करना लाभदायक नहीं। इस प्रकार जब वह गृहस्थ ११ प्रतिमा का चारित्र्य धारण

कर ले तब वह जैन साधु होकर महाव्रतो को धारण करके पूर्ण रूप से सर्व मे साम्यभाव धारण कर लेता है। और अपने आत्मध्यान मे लीन हो कर्म्मों के आश्रव को रोकता है क्योंकि वह अपनी आत्मा के स्वभाव मे तन्मय रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। शरीर से ममत्व त्याग देता है। उसका पोषण-मात्र अपघात न करने के ख़याल से करता है। और इस प्रकार कर्मों का क्षय करता हुआ अन्त मे उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है कि जिसमें वह सच्चे सुख को पा सके। साधारण रूप मे भगवान् महावीर के उपदेश की शिक्षा हमको इस प्रकार प्राप्त होती है। वस्तुतः यह उपदेश वैज्ञानिक प्रमाणित होता है। इसलिए उसका खण्डन नहीं हो सकता। अर्थात् वह न्याय से भी यथार्थ सिद्ध है। एवं वह सर्वप्राणियों को समान हितकर है। क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप में सर्वपदार्थों का निरूपण करता है। उसमें सर्व विषय कार्यकारण सिद्धान्त पर वैज्ञानिक ढङ्ग पर वर्णित हैं, इसलिए वह धार्मिक विषय के भूल और भ्रम को दूर कर देता है।

अन्य धर्मों मे विशेषतायें।

इस प्रकार अन्य सर्वधर्मों से हम भगवान् के बताये हुए धर्म मे निम्न विशेषतायें पाते है जो उसे सार्वभौमिक प्रमाणित करती हैं अर्थात्:—

( १ ) वह वस्तुस्थिति रूप में वैज्ञानिक रीति से प्रत्येक पदार्थ का निरूपण करता है, जिससे सर्व प्रकार की शङ्काओं का अन्त होकर बुद्धि की संतुष्टि होता है।

( २ ) वह प्रत्येक आत्मा को स्वाधीन सिद्ध करता है, जो कि यथार्थ रूप में उसे अपने जगत् का—और दुःख-सुख का

कर्ता बतलाता है। प्रत्येक आत्मा दुःखों से छूट कर स्वतः ही परम सुखी हो सकता है। अन्य कोई उसे सुखी नहीं बना सकता। एकमात्र उसे स्वावलम्बी हो सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उसकी परतंत्र अवस्था दुःखदायी है। अपनी स्वाधीनता में उसे सुख मिल सकता है।

( ३ ) उसका न्यायवाद सर्वोत्कृष्ट है। उसकी समानता में अन्य कोई भी न्यायसिद्धान्त उपस्थित नहीं हो सकता। वह बड़ी खूबी के साथ वस्तु के आपसी विरोधों का समाधान कर देता है। इसलिए वह सर्वमतों की उलझी गुत्थियों को सुलझाने मे अनुपम है।

(४) उसमें दार्शनिक वैज्ञानिकता के साथ ही मोक्षमार्ग का निरूपण भी उसी रूप मे किया गया है। बाह्यक्रियायों कर पूर्ण कर्मकाण्ड में ही मनुष्यों को नहीं फँसाया गया है। प्रत्युत नितान्त सरलतापूर्वक अपने उद्देश्य-प्राप्ति का मार्ग सुझाया गया है। और

( ५ ) उसमे साम्यभाव की परमोच्च रूप मे शिक्षा दी गई है। प्रत्येक जीवात्मा को अपने समान समझ कर किसी को मन, वचन, कायद्वारा कष्ट न देने के लिए उसमें उपयुक्त रीत्या विधान बतलाया गया है। साथ ही नियमित ढंग से सांसारिक कार्यों को पूर्ण करने का उपदेश दिया गया है, जिससे प्रत्येक आत्मा अपने उद्देश्यप्राप्ति की ओर अग्रसर होता जाये और दूसरों को भी उस ओर सहायता दे। यहाँ से उसे पूर्ण सार्वभौमिक प्रेम की शिक्षा मिलती है। जिसका पालन करने से मानवसमाज के दुःखों का अन्त हो सकता है। इस प्रकार का उत्तम और सरल

जीवन व्यतीत करने का विधान हमें अन्यत्र कठिनता से ही मिलता है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कितनी एक विशेषतायें भगवान् की वाणी में बतलाई जा सकती हैं; क्योंकि वह "ईश्वरीय वाणी" है। इसलिए उसके विषय मे एक आधुनिक उत्कट विद्वान् डा० ओ० परटोल्ड साहब के निम्न शब्द ही पर्याप्त हैं। आप लिखते हैं:—

"( भगवान् महावीर-द्वारा पुनः प्रतिपादित धर्म ) जैन-धर्म का यथार्थ मूल्य उसकी आभ्यन्तर पूर्णता में है जो कि विविध धर्मों के धार्मिक सिद्धान्तों को समान रूप में रख कर तुलना करने से प्रकट है। प्रत्येक धर्म में मुख्यतः तीन विषय हैं अर्थात् सैद्धान्तिक, मानसिक और व्यावहारिक। बहुत से धर्मों मे क्रियायों और रीति रिवाजों में वर्णित व्यावहारिक अंग समग्र धर्म से ही इतना अधिक बढ़ जाता है कि अन्य विषय बिलकुल ही गौण हो जाते हैं। जिनमें सैद्धान्तिक (Sentimenta.) तो भी किसी क़द्र प्रिय बना रहता है। मानसिक अंग की उत्पत्ति ही आर्य धर्मों की मुख्य विशेषता है। परन्तु एकमात्र जैन-धर्म में ही यह सब अंग उपयुक्तरीत्या प्रतिपादित हैं। जब कि प्राचीन ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म में मानसिक अंग को बेहद बढ़ा दिया गया है।"

इस प्रकार हम भगवान् महावीर के धर्म को सर्वतोभद्र पूर्ण, वैज्ञानिक सरल और सुगमतापूर्वक व्यवहार में लाने योग्य तथैव मानव-समाज की आपसी विभ्रान्तियों को दूर करनेवाला पाते हैं। इसका विशेष वर्णन जैन-शास्त्रों के

अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। अतएव पाठकों को यथार्थ सुख-शांति की प्राप्ति के लिए उनका पाठ अवश्य करना चाहिए।

उपसंहार

अन्ततः इस प्रकार संक्षिप्त मे हमने भगवान् महावीर के पवित्र चरित्र और उनके धर्म की विशेषता का दिग्दर्शन कर लिया। उससे अवश्य ही हमारे मन को शांतिलाभ होता है। तथा हमारे भ्रम भी काफूर हो जाते हैं। हम जान जाते हैं कि जैन-धर्म—भगवान् महावीर का पुनः बतलाया हुआ धर्म—बौद्धधर्म एवं हिन्दूधर्म से विभिन्न, स्वाधीन और विलक्षण है। तथा उसके अस्तित्व का पता अब तक के उपलब्ध भारतीय इतिहास के प्रारम्भ समय से लगता है। साथ ही भगवान् महावीर का पवित्र जीवन हमको एक अपूर्व स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है। और उससे हमारे आत्मबल की वृद्धि भी होती है। इस हेतु पाठकों को अवश्य ही इस विशुद्ध आत्म-रस का पान कर निजानंद का अनुभव लेना चाहिए। वस्तुतः—

"जो अपनो हित चाहत है जिय, तौ यह सीख हिये अब धारो।
कर्मज भाव तजो सब ही, निज आतम को अनुभौरस गारो॥
वीर जिनचद सो नेह करो नित, आनंदकंद दशा विस्तारो।
मूढ़ लखे नहिं गूढ़ कथा यह, 'गोकुल गाँव को पैंडोहि न्यारो'॥"

वन्दे वीरम्

शुभमिति

---

* ॐ *

# जैन धर्म और मूर्ति पूजा

—:० अर्थात् ०:—

## उपासना रहस्य

लेखक—

श्रीयुत बिरधीलालजी सेठी, कोटा

---

विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः ।
त्वया ज्वलितकेवलेन नहि देशिताः किंतु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥

—पात्रकेसरि स्तोत्र ।

---


प्रकाशक—

ज्ञानचन्द जैन कोटा

( राजपूताना )

प्रथम बार १००० } दिसम्बर सन् १९२९ ई० | वीरनि० संवत् २४५६ | मूल्य =) प्रति सैं० १०)

## ॥ निवेदन ॥

—:o:—

जैन समाज की प्रचलित उपासना पद्धति अपने उद्देश्य से अत्यंत गिर गई है और इससे जो २ हानियाँ होरही है वे किसी से छिपी नही है किन्तु फिर भी हम अंध विश्वास और रूढ़िवाद के इतने दास बन हुए है कि अपनी जाति की हीन अवस्था पर दो २ आंसू बहाकर उसे सुधारने की कोशिस तक नहीं करते। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक मे जैन धर्मानुसार उपासना के स्वरूप का ( जिससे, हमारे विचार से किसी भी धर्म के मानने वालो को कोई विरोध नही होसकता ). प्रचलित द्रव्यादि आडम्बर पूर्ण पूजापद्धति के पक्ष मे उठाई जाने वाली युक्तियों का युक्ति-युक्त उत्तर देते हुए, कितना सुन्दर और सर्वाङ्ग पूर्ण विवेचन किया है यह प्रकृत पुस्तक के देखने से ही संबंध रखता है। पाठकों से हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे इस पुस्तक को खूब गौर के साथ साद्यंत पढ़ें तथा उस पर पूर्ण विचार करने की अवश्य कृपा करें। केवल विचार करने से ही काम नहीं चलेगा! आवश्यकता इस बात की है कि हम समाज मे प्रचलित इस उपासना पद्धति और इसीप्रकार समय के प्रभाव से अपने धर्म मे घुसी हुई दूसरी गंदी बातो को जो भी हमें युक्ति विरुद्ध मालूम पड़े, अपनी समाज से शीघ्र निकाल फेकने के लिए प्रयत्नशील होकर प्रत्येक आवश्यक सुधार को कार्य रूप मे परिणत कर दिखावें।

आशा है सुधार प्रेमी बन्धु अपनी इस जैन जाति की हीन दशा पर तरस लाकर उसे जैन धर्म के सत्य मार्ग पर लगा देने को कटिबद्ध हो जावेंगे।

ज्ञानचन्द जैन, कोटा

कृपया पुस्तक पढ़ने से प्रथम निम्नलिखित अशुद्धियों को शुद्ध करलें:—

| सफा | लाइन | अशुद्धि | शुद्ध रूप |
|---|---|---|---|
| ४ | ६,११,१३ | आश्रव | आस्रव |
| ५ | ४ | जविन | जीवन |
| १० | ६ | दवे | देव |
| ११ | ६ | अर्हेतो | अर्हतो |
| १३ | १० | भभिन | भगिन |
| ,, | ११ | मचन | वचन |
| ,, | ,, | यदथिम् | यदीयम् |
| ,, | १७ | को पार समान है | की तरंगो के उस पार देखने वाले है |
| १५ | ६ | | ) |
| १६ | ६ | लच | लक्ष्य |
| १६ | १५ | किवि | किवि |
| १६ | १५ | वायु | वायुं |
| २१ | ६ | स्पष्ट | स्पष्ट |
| २२ | ६ | है | है |
| २३ | २ | कोई | कोई |
| ४६ | १८ | प्रभा | प्रभाव |
| ४८ | ३ | रोन | स्नाने |

॥ ॐ ॥

# जैन धर्म और मूर्ति पूजा

जैन धर्मानुसार इस विश्व की रचना मे दो प्रकार की वस्तुओ का भाग है। एक चेतना लक्षण से युक्त चेतन पदार्थ अर्थात् जीव ( आत्मा ) है और दूसरा जीव से विरुद्ध लक्षण वाला अचेतन पदार्थ अर्थात् अजीव है। * जीव अनंत है अचेतन परमाणुओ का समुदाय है। यह विश्व इन दोनो ही के आपसी मिलाव का फल स्वरूप है। अनंत काल से यह जीव अपने ही परिणामो के द्वारा आकर्षित किये हुये अचेतन पदार्थ के परमाणुओ से लिप्त हुआ इस संसार मे तरह २ के सुख दुःख का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह है कि ज्ञान, सुख सूक्ष्मता आदि गुण ही इस जीव का स्वभाव है

---

१ यद्यपि भिन्न २ मतवालो ने दृष्टि भेद के कारण इन जीव और अजीव पदार्थों के भेद तथा और लक्षण भिन्न २ प्रकार के माने हैं किन्तु इस स्थल पर उनमे गहरे घुसने की आवश्यकता न होने से केवल इतना ही बता देना पर्याप्त है कि इन्ही जीव और अजीव पदार्थों को सांख्य दर्शन मे पुरुष और प्रकृति कहा है और वेदान्त ने ब्रह्म और माया नाम से व्यवहृत किया है।

और अचेतन पदार्थ के साथ संयोग होने से इसके वास्तविक स्वरूप पर परदा पड़ा हुआ है और इसकी विभाव परिणति हो रही है अर्थात् अनंत ज्ञान के स्थान मे कुज्ञान और अल्प ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय सुख के स्थान मे क्षणिक सुख और दुःख तथा सूक्ष्मता के स्थान मे स्थूलता आई हुई है। ये शरीरादि उपाधियां भी इन अचेतन ( कर्म ) परमाणुओं के ही कार्य हैं। इन्हीं कर्म परमाणुओ ने इसकी समस्त शक्तियो को आच्छादित करके इसको मोह जाल मे इतना फँसा रक्खा है कि उन शक्तियो का विकास होना तो दूर रहा उनका स्मरण तक भी इसको नही हो पाता। इन संसारी जीवो मे से जो जीव अपनी आत्मनिधि की सुधि पाकर और अविरत प्रयत्न करके इस अचेतन पदार्थ ( कर्म ) के आवरण को हटा देते है वे 'मुक्त' कहलाते है। उस समय उनका अनंत ज्ञान मय असली स्वरूप प्रगट हो जाता है और उनकी सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है तथा स्वभाव से ही सूक्ष्म होने से ऊर्ध्वगामी होने के कारण इस प्रकार कर्ममुक्त हो जाने पर लोक के सब से ऊंचे भाग मे जा निवास करते है।

जीव की इस परम विशुद्ध अवस्था का नाम ही परमात्मा है। इसी के भिन्न २ गुणो और अवस्थाओं की अपेक्षा मे अर्हत, जिनेन्द्र, सिद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध, बुद्ध, परंज्योति,

निरंजन, निर्विकार आदि भिन्न २ नाम है। वह परमात्मा परम वीतरागी और शांत स्वरूप है, उसको किसी से राग या द्वेश नहीं है, किसी की स्तुति, भक्ति और पूजा से वह प्रसन्न नहीं होता और न किसी की निन्दा से अप्रसन्न। उसको न तो धनवान, विद्वान और उच्चवर्ण के लोगो से ही प्रेम है और न निर्धन, मूर्ख और नीच जाति के लोगों से, घृणा।

सर्वज्ञता (केवल ज्ञान) की प्राप्ति होने पर जब तक देह का सम्बन्ध बना रहता है तब तक उनको 'अर्हत' या जीवन मुक्त' कहते है और जब देह का सम्बन्ध भी छूट जाता है तब उनको 'सिद्ध' नाम से भूषित किया जाता है।

वे परमात्मा अर्हतावस्था मे सब जीवो को उनकी आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतातें है कि किसप्रकार ये जीव कर्मो के शिकंजे मे फँसे हुए है इनसे छुटकारा पाने के उपाय क्या २ है तथा दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है *

---

* जिस प्रकार जीवका कर्मों (अजीव) के साथ सम्बन्ध होता है और जिस प्रकार उनसे छुटकारा मिलता है उसका वैज्ञानिक वर्णन जैन धर्म इस प्रकार करता है। मन, वचन, काय (शरीर) की चंचलता के निमित्त से आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का ह्रास होता है और उस समय उसकी जैसी भी

शेष आत्माऐं ( उपरोक्त अवस्था के प्राप्त न होने तक ) घोर वनों से युक्त पर्वतों से वेष्टित स्थान में होकर गुज़रने वाले उस यात्री के समान भ्रमण करती रहती हैं जो अंधकार युक्त निशा में अपने रास्ते का ठीक २ पता न लगने से पथ

---

क्रिया होती है उसी प्रकार के कर्म ( अचेतन ) परमाणु उसकी तरफ़ आकर्षित होते है इसको ' आश्रव ' कहते हैं । तथा वे कर्म कषाय (क्रोध , मान, माया, लोभ रूपी भावों) के तीव्र या मंद होने की अपेक्षा से कम या अधिक समय के लिये अ त्मा को बांध लेते हैं, इसको 'बंध' कहते हैं। इस बंधन को तोड़ने के दो उपाय हैं (१) संवर और (२) निर्जरा। 'संवर' से नवीन कर्मों का आश्रव नहीं हो पाता है और 'निर्जरा' से पूर्व में सम्बन्ध को प्राप्त कर्मों से छुटकारा मिल जाता है। इसी बात को हिंदू धर्म वाले कह सकेत हैं कि संसार प्रवृत्ति (आश्रव) को वैराग्य द्वारा रोक कर सन्यासादि धारण करने से कर्मों का क्षय हो जाता है। आत्मा के स्वरूप के चितवन तथा चारित्र पालन आदि से 'संवर' होता है। ज्ञान आराधना और ध्यान आदि अंतरंग और वाह्य तपस्या से कर्मों की निर्जरा होती है और जब जीव कर्मों ( अचेतन पदार्थ के आवरण ) से पूर्ण रूप से छुटकारा पा जाता है तब उस अवस्था को उसकी 'मोक्ष' कहते हैं। कर्म ( अचेतन ) परमाणु आठ प्रकार के होते है (१) ज्ञानावरणी, जिनने आत्मा के ज्ञान गुण को ढँक रक्खा है (२) दर्शनावरणी, जो आत्मा के दर्शन गुण को ढँक दे (३) वेदनीय, जो सांसारिक सुख दुःख की सामग्री जोड़कर

भ्रष्ट होकर अपने लक्ष्य स्थान से बहुत दूर जा पहुँचा है और तरह २ की घोर यातनाओ को भोगता फिर रहा है। अवश्य ही ऐसी अवस्था मे जब कि सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु चारो ओर मुँह फैलाये फिर रहे है और उसका जीवन भी संशययुक्त दिखाई दे रहा है उस समय उस मनुष्य के लिये उस पथप्रदर्शक से बढकर श्रद्धास्पद और आदरणीय और कौन हो सकता है जो उसको सर्व प्रकार के दुःखो से बचने का उपाय बताकर उसके लक्ष्यस्थान तक पहुंचने का ठीक २ मार्ग बतादे। ठीक ऐसी ही अवस्था हम संसारी जीवो की भी है। जिन महान आत्माओ ने क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषायो को वश मे करके और अपनी इन्द्रियो का दमन करके, अपनी आत्मा से भिन्न समस्त वस्तुओ से ममत्व ( राग द्वेष ) त्याग दिया है, जो सर्व प्रकार की क्षुधा, तृषा आदि वेदनाओ और सेकड़ो प्रकार के उपसर्गो को सहन करते हुए भी अपने कर्तव्य मार्ग से

---

सुख दुःख का भोग करावे। ४) मोहनीय, जो आत्मा के श्रद्धान और चारित्र ( शांति ) को बिगाड़े (५) आयु, जो किसी शरीर में आत्मा को रोक रक्खे (६) नाम, जो शरीर की अच्छी बुरी रचना करे (७) गोत्र, जो ऊँच नीच पद प्राप्त करावे और (८) अंतराय, जो आत्मा के वीर्य या लाभ भोग आदि मे विघ्न करे।

विचालित नहीं हुए, जिनने कर्मावरण से पैदा हुए अज्ञान अंधकार को दूर करके अपनी असली (शुद्ध) अवस्था प्राप्त करली है और हम असहाय अवस्था मे डूबते हुए प्राणियो को सच्चे सुख का मार्ग बताकर हमारा अत्यंत उपकार किया है तथा जिनने हमारे सामने अपना आदर्श रखकर हमारे रास्ते को सुगम बनादिया है, ऐसी महान आत्माओ के प्रति हमारे हृदयो मे यदि आदर और प्रेम के भाव नहीं है, यदि हमारे हृदय उनकी भक्ति से साबित नही होरहे है और यदि उनको अपना आदर्श और पथप्रदर्शक मानकर उनके गुणों के चितवन मे हमारा अनुराग नहीं है तो निस्संदेह कहना पड़ेगा कि मृगतृष्णा मे पड़े हुए हम सुख की प्राप्ति के मार्ग से अभी बहुत दूर चक्कर लगा रहे है।

अर्हतो की भी ऐसी ही महान आत्माओ मे गिनती है और उनके द्वारा जगत का जो असीम उपकार होता है उसके बदले मे हम उनके प्रति जितना आदर और कृतज्ञता प्रदर्शित करे वह सबकुछ तुच्छ है। जो लोग दूसरो के किये हुए उपकार को भुला देते है वे कृतघ्नी कहलाते हैं और वे कभी भी उन्नति नही कर सकते, इसलिये ऐसी महान आत्माओ के प्रति आदर और कृतज्ञता प्रदर्शित करना हमारा परम कर्तव्य है।

हमको यह भी ज्ञात है कि हमारा ध्येय आत्मस्वरुप की प्राप्ति है और वह एकाग्रता के साथ आत्मा के स्वाभाविक गुणों के चितवन * से हो सकती है किन्तु अधिकांश जीव

---

* मनमें एक ऐसी ज़बरदस्त शक्ति है कि इसको वश में बहुत ही मुश्किल से कर पाते हैं और जिसने मन को जीत लिया है, समझ लीजिये वह सब कुछ करने को समर्थ है। मन को वश में करने की साधना एकाग्रता पूर्वक चितवन के द्वारा उसे अपने ध्येय की तरफ़ लगा कर की जाती है। एकाग्रता पूर्वक चिंतवन का मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि कालांतर में ध्याता ही ध्येय हो जाता है अर्थात् वह जैसा बनना चाहता है वैसा ही बन जाता है। अतः यह कथन ठीक है कि मनुष्य के भाग्य का निर्माणकर्ता वह स्वयं ही है। वह निरंतर, जैसा मन में विचार करता है, जैसी भावनायें उसके मन में उत्पन्न होती हैं वैसा ही वह स्वयं भी हो जाता है। वह अपने को और अपने सुख दुःख को जब तक जीवन की बाह्य अवस्थाओं और दूसरे लोगों की कृपा पर अवलम्बित समझता रहता है तभी तक दुखी रहता है और जब यह अनुभव करने लग जाता है कि मैं आत्मा हूँ, स्वयं अनंत शक्ति का भंडार हूं, अमर हूं; दृढ़ निश्चय के द्वारा प्रत्येक कार्यको कर सकताहूं, मैंस्वयं जैसा अपने आपको समझता रहता और करता रहता हूं वैसा ही बन जाता हूं, मैं किसी के आधीन नहीहूं, किन्तु आत्मश्रद्धा और तीव्र इच्छा के द्वारा असंभव को भी संभव कर दिखा सकता

इस संसार की विषय वासनाओं में इतने फँसे हुए हैं कि गुणी के आश्रय के विना गुणका उनके विचार तक में आना असंभव है। ऐसी अवस्था में चितवन तो हो ही कैसे सकता है, क्योंकि गुण गुणी वस्तु के आश्रय के विना संसार में कहीं भी नहीं पाया जाता। जैसे उष्णता एक गुण है किन्तु हमको उसका ज्ञान उष्ण वस्तुओं के द्वारा ही होसकता है, वस्तुओं से अलहदा उसको हम कहीं भी नहीं पासकते तथा जहां हम उस गुणी वस्तु को देखते या स्मरण करते हैं कि उसके गुण

---

हैं, तब संशय, भय आदि सब जाते रहते है और उस की आत्मशक्तियाँ विकसित होने लगजाती हैं। आप अपने आपको जबतक दुखी समझकर दु:ख के विचारों में ही लगे रहेंगे तबतक दुःख से बचने के सैंकड़ों उपाय करने पर भी दुखी ही बने रहेंगे और जब दु:ख का विचार मनमें से निकाल कर दृढ़ संकल्प के साथ हर जगह सुख ही सुख में अपने आप को देखेंगे तो आपकी दशामें परिवर्तन हो जायगा और आपको अवश्य सुख मिलेगा। इस में कोई शक नहीं कि यदि आपकी इच्छा अनुचित और घृणित है और आप प्रकृति के प्रतिकूल जारहे हैं तो आप का प्रयास विफल होने की पूर्ण संभावना है परन्तु जबतक आप की इच्छा शुद्ध, उचित और प्रकृति के अनुकूल है आप अपने प्रत्येक इच्छित कार्य की सिद्धि एकाग्रता पूर्वक चिन्तवन के द्वारा करसकते हैं।

का भी हमें तत्काल ही स्मरण होजाता है। इससे यह आशय निकलता है कि अर्हत आदि ऐसी महान आत्माएँ है जिनमे आत्मा के स्वाभाविक गुण पूर्ण रूप से विकसित होगयेहैं और उनके गुणो का ध्यान तथा उनके अलौकिक चरित्र का विचार हमे भी अपनी आत्मा और उसके स्वाभाविक गुणों की याद दिलाता है। इसीलिये वे हमारे आदर्श हैं और आत्मीय गुणो के पूर्ण विकास के लिये उसी आदर्श को सामने रख कर हम अपने चरित्र का गठन करते है। किन्तु अपने आदर्श पुरुष के गुणो मे भक्ति और अनुराग का होना स्वाभाविक और आवश्यक है क्योकि विना अनुराग के कभी किसी गुण की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। यह सर्वत्र देखा जाता है कि जो मनुष्य जिस गुण से प्रेम करता है वह उस गुणवाले का भी अवश्य प्रेमपूर्वक आदर सत्कार करता है। आदर सत्कार रूप इस प्रवृत्ति का नाम ही पूजा औरउपासना है। हमारे आदर्श होने से ही अर्हतो मे हमारी भक्ति है और वही हम मे उनके प्रति आदर सत्कार के भाव पैदा करती है। किन्तु क्या इस उपासना का उद्देश्य यह है कि वे इस उपासना के इच्छुक है और हमसे प्रसन्न होकर हमारी इच्छाओ को पूर्ण

करेंगे ? नहीं, वे परम वीतरागी और शांत स्वरूप हैं। उन्होंने काम, क्रोध आदि तथा सर्वप्रकार की इच्छाओं को नाश करदिया है, वे न तो स्तुति से ही प्रसन्न होते है और न निन्दा से ही अप्रसन्न। अतएव यह बात अच्छी तरह हृदय मे जमा लेनी चाहिये कि जैनधर्मानुसार उपासना का मूल उद्देश्य हमारे उपास्य देव अर्हतों के गुणों की प्राप्ति है अथवा दूसरे शब्दों मे, उनके (आत्मा के स्वाभाविक) गुणों मे हमारे अनुराग को दृढ़ बनाने के लिये ही उनकी उपासना कीजाती हैं ताकि बारबार एकाग्रता पूर्वक चितवन करने से हममें भी वे ही गुण प्रकट होजावे। जिस प्रकार एक यात्री के लिये अपने उद्देश्य स्थान और उस तक पहुंचने के मार्ग का, जब तक वह वहा न पहुंच जावे, ध्यान मे रखना आवश्यक है और वहा पहुंचने पर वह यह चितवन नहीं करता कि मुझे अमुक स्थान पर पहुंचना है किन्तु यह समझ लेता है कि अब मै उसी स्थान पर हूं, ठीक इसीप्रकार इस जीव के लिये भी अपने ध्येय और आदर्श पुरुषो के द्वारा बताएहुऐ मार्ग का ध्यान मे रखना आवश्यक है तथा क्रम २ से ध्यान (चितवन) के द्वारा उसकी तरफ अग्रसर होता हुआ वह अंत मे उसे पालेता है। उस समय चितवन की बिलकुल आवश्यकता नहीं होती और

सर्व प्रकार के विकल्प भाव मिटकर ध्याता और ध्येय दोनों एकही रूप होजाते है।

इससे प्रकटहै कि अर्हतोंकी उपासनाका मूल उद्देश्य केवल यही है कि आत्माकी जिन स्वाभाविक शक्तियो को उन्होंने विकसित करलियाहै वेही हममेभी पूर्णरूपसे विकासको प्राप्तहोजावे तत्वार्थ सूत्रमे कहा भी है:- मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारंकर्मभूभृतां ज्ञातारं- विश्वतत्वानां वंदे तद्गुण लब्धये- अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता, कर्म रूपी पर्वतो के तोड़ने वाले और संसार के तत्वो के जानने वाले अर्हंतो की, उनके गुणोंकी प्राप्ति के लिये, वंदना करता हूं।

यद्यपि इस प्रकार की उपासना के द्वारा आत्मिक शक्तियो का विकास होजाने से परिणाम: रूपसे लौकिक प्रयोजनो की भी सिद्धि होती अवश्य है किन्तु यह वात ध्यान मे रखलीजिये कि जो लोग लौकिक प्रयोजनोकी पूर्तिकेलिये, सांसारिक इच्छाओ को पूर्ण करने की गरज से, अर्हंतो की पूजाभक्ति करते है तथा तरह २ के प्रण और सौगन्ध लेते है, केसरियानाथजी, महावीरजी, शिखरजी, गिरनारजी आदिकी बोलारियां बोलतेहै और उनको आशा दिलातेहै कि हमारे अमुक कार्य की सिद्धि हो जाने पर हम आपके दर्शन करने आवेंगे और छत्र चामरादि सुन्दर २ उपकरण चढ़ावेगे. जो बीमारी और आईहुई दूसरी

आपत्तियों से छुटकारा पाने के लिये चौसठऋद्धि, कर्मदहन, तीनलोक आदि के मंडल मँडवा कर उन वीतराग मूर्तियों को रिश्वत देने का ढोंग रचते हैं और जो यह समझते हैं कि कषाय और मिथ्यात्व की किंचित्मात्र भी उनके स्वभाव में चाहे कभी न आवे तो भी केवल उनकी अर्हंतों के प्रति भक्ति और पूजा ही उनके कर्मों को नष्ट कर देगी, वे लोग नाम मात्र के जैनी हैं रूढ़ी के पीटनेवाले हैं और मिथ्यात्व के प्रभाव से जैनी बनने का ढोंग रचकर जैनधर्म को बदनाम करते हैं। ऐसी उपासना बिलकुल व्यर्थ होती है और उसके द्वारा उपासना के असली उद्देश्य की प्राप्ति करोड़ों वर्षों में भी नहीं होसकती। सच्ची पूजा तो वही है जो हमारे आदर्श—अर्हंतों—के जैसे गुणों की प्राप्ति के उद्देश्य से कीजाती है। बहुधा बहुत से लोग अंधश्रद्धावश ऐसा भी समझते रहते हैं कि हमारे उपास्य देवों की भक्तिपूर्वक पूजा करने के कारण, उनके प्रसाद से हमेंभी उनके जैसे गुणों की प्राप्ति हो जायगी तथा हमारे कर्म भी कट जावेंगे किन्तु वास्तव में बात यह है कि उनके गुणों के अनुराग पूर्वक चिंतवन तथा समता भाव से ही, न कि उनके प्रसाद से, हमारी आत्मा पर ऐसा प्रभाव पड़ता है और हमारी आत्मिक शक्तियां क्रम २ से विकास को प्राप्त हो कर वे गुण हममें भी प्रकट होजाते हैं।

जैसा हम पहले विचार करचुके है अर्हत एक दृष्टि मे तो हम भूले भटको का अपने उपदेश के द्वारा अत्यंत उपकार करगये है और दूसरी दृष्टि से हमारे आदर्श है तथा ये ही दोनो कारण है जिनकी वजह से जैनधर्म उस श्रेणी के महात्माओ की ※ पूजा और उपासना करने की आवश्यकता बताता है।

अब हम अपने प्रस्तुत विषय मूर्ति पूजा पर आते है।

---

※ जैन धर्म मिथ्या पक्षपात करना भी नहीं सिखाता। वह कहता है :-

यो विश्वंवेदवेद्यं जननजलनिधेःभङ्गिन पारदृश्वा।
पौर्वापर्याविरुद्धंमचनमनुपमंनिष्कलंकम् यदीयम्॥
तं वंदे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विशन्तम।
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशव वा शिवं वा॥

श्रीमत् भट्ट अकलंकदेव के उपरोक्त पद्यसे प्रकट है कि जैन धर्मानुसार वे सब महापुरुष, जो अपने अतीन्द्रिय ज्ञान के बलसे तीनकाल सम्बंधी समस्त बातो को जानते है, जो संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान है, जिनका उपदेश निष्कलंक है और वस्तु स्वभाव के विरुद्ध नहीं है तथा जो सर्व गुणोको खान और सर्व दोषो से रहित है, चाहे उनका नाम बुद्ध हो, महावीर हो, विष्णु हो, केशव हो या शिव हो अथवा कोई और नाम ऐसा सार्थक होता हो, हमारे पूजनीयही है।

अर्हत सर्वत्र सदा विद्यमान नहीं रहते इसलिये परमात्मा के गुणों की स्मृति दिलाने के लिये उनकी अर्हत अवस्था की मूर्तियाँ बनाई जाती है। वे मूर्तियाँ उनके वीतरागता, ध्यान मुद्रा * और शांतता आदि गुणो का प्रतिविम्ब होतीहै और उसी उद्देश्य को पूर्ण करती है। ऐसी मूर्तियों को केवल पत्थर की बताकर जो उनकी निंदा करते हैं वे लोग वास्तव मे जैनधर्म के तत्वों से परिचित नहीं है। जिस प्रकार किसी कमरे मे लगे हुये, महान् पुरुषों के, चित्रो को देखकर उस कमरे मे वैठने वालों के मन भी, (यदि वे उनको जानते है और उनके गुणो को आदर की दृष्टि से देखते है ) समय २ पर जब २ भी

---

* ध्यान के समय शरीर की स्थिति कैसी होनी चाहिये, इसके लिये आसन का विधान कियागया है। जवतक आसन मज़वूत न होगा तवतक मनभी ध्यान मे स्थिर नरहसकेगा आसन की दृढ़ता से गरमी, सरदी वर्षा, डांस. मच्छर आदि की तरह २ की पीड़ा होनेपर भी मन चलायमान नहीं होता। ध्यान करने के आसन वहुतसे है जिनमे पद्मासन वहुत सुगम है। जैनियो के मन्दिरों में जो पद्मासन मूर्तियाँ होती है उन्हें देखकर हम जान सकते है कि इस आसन को किस प्रकार लगाना चाहिये इस आसन मे शरीर को विलकुल सीधा रखना चाहिये और किसीभी अंग को तनाहुआ न रखकर सम्पूर्ण शरीर को विलकुल शिथिल कर देना चाहिये।

उनकी उन चित्रो पर दृष्टि जापड़ती है उन्ही महापुरुषो के गुणो के स्मरण मे लगजाते है और उनके द्वारा उनके चरित्र का भी सुधार होने लग जाता है, ठीक इसीप्रकार अर्हतो की मूर्तियां भी प्रथम तो बनावट मे ही निर्ग्रथ, परम वीतरागता सूचक और शांतस्वरूप होती है और उन्हे देखने मात्र से अत्यन्त शांति मिलती तथा आत्मस्वरूप की स्मृति होती है, इसके अलावा उन महान आत्माओ के गुणो की याद दिला कर ( जिनके स्मरण के लिये ही चित्र आदि की तरह वे भी बनाई गई है, हमारे विचारो को सुधारती तथा हमारे चारित्र को भी सुन्दर सांचे मे ढालदेती है । हम फौरन विचारने लग जाते है कि हे आत्मन्! तेरा स्वरूप तो यह है! इसे भूलकर तू संसार के मायाजाल मे और कषायो के फंदे मे क्यो फंसा हुआ है इत्यादि । इसप्रकार मनुष्य आत्मसुधार के मार्ग पर बढने लगजाते है और उसका श्रेय निमित्त कारण होने से हम मूर्तियो को देते है । किन्तु फिरभी बहुतसे मनुष्य ऐसे होते है जिन पर उन वीतराग मूर्तियो का कोई प्रभाव नहीं पडता, किन्तु इसमे उन मूर्तियो का कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार नदी पार जाने का इच्छुक पुरुष यदि किनारे पर नाव मौजूद होते हुये भी उस में न बैठकर वैसेही अपने प्राण गॅवा देता है किन्तु इससे उस नाव की उपयोगिता मे कोई फर्क नहीं

आता उसीप्रकार यदि उन मूर्तियो से भी कोई लाभ नहीं उठाता तो उससे उनकी उपयोगिता कम नहीं होजाती। उन मूर्तियो को जो प्रणामादिक कियाजाता है वह वास्तव में आत्मा के स्वाभाविक गुणो को (जो उन अर्हन्तो ने प्राप्त कर लिये थे) ही प्रणामादिक करना है, धातु पाषाण को नहीं क्योंकि केवल उन गुणो को ही लक्ष्य करके उन मूर्तियो की स्थापना की गई है।

अब हमेयह विचार करना है कि उपासना मूर्त पदार्थ- जैसे मूर्ति- के अवलम्बन के बिना भी होसकती है या नहीं और यदि होसकती है तो किसप्रकार? निस्संदेह मूर्त वस्तु के अवलम्बन के बिना भी उपासना होसकती है और वही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है जिसको हम श्रीमत् नेमिचंद्र सैद्धान्तिक चक्रवर्ति के 'द्रव्यसग्रह' की निम्नलिखित प्राकृत गाथा से प्रकट कर सकते है :—

माचिट्ठह माजंपह माचितह किंवि जेण होइथिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे झाणं॥

इसका आशय यह है कि न तो कोई उपाय करो, न कुछ कहो और न किसी का चिंतवन करो, एक मात्र आत्मा

का आत्मा मे लीन होना ही उत्कृष्ट ध्यान है। इससे स्पष्ट है कि उत्कृष्ट ध्यान वह हे जिसमे न तो अरहतो के (आत्माके) गुणो का चिंतवन ही अपेक्षित होताहै और न यम नियमादि रूप क्रियाओं का आचरण ही किन्तु केवल आत्मा को आत्मा मे लीन करदेने की आवश्यकता होती है। इस ध्यान मे किसीभी प्रकार के मूर्त आधार (अवलम्बन) की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यहां शब्द द्वारा चितवन का भी अस्तित्व नहीं रहता केवल परमात्मस्वरूप मय भाव ही पाये जाते है। ऐसा ध्यान निर्विकल्प ध्यान ही होसकता है और वह इतना कठिन हे कि हम सासारिक विषय वासनाओं मे लगेहुए मनुष्य तो क्या, अच्छे २ मुनि भी बिना बहुत बढ़ेहुए अभ्यास के नहीं करसकते। इसलिये इस ध्यान के करने की सामर्थ्य न रखने वाले मनुष्यो के लिये किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है और वह आलम्बन वे शब्द है जो आत्मा के स्वाभाविक गुणो को प्रकट करनेवाले भावो के द्योतक होते है। किन्तु उन मनुष्यो के लिये जो सांसारिक विषय वासनाओं मे लिप्त होने से आत्मा के स्वाभाविक गुणो के द्योतक शब्दो के भाव को भी ग्रहण करने मे असमर्थ होते है एक और अव-लंबनकी आवश्यकता होती है जिसको मूर्ति या चित्र कहते है।

ऊपर तीन प्रकार के ध्यान बताये गये हैं। उनमें से पहला उत्कृष्ट ध्यान तो जहां कल्पना का भी अस्तित्व नहीं होता, केवल निर्विकल्प समाधि अवस्था को प्राप्त हुए मुनियों के द्वारा ही लगाया जासकता है अतएव वह, उससे नीचे दर्जे के साधु और गृहस्थों के लिये निरुपयोगी है और उस अवस्था के प्राप्त होने तक हमारे लिये उपासना के केवल दो ही साधन रहजाते हैं :— (१) परमात्मा या जीवनमुक्त परमात्मा (अर्हन्तों) के स्वाभाविक गुणों के द्योतक शब्दों का अवलम्बन लेकर (२) जीवनमुक्त परमात्मा (अर्हन्तों) के स्वाभाविक गुणों के द्योतक शब्दों और उन्हीं की तदाकार मूर्तियों का अवलंबन लेकर। ये दोनों प्रकार के ध्यान के अवलम्बन, शब्द और मूर्ति, मूर्तीक ही हैं इसीलिये हम कहसकते हैं कि (निर्विकल्प ध्यान के अलावा) संसार की कोई भी उपासना बिना मूर्त पदार्थ के अवलम्बन के हो ही नहीं सकती, चाहे वह मूर्त पदार्थ शब्द की तरह सूक्ष्म हो या पाषाण की मूर्तियों और चित्र आदि की तरह स्थूल। शब्द मूर्तीक पदार्थ है यह बात जैन धर्म से सिद्ध है * और आधुनिक विज्ञान ने भी Wireless-telegraphy और Gramophone द्वारा ...

---

* जैनधर्मानुसार संसार की उत्पत्ति करने वाले पदार्थ दो प्रकार के हैं (१) चेतन (२) अचेतन। अचेतन पदार्थ मूर्तीक

अन्वेषण के द्वारा यह अच्छी तरह प्रमाणित करदिया है कि शब्द मूर्तीक पदार्थो मे उत्पन्न होते है और मूर्तीक पदार्थों से ही रोकेजाते हैं इसलिये स्वयं भी एक प्रकार की सूक्ष्म मूर्तियाँ है।

मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे ज्यो ज्यो आगे बढ़ता हुआ चलाजाता है त्यो त्यो उसके ध्यान का अवलंबन मूर्त आधार भी स्थूल से सूक्ष्म की तरफ क्रमशः बढ़ता हुआ चला जाता है और अंत में मूर्त आधार के अस्तित्व का बिलकुल ही लोप होजाता है। यही कारण है कि मूर्तियो के अवलम्बन के बिना आत्मचिंतवन मे असमर्थ मनुष्यो को अर्हतो की

---

है और चेतन अमूर्तीक। शब्दों की उत्पत्ति अचेतन पदार्थसेहै और इसीकारण वह मूर्तीक होते है। जिस प्रकार पानी में पत्थर फेकने से उसमे हलचल मच जाती है और वहां से लहरें पैदाहोकर पानी मे चारो ओर फैल जाती है उसी प्रकार वायु मे भी मुँह के द्वारा या किसी और तरीके से आघात पहुंचने पर एक प्रकार की लहरे पैदा होकर वायुमंडल मे चारों और फैल जाती है जिनको हम कानो के द्वारा ग्रहण करते हैं और अपने कार्यो के लिये मुक़र्रिर किये हुए संकेतों के अनुसार उनसे मतलब निकाल लेतेहैं ।

मूर्तियों की आवश्यकता होती है और जो मनुष्य इतनी उन्नति करचुके हैं कि बिना मूर्तियों के अवलम्बन के भी केवल शब्दों की सहायता से ही उनके गुणों का चिंतवन ( ध्यान ) कर सकते हैं उनके लिये अर्हन्तों की उन तदाकार मूर्तियों का अवलम्बन अनिवार्य नहीं होता। अवलम्बन के सूक्ष्म और स्थूल होने की अपेक्षा से ही केवल शब्दों द्वारा होनेवाली उपासना मूर्तियों या चित्रों द्वारा होनेवाली उपासना की अपेक्षा, ऊँचे दर्जे की मानी जाती है क्योंकि वहां मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में दूसरी की अपेक्षा ऊँची सीढ़ी पर होता है। किन्तु मूर्तियों तथा चित्रों के द्वारा होने वाली उपासना को नीची श्रेणी की समझकर हम लोग उसे त्याग नहीं सकते क्योंकि उसी के सहारे हमें ऊपरकी सीढ़ी पर पहुंचना है। जो मनुष्य संसार के माया जाल में अत्यन्त फंसेहुए हैं और जिनके चित्त इतने चञ्चल हैं कि केवल शब्दों द्वारा परमात्मा के गुणों का बिना उनकी जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्था के चित्र और मूर्तियों की सहायता के ध्यान करने में असमर्थ हैं, उनके लिये उन वीतराग- मूर्तियों अथवा चित्रों की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस प्रकार 'सर्प' इस शब्द के कानों से सुनने की या अक्षर रूप में नेत्रों के सामने आते

ही हमें 'सर्प' नामके एक विचित्र जहरीले जन्तु का बोध होता है, किन्तु वह बोध सर्प की तदाकार मूर्ति के देखने पर उससे कहीं अधिक होता है ठीक इसीप्रकार परमात्मस्वरूप के बोधक शब्दों के द्वारा परमात्मा का जो बोध हमको होता है वह उनकी अर्हन्तावस्था की तदाकार मूर्तियों के देखने पर और भी अधिक स्पष्ट होताहै। इसीलिये आजकल के विद्वान शिक्षा-लयों में बालकों को Direct method के अनुसार चित्रों और मूर्तियों के द्वारा शिक्षा देना अधिक पसंद करते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि किसी भी वस्तु- उदाहरण के लिये, बारहसिंगा—की केवल शब्दों में गुण, आकार और बनावट इत्यादि कुल विशेषताएं बतादेने पर जो प्रभाव उसका बालकों की समझ पर पड़ सकता है उसकी अपेक्षा कितना ही गुणा अधिक प्रभाव उसके चित्र या तदाकारमूर्ति को दिखाकर वे सब बातें शब्दों द्वारा समझाने पर पड़ता है। संसार में सदा से अल्प विचारशक्ति वाले पुरुषों की ही संख्या अधिक रही है इसीलिये जैनाचार्यों ने भी उपासना के लिये हमारे आदर्श, अर्हंतों की तदाकार मूर्तियों की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया है। हम सब परमात्मा, अल्लाह, God, ईश्वर, ॐ आदि का उच्चारण करते हैं, क्रॉस, - आदि चिन्हों

का धर्म के नाम पर प्रयोग करते है, अपने २ आदर्श पुरुषो के चित्र धर्मस्थानों और मकानों मे लटकाते है और उनके जन्म और मरण के पवित्र दिनों के प्रतिवर्ष उत्सव करते है. किन्तु इन सब कार्यों का उद्देश्य सिवाय इसके और कुछ नही होसकता कि ये सब कार्य परमात्मा की और उन महा पुरुषों की स्मृति दिलानेवाले है। जैनियों के मंदिरो मे स्थापित की हुई अर्हतो की मूर्तियां भी परमात्मा की ही स्मृति दिलाने वाली है और इसलिये, जो लोग उनकी उपासना की निंदा करते है. वे वास्तव मे जैनधर्म के सिद्धान्तो से अनभिज्ञ हैं।

किन्तु हम से पूछा जासकता है :- 'क्योंजी ! यदि जैन धर्म की मूर्तिपूजा ठीक वैसी ही आदर्श उपासना है कि जिस की प्रशंसा करने मे तुमने इतने सफे रंग डाले हैं तो क्यों आज कल तुम ( जैनी ) हजारो रुपयो के चॉवल. बादाम और केशर चढाकर उन मूर्तियों को प्रसन्न करने की कोशिश करते रहते हो क्यों उनको सुख दु:ख की देनेवाली समझ कर अपने दु:ख के निवारण के लिये तरह २ की स्तुतियें और पूजाएं करते हो और यदि तुम्हे खुद को फुरसत नहीं मिलती है तो नौकरो के द्वारा उनकी सेवा पूजा क्यो कराते हो ? निस्संदेह. इन सब प्रश्नो का उत्तर देना जरूरी है और जब तक हम इनका समा-

धान न करदे तबतक हम अपनी मूर्तिपूजा की प्रशंसा मे चाहे कितना ही राग अलापे किन्तु उसका दूसरो पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता । अन्य धर्मावलंबी ही क्या, वहुत से जैनी भी मूर्तिपूजा के हमारे इस प्रचालित ढंग को अर्थ तथा समय का दुरुपयोग करनेवाला समझने लगगये है और इसके परिणामस्वरूप आज दिगम्बर जेनियो मे तारन पंथी और श्वेताम्बर जैनियो मे स्थानकवासी ये दो पथ मूर्ति पूजा के घोर विरोधी दृष्टि मे आरहे है । इस विरोध का कारण भी यदि हम निष्पक्ष भाव से विचार करें तो हमें मालूम हो सकता है और वह यही कि हमारी मूर्तिपूजा आजकल अपने लक्ष्य से भ्रष्ट और आदर्श से च्युत होकर कोरी बुतपरस्ती रहगई है, उसमे मूखा भावहीन क्रिया काड फैला हुआ है और लाखो रुपया पूजा और प्रतिष्ठा के नाम से प्रतिवर्ष खर्च करने और बहुत से आडम्बर करने पर भी सुधार कुछ नहीं होपाता किन्तु समाज मे तरह २ के अनाचारो की ही वृद्धि होती जारही है । ऐसी परिस्थिति मे हम (जैनी) स्वय तो उद्देश्य से अलग गिरी हुई मूर्तिपूजा करते रहे और दूसरे लोगो की बुराई करने के लिये अपनी मूर्तिपूजा का राग अलापे! क्या इसमे बुद्धिमानी है?

उपरोक्त प्रश्नो के उत्तर मे बहुधा हमारी ( जैनियो की ) तरफ से कहाजाता है:—

१. जैन शास्त्रो मे पूजा दो प्रकार की कही गई है—एक द्रव्यपूजा और दूसरी भावपूजा । जल, चदन आदि द्रव्यो का आश्रय लेकर भेट चढ़ाना द्रव्यपूजा है और गुणो का विचारना भावपूजा है ।

गृहस्थो के मन का द्रव्यपूजा के द्वारा भावपूजा मे आठ द्रव्यो का आश्रय लेकर लगाना सुगम होता है । इसलिये आठ द्रव्यो के द्वारा आठ प्रकार की भावनाएं करनी चाहिए:—

१. जल- चढ़ा कर यह भावना करना कि जन्म, जरा, मरण का रोग दूर हो ।

२. इससे हमारा चंचल चित्त जो लगातार एकही विचार पर लगा नहीं रह सकता, इसप्रकार 'विचार परिवर्तन' (Variation of thoughts) होजाने से, आसानी से रुक जाता है।

३. जिसप्रकार किसी गानेवाले का मन बाजे की सुर ताल की सहायता से ज्यादा लगता है उसी प्रकार 'द्रव्य पूजा' के द्वारा 'भाव पूजा' मे ज्यादा ठहरता है।

अब हमे उपरोक्त तीनो बातो की विवेचना करके देखना है कि हमारा यह उत्तर कहाँ तक ठीक है –

१. निस्सन्देह पूजा के दो भेद, द्रव्यपूजा और भाव पूजा, जैन शास्त्रो मे माने गये है। किन्तु उस समय के जैनाचार्य वचन और शरीर को अन्य व्यापारो से हटाकर उन्हे अपने पूज्य के प्रति स्तुति पाठ करने और अंजुलि जोड़ने आदि रूप से एकाग्र करने को 'द्रव्य पूजा' और मन के एकाग्र करने को 'भाव पूजा' मानते थे जैसा कि श्री अमितगति आचार्य के निम्नलिखित वाक्य से प्रकट है–

वचो विग्रह संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस संकोचो भावपूजा पुरातनैं॥

उपासकाचार॥

जैन धर्म संबंधी दूसरे विषयों के तो हजारों संस्कृत के प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हैं किन्तु पूजा विषयक बहुत कम दृष्टि मे आते है, और वे भी प्राचीन नहीं। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में जैनियो मे आजकल जैसी आडम्बर युक्त पूजन प्रचलित नहीं थी। लोग मन्दिरों मे जाकर, जिनेन्द्र प्रतिमा के सामने खड़े होकर या बैठकर, अनेक प्रकार के समझ मे आने योग्य स्तोत्र पढ़ते और उनके गुणों का स्मरण करते हुये उनमे तल्लीन होजाते थे। वे, आजकल की सी जल. चंदन आदि चढ़ाने की पूजाओं के द्वारा नहीं किन्तु अर्हंत भक्ति, सिद्धभक्ति आदि अनेक प्रकार के पाठों द्वारा (जिनमें से कुछ प्राचीन पाठ अब भी पाये जाते हैं), पूजा और उपासना करते थे, अथवा ध्यानमुद्रा मे बैठकर परमात्मा की मूर्ति को हृदय मे धारण करके उनके गुणों का चिंतवन करते हुये उनकी उपासना किया करते थे। किन्तु समय ने पलटा खाया और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगई जब "मै जैनी हूँ" ऐसा कहना तक आपत्ति का घर समझा जानेलगा। इतिहास देखने वाले जानते हैं कि शंकराचार्य के समय मे हिन्दुओ और जैनियों में विरोध भाव बहुत बढ़गया था और जैनियो का पक्ष निर्बल होता जाता था। इसकारण उस समय में उन पर

तरह २ के अत्याचार किये जाते थे यहाँ तक कि कई स्थानों में तो जैन मुनि दीवारो तक मे जीते जी चुनवा दिये गये थे। यज्ञोपवीत आदि वाहरी हिन्दू धर्म के चिह्न न होने से उस समय के जैन विद्वान शूद्र नाम से अपमानित किये जाते थे तथा जैन धर्म और जैनियो का अस्तित्व तक कायम रहना कठिन होगया था। उस समय के दक्षिण के पांड्या राज्य के विषय मे विंसेट ए. स्मिथ अपने भारत के इतिहास मे लिखते है—"Very soon after Hiuen Tsang's stay in the south, the Jains of the Pandya Kingdom suffered a terrible persecution at the hands of the king variously called Kuna, Sundara or Nedumaran Pandya, who originally had been a Jain and was converted to a faith in Siva by a chola queen. He signalized his change of creed by atrocious outrages on the Jains who refused to follow his example. Tradition avers that eight thousand of them were impaled. Memory of the fact has been preserved in various ways and to this day the Hindus of Madura, where the tragedy took place celebrate the anniversary of 'the impalement of the Jains' as a festival (utsava)". इसका आशय यह है कि पाड्या राज्य के जैनियो को ह्यूनचांग के दक्षिण मे ठहरने के पश्चात् शीघ्र ही, वहाँ के

सम्राट्, कुण के अत्याचार सहन करने पड़े थे जो आरम्भ मे जैनी था किन्तु पीछे जाकर अपनी चोल वंशीय रानी के प्रभाव से शैव वनगया था। उसने अपना धर्म परिवर्तन करते ही, उन जैनियों पर भी अनेक अमानुषिक अत्याचार किये कि जिनने उसकी तरह शैव वनने से इनकार कर दिया था। इतिहास कहता है कि ऐसे आठ हजार जैनी तो बिलकुल कत्ल ही करवादिये गये थे। आज भी मदुरा के हिन्दू उस स्थान पर प्रति वर्ष उत्सव मनाते हैं।

उपरोक्त समय में, जिसको हम जैनियो की घटती का समय कह सकते हैं, लगभग समग्र ही भारतवर्ष मे, जैनियो के प्रति हिन्दुओ का ऐसा ही वर्ताव रहा है। इस वात को सब जानते हैं कि दो विरोधी पक्ष वाले तब तक ही एक दूसरे का मकाबला करते रहते है जबतक उनको अपनी विजय की आशा रहती है और जब उनमें से किसी को भी दूसरे पक्ष वाले के मकाबले में अपनी सफलता की आशा बिलकुल नहीं रहती तब वह उससे मिलजुलकर और उसे खुश रखकर ही अपना अस्तित्व कायम रखने का प्रयत्न करता है। ऐसे संकट से बचने का जैनियों के लिये भी यही उपाय था कि भीतरी तौर पर जैन धर्म को पालन करते रहकर बाहरी

तौर पर हिन्दुओ का सा आचरण करते रहवे अपने धर्म की रक्ष
के लिये, वे इसके सिवाय और कर ही क्या सकते थे ? उस समय
के जैनाचार्यों ने, जब जैनियो को मजबूर होकर हिन्दू धर्म की
क्रियाओ को अपनाते हुये देखा तो उनका जैनत्व न चला
जावे इस भय से, उन क्रियाओ के बाहरी रूप में कुछ परिवर्तन
करके उनके मूल मे जैन धर्म संबधी कल्पनाऐ डालदी और उनको
जैन शास्त्रो मे स्थान देदिया । जैनी ही क्या, लगभग सब ही धर्म
वालों को, जब २ भी उन पर ऐसा धर्म सकट आपड़ा है, तब २
ऐसा ही करना पड़ा है और जैनी भी उस समय यदि ऐसा न
करते तो बहुत संभव था कि आज भारतवर्ष मे जैन धर्म का
भी बौद्धधर्म की तरह नाम मात्र ही अवशेष रहपाता। इसका श्रेय
द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मर्मज्ञ, उन जैनाचार्यों को है जिन्होंने
विचारशीलता से काम लेकर, बिना उसके मूल रूप को विकृत
किए, जैन धर्म की रक्षा करली।

इतिहास से यह भी साबित है कि जैनियो की इस घटती
के समय मे धार्मिक द्वेष बहुत बढ़ गया था यहाँ तक कि
और तो क्या, हजारो जैन मंदिर और मूर्तियाँ तक नष्ट करदी गई
इसीकारण उस समय के जैनाचार्यों ने जैनियो से जैन
मन्दिरो के बाहरी भाग मे हिन्दुओ के भैरुजी की सी मूर्तियाँ

स्थापित करवाना शुरू कर दिया ताकि उनका उनसे हिन्दूपन टपकता रहे तथा जैन शास्त्रो मे उन मूर्तियो को मानभद्र, क्षेत्रपालादि नामो से प्रसिद्ध करके जैनियो के उन संबंधी विश्वास मे जैनत्व की छाप डालदी।

उपरोक्त प्रभाव जैनियो की उपासना पद्धति पर भी पड़े विना नही रहा है। जिसप्रकार हिन्दुओ के यहॉ नैवेद्य आदि चढ़ाये जाते थे उसी प्रकार जैनियो के लिये भी, जैन धर्म के सिद्धान्तो का रङ्ग चढ़ा कर, अष्ट द्रव्यपूजा की कल्पना कीगई और उसे उनमे प्रचालित करदिया। इस प्रकार वह उपासना का सीधासादा ढग धीरे २ आडम्बरयुक्त होगया और जो जिनेन्द्र न तो किसी के बुलाने से जाते आते और न किसी के कहने से कही बैठते, ठहरते या नैवेद्यादि ग्रहण करते है उन्हे बुलाया, बिठाया जानेलगा और नैवेद्यादि अर्पण करने के बाद विसर्जनात्मक शब्दो के द्वारा विदा किये जाकर उनसे अपने अपराध क्षमा करवाना भी पूजा का आवश्यक अङ्ग बनगया। परन्तु निष्पक्ष दृष्टि से यदि आप विचार करे तो आप को निश्चय होजायगा कि ये वातें जैन धर्म के सिद्धान्तो से क़तई मेल नहीं खाती क्योंकि ये हिन्दूधर्म की केवल एकप्रकार

की नकल के रूप में है जो कुछ परिवर्तन करके अपनाली गई है। उदाहरण के लिये हिन्दुओं की 'पंचायतन पूजा' में का कुछ अंश जैनियो के विसर्जन पाठ मे मीलान करने के लिये उद्धृत किया जाता है--

आवाहनं न जानामि न जानामि तवार्चनम् ।
पूजां चैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्य भावेन रक्षस्व परमेश्वर ॥
मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीन सुरेश्वर ।
यत्पूजित मयादेव परिपूर्ण तदस्तुमे ॥
यदक्षरपदभ्रष्ट मात्राहीन च यद्भवेत् ।
तत्सर्व क्षम्यतां देव क्षमस्व परमेश्वर ॥

उपरोक्त वाक्यों के हमारे विसर्जन के उसी से मिलते हुए अश से मीलान करने पर इसमे संदेह नहीं रहता कि उपरोक्त के ही शब्दो मे कुछ परिवर्तन करके हमने उसे अपना वना लिया है। इस विषय मे हम ( जैनी ) यह कदापि नहीं कह सकते कि पूर्वोक्त मे हिन्दुओं ने हमारी ( जैनियो की ) नकल की है क्योंकि हमारे यहॉ नैवेद्यादि चढ़ाने और इसप्रकार

के विसर्जन , आवाहन आदि की पूजाओ के कोई प्राचीन ग्रंथ नहीं है और हिन्दुओ के यहाँ वेदो तक मे आवाहन और विसर्जन पाया जाता है। हिन्दु इस बात को मानते है कि देवता बुलाने से आते, बैठते और चढ़ाया हुआ द्रव्य ग्रहण करके, विदा करने पर, वापस चले जाते हैं और उनके प्राचीन धर्मशास्त्र वेदादि मे ऐसी पूजाएं भरीपड़ी हैं किन्तु हमारे धार्मिक उसूलो से ये बाते क़तई मेल नहीं खाती। वास्तव मे बात यह है कि उस समय के जैनियो को, हिन्दू धर्म के प्रभाव मे दबकर, यह पूजा का ढंग भी ग्रहण करना पड़ा था और उस समय के आचार्यों ने , लोगो का धार्मिक विश्वास न डिगने पावे इस गरज मे उसी को 'द्रव्य पूजा' नाम देदिया। अस्तु

उनके भी सम्मानार्थ हमें कुछ न कुछ चढ़ाने को अवश्य लेजाना चाहिये और जो लोग रीते हाथ जाते हैं- समझलो कि उनके हृदयो में उनके प्रति कोई आदर भाव नहीं है" हमारी समझ मे ऐसे उदाहरणो का प्रभाव बच्चों और मूर्खों पर ही पड़ सकता है, समझदारो पर नही क्योंकि राजा की उपमा उन वीतराग अरहंतो को नही लग सकती । राजा तो भेट आदि के इच्छुक और लक्ष्मी के उपासक होते हैं और भेंट आदि करने पर हम से प्रसन्न होते हैं किन्तु उन जिनेन्द्र को न तो हमारी भेट की ही इच्छा होती है और न चढ़ाने पर प्रसन्न और नचढ़ाने पर अप्रसन्न ही होते है अतः हमारा वह द्रव्य चढ़ाना व्यर्थ होता है । यदि राजा की उपमा उन पर लगादी भी जावे तो जिस प्रकार राजा के आगे, जिस वस्तु को वह बुरा समझ कर घृणा की दृष्टि से देखने लग जाता है वह वस्तु भेट करने पर वह नाराज ही होगा इस भय से, ऐसी वस्तु को कोई भी भेट नही करता उसीप्रकार उन जिनेन्द्र के भी. जो क्षुधा तृपा आदि सर्व प्रकार की वेदनाओ से मुक्त है, जिनको किसी भी तरह की इच्छा नही है और जो सब वस्तुओ का त्याग करचुके है, उनकी इच्छा विरुद्ध (त्याग कीहुई) वस्तुऐ भेंट करना उचित नही है क्योकि ऐसा करना उनका अनादर और उपहास करने के समान है।

इस पर प्रथम विचार किया जाचुका है कि उपासना परमात्मा के गुणों के चितवन (ध्यान) के रूप में की जानी चाहिये। किन्तु गृहस्थों का चित्त (जो सांसारिक प्रपंचो में फँसे रहते है) सर्वदा व्यग्र और अस्थिर रहता है अतः उपासना के विषय मे एकाग्र करने से प्रथम हमे उसे शांत (समभावरूप) करना पड़ता है। यह कार्य बारह प्रकार की भावनाओं* तथा वैराग्य

---

* उपरोक्त बारह भावनाएं ये है:- (१) अनित्य-जीव आदि समस्त वस्तुऐ पर्याय रूप से अनित्य (नाशवान) हैं अतः उन क्षणिक पर्यायों से मोह न करना चाहिये (२) अशरण- इस जीव को दुःख, मरण से बचा सकने की सामर्थ्य रखनेवाला कोई नही है, जैसे कर्म करेगा वैसा फल भोगना ही पड़ेगा (३) संसार भावना- अनेक जन्मों में यह जीव अच्छे से अच्छे सुख भोग चुका फिरभी नतो इसकी विषय तृष्णा मिटी और न शांति मिली अत सुख की लालसा से इन इन्द्रिय जनित क्षणिक सुखों के पीछे दोड़ना व्यर्थ है (४) एकत्व-मेरे इस जीव को अकेला ही जन्मना, मरना व दुःख भोगना, पड़ता है और वह सबसे निराला एक आनन्दमई और ज्ञान आदि गुणो से युक्त है। (५) अन्यत्व- मेरे आत्मा से शरीरादि व सर्व ही आत्माऐ व अन्य पांचों द्रव्य बिलकुल भिन्न है। (६) अशुचि- यह शरीर मलमूत्र से भरा है और इसके रोम २ से मल बहता रहता है ऐसे शरीर से ममत्व त्याग कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। (७) आस्रव-किस प्रकार कर्मों का जीव की तरफ आगमन

और शांति के उत्पादक भावों के चिंतवन से ही हो सकता है। इसप्रकार मन के समभाव रूप (शांत) होजाने पर उसे अपने उपासना के विषय में एकाग्र करने की आवश्यकता होती है क्योंकि विना ऐसा किये अभीष्ट फल की सिद्धि होही नहीं सकती। मन की एकाग्रता का नेत्रो से घनिष्ठ संबंध है। जो अपने नेत्रों को वश मे कर लेता है उसके लिये मन का एकाग्र करना आसान होजाता है अत. इस कार्य की सिद्धि के लिये मूर्ति के द्वारा उपासना करने वाले तो जिनेन्द्र की वीतराग छवि पर दृष्टि को स्थिर करके मन को एकाग्र करते है और दूसरे लोग, नासिका पर स्थिरकरके। मूर्ति के द्वारा दृष्टि को स्थिर करने का अभ्यास करते समय परमात्मा की उस सुंदर मूर्ति को एकटक देखते रहना चाहिये, न तो

---

होता है इस पर विचार करना (८) संवर- कर्मों के आस्रव को रोकने के उपायों का चिंतवन करना। (९) निर्जरा-जिन उपायों से कर्मों से छुटकारा मिलता है उनका चिंतवन करना (१०) लोक भावना-विश्व की विशालता और विश्वलीला का विचार करके उस सब पर विजय प्राप्त करने की शक्ति वाले आत्मा की शक्तियों का चिंतवन करना (११) बोधिदुर्लभ-आत्मोद्धार के मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का प्राप्त होना अत्यंत कठिन है अतः प्राप्त होने पर उसे खोना न चाहिए। (१२) धर्म-धर्म आत्मा का स्वभाव है और अहिंसामई है।

आँख ही झपकानी चाहिये और न आँखों की पुतलियो को ही इधर उधर फिरने देना चाहिये। यदि आँखों मे पानी आजाय तो आने दिया जावे किन्तु आंख बंद न की जावे। इसका अभ्यास प्रातःकाल और सांयकाल दोनों समय करें। पहिले दिन जब आँखो मे पानी आजावे तब देखना बंद करदे पश्चात् क्रमशः बढ़ते २ जब १५ मिनिट तक इकटक देखते रहने का अभ्यास होजावे तब मूर्ति के सामने देखना बंद करके अपने अतरंग मे दृष्टि को फेरिये। वहाँ आपको मूर्ति का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। उसे विशेष समय तक देखते रहने का अभ्यास कीजिये ज्यो २ अभ्यास बढ़ता जावेगा, वह प्रतिबिम्ब उतना ही अधिक स्पष्ट भासेगा। उस समय आप उन परमात्मा के अरहंतावस्था के जीवन की घटनाओं से शिक्षा ग्रहण कीजिये और उनके गुणों के चिंतवन के साथ अपने आत्मस्वरूप का चितवन कीजिये कि मैं अत्यन्त निर्मल, शुद्ध, अनन्त ज्ञान और अनत शक्ति का भंडार, अनत सुख से भरपूर, अपने मन वचन काय पर शासन करने मे पूर्ण समर्थ और सर्व प्रकार के पापों और विकारो से परे हूँ। तथा दृढ़ विश्वास के साथ ज्ञानवरणी, दर्शनावरणी आदि अष्ट

कर्म को, एकएक को लेकर संकल्प * कीजिये कि उनके परमाणु आपके शरीर से निकल २ कर जारहे हैं और उनके क्षय होने के साथ ही ज्ञान, दर्शन आदि गुण क्रमशः प्रकट होते जारहे हैं (यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि जिस विचार का आप चितवन कर रहे है उसके अलावा कोई भी दूसरा विचार मन मे न आने पावे और यदि आजावे तो उसी समय उसे निकाल देना चाहिये)। फिर देखिए! आप की इस

---

* संसार में कोई भी ऐसा कार्य नही है जो अटल विश्वास और दृढ़ संकल्प के द्वारा पूरा न होसके। विश्वास के बल से मानसिक शक्तियां एकत्रित होकर संकल्प की दृढ़ता से काम को पूरा करने की तरफ लग जाती है। श्रद्धाहीन (संशयी) पुरुष सदैव शंकावादी बना रहता है। वह कहता है कि मैं अशक्त हूं, दीन हूं, डरपोक हूं, अब मै क्या करू, मैं बीमार हूं, मुझे किसी का रोग तो नही लग जायगा मेरा काम होगा या नहीं. मेरी पाचनशक्ति ठीक नही है, मेरे दिन अब खराब आगये है, मेरी ग्रहदशा अब ठीक नहीं है आदि। वह इस प्रकार चिता भय और शंका के विचारो को मनन करता रहने से तथा दुःख दरिद्रता और घातक विचारो के ही विचार मे पड़ा रहने से, सदैव दुखी ही बना रहता है। भय से मनुष्य की मृत्यु तक होजाता है There is nothing but fear to fear अर्थात् भय ही एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य को डरते रहना चाहिये। इसी लिये जैनधर्म ने शंका और भय को सम्यग्दर्शन का अतिचार

प्रकार कितनी आत्मोन्नति होती है? तब ही आपको मूर्तिपूजा का महत्व मालूम होगा जिसकी साधना से ही स्वामी समंतभद्र आदि आचार्य शिव लिंग आदि हिन्दू मूर्तियों में से अपने २ इष्ट देव की मूर्ति प्रतिबिम्ब रूप से ( जो देखने वालों को साक्षात् प्रतीत होती थी ) प्रकट करके जैन धर्म की प्रभावना करने मे समर्थ हुये थे। बस, इसीतरह ध्यान की सिद्धि प्राचीन समय में मूर्तियों के द्वारा की जाती थी जिसके लिये जल, चंदन आदि से होने वाली द्रव्यपूजा के आडम्बर की

---

माना है क्योंकि जब तक ये मौजूद रहते हैं तब तक मनुष्य आत्मा के स्वाभाविक गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त बल आदि की प्राप्ति में आगे बढ़ ही नहीं सकता। अतः भय, शंका आदि से रहित श्रद्धान की सहायता से मनुष्य सब कुछ करने में समर्थ हो सकता है। यदि आप बलवान बनना चाहते हैं तो कायरता कमज़ोरी, भीरुता आदि के प्रत्येक विचार को मन से निकाल डालिये और दृढ़ संकल्प के साथ पूर्ण निश्चय कर लीजिये कि अब मैं समर्थ और बलवान हूँ। कभी भी आपके दिल में यह शंका उत्पन्न नहीं होनी चाहिये कि देखें, मैं बलवान बनाभी हूँ या नहीं और न आपको कायरता के विचार ही दिल में आने देना चाहिए। आपका श्रद्धा जितनी अधिक दृढ़ और संकल्प शक्ति जितनी भी तीव्र होगी उतनी ही आपकी सूचनायें (भावनायें) भी अधिक प्रभावशालिनी होंगी।

बिलकुल आवश्यकता नहीं होती और जिसका अभ्यास अविरत प्रयत्न करने पर उपरोक्त प्रकार से अच्छीतरह किया जासकता है*

(२) अब हमें 'विचार परिवर्तन' (Variation of thoughts) के सबन्ध मे भी विचार करके देखना है कि क्या इसके लिये भी द्रव्य की आवश्यकता होसकती है ? जैसा पहिले प्रगट किया जाचुका है दृष्टि की स्थिरता के लिये तो मूर्ति की उपयोगिता के मकाबले में जलचंदनादि द्रव्य का कुछभी मूल्य नहीं है और इसप्रकार दृष्टि के स्थिर होजाने पर मन का एकाग्र करना आसान होजाता है। फिर भी यह कहा जासकता है कि हमारा मन परमात्मा के गुणो के चितवन, जैसे एक ही विषय मे लगातार बहुत देर तक नहीं ठहर सकता और थक कर इधर उधर दौड़ जाता है इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि, वह स्वयं ही इधर उधर भाग जावे इसकी अपेक्षा, हम ही उसको

---

* मूर्ति की सहायता के बिना ध्यान करने के ढङ्ग मे भेद इतना ही है कि उसमें मूर्ति के बजाय नासिका पर दृष्टि को स्थिर किया जाकर और नासिका, सिर, ललाट, हृदय, नाभि, आदि में से किसी एक मे मनको रोककर परमात्मस्वरूप का चितवन किया जाता है। नासिका पर दृष्टि को स्थिर करने के अभ्यास का और उस समय चितवन करने का ढङ्ग वही है जो मूर्ति के द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए बताया गया है।

एक ऐसे विशेष क्रम से घुमाते फिराते लेजावे जिससे वह उकताने भी न पावे और हमारे काबू मे भी बना रहे। बस, इसी को Variation of thoughts कहते हैं परन्तु प्रश्न यहाँ यह पैदा होता है कि क्या Variation of thoughts बिना द्रव्य की सहायता के नहीं हो सकता है अथवा क्या द्रव्य उसके लिये अनिवार्य है? इसका उत्तर Variation of thoughts के अर्थ पर विचार करने से ही मालूम होसकता है जिसका अर्थ है 'विचारो का बदलना'। विचार तो तब भी बदलते हैं कि जब मन एक विचार से उकता कर भाग जाता है परन्तु यह विचारो का बदलना और तरह का है। इसमे विचारो के बदलने का क्रम पहिले से ही निश्चित कर लिया जाता है और इस प्रकार पहिले से निश्चित किये हुये क्रम के अनुसार विचार बदलते रहने से मन भी उकता कर नहीं भागता और साथ ही उन निश्चित विचारो से बाहर न जा सकने से काबू मे भी बना रहता है। इस दृष्टि से प्रचलित द्रव्यपूजा पर भी विचार करने पर आपको मालूम होगा कि इसमे भी एक निश्चित क्रम से आठ प्रकार की भावनाओं (विचारों) का चिंतवन किया जाता है और इस प्रकार एक ही भावना का लगातार चिंतवन न होने से मन नहीं उकताने पाता। इसमें थोड़े २ काल तक एक २ भावना को लेकर आगे

वारी से चितवन किया जाता है तथा प्रत्येक भावना के चितवन के समय उसके सिवाय कोई भी दूसरा विचार मन में नहीं आने दिया जाता इसलिये एकाग्रता का भी अभ्यास होता है। जब मन एक भावना के चितवन को छोड़ता है तो वैसे ही अपनी मर्जी के मुताबिक इधर उधर नहीं चला जाता प्रत्युत उसे, पहिले से निश्चित किये हुये क्रम के अनुसार आने वाली, उसके पीछे की भावना पर ही जाना पडता है। हमारे इस विवेचन से आप समझ गये होंगे कि प्रचलित द्रव्यपूजा में जो कुछ महत्व है वह निश्चित क्रमवाली उन आठ प्रकार की भावनाओं में ही है जो उन द्रव्यों को चढ़ाते समय कीजाती है। द्रव्य से उसमें किसी भी प्रकार की विशेषता नहीं आती क्योंकि वह तो एक अनावश्यक वस्तु और हमारे हिन्दू भाइयों के अनुकरण से सीखा हुआ एक आडम्बर है जिसकी सहायता के बिना ही, एक निश्चित क्रमवाली, भावनाओं के द्वारा हम अपने ध्येय के चितवन में एकाग्रता संपादन करने का अभ्यास कर सकते है। यदि इस प्रचलित अष्ट द्रव्यपूजा में से उन आठ प्रकार की भावनाओं के चितवनको निकाल दे तो वे क्रम २ से चढ़ाये जाने वाले जलचंदनादि द्रव्य किसी भी तरह Variation of thoughts के उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकते और यदि 'जन्म जरा मरण के नाश के लिये जल चढ़ाना है' (जन्म जरा मृत्यु

विनाशनाय जलं ) आदि न कहकर केवल ' मेरा जन्म, जरा, मरण रूपी रोग दूर हो' इस प्रकार क्रम २ से आठो प्रकार की भावनाओं का चितवन करते हुये चले जावे तो जलचंदनादि द्रव्य के बिना भी Valuation of thought के उद्देश्य की सिद्धि अच्छी तरह हो सकती है। जल, चदन आदि द्रव्य मे कोई भी ऐसी बात नहीं है कि वह किसी भी प्रकार मे एकाग्रता संपादन मे सहायक होसके और न यह बात ही है कि 'जन्म, जरा, मरण के नाश के लिये'. "जल चढ़ाता हू". ऐसा कहे बिना वह भावना हो ही न सके। इससे प्रकट है कि इस अष्ट द्रव्यपूजा मे भी जो कुछ महत्व है वह द्रव्य मे नहीं किन्तु निश्चित क्रम मे कीजाने वाली भावनाओं मे ही है। इसी प्रकार कंठ किये हुये पाठ स्तुति आदि के द्वारा भी अल्पशक्ति वालो को एकाग्रता का अभ्यास बहुत आसानी से होजाता है क्योकि उसमे भी पूर्व निश्चित क्रम से थोड़े २ समय तक उनके एक २ पद के अर्थ पर चिन्तवन करते हुये जाना पड़ता है तथा ऐसा ही लाभ आदर्श पुरुषों के जीवन की घटनाओं और बारह भावना आदि का किसी पूर्व निश्चित क्रमानुसार चितवन करने मे भी होता है।

( ३ ) यह कहना, कि जिस तरह किसी गाने वाले का मन बाजे की सुरताल की सहायता से ज्यादा लगता है उसी

प्रकार द्रव्य पूजा के द्वारा भाव पूजा मे मन ज्यादा ठहर सकता है, भी ठीक नहीं है। यहां विचारने की बात यह है कि एकाग्रता सम्पादन का जो गुण बाजे की सुरताल में होता है वही क्या द्रव्य मे भी हो सकता है? बाजे की सुरताल (संगीत-ध्वनि) का मनमोहक गुण तो लोक प्रसिद्ध है और उससे ऐसी शक्ति है कि मनुष्य की शकल देखते ही दूर भागने वाले मृग तथा सर्प आदि जन्तु भी उस मधुर ध्वनि से मोहित होकर अपने पकडने वाले की कोई परवा न करते हुये उसके सुनने मे दत्तचित्त होकर जहां के तहां खड़े रह जाते है और अपनी स्वतंत्रता खो बैठते है। अतः अष्ट द्रव्य को बाजे की सुरताल के समान मानना ठीक नहीं है। उदाहरण के लिये दो मनुष्यों का विचार कीजिये जिनमे से एक तो गाना गा रहा है और दूसरा अपने इष्टदेव की पूजा बोल रहा है। दोनों के लिये एक २ बाजे का प्रबन्ध कर दीजिये। बाजे की ध्वनि से जिस प्रकार वह गाने वाला गाने मे मस्त होजाता है उसीप्रकार वह पूजा करने वाला भी उस पूजा की भावनाओं मे लीन होजाता है। किन्तु दोनो को बाजे के स्थान मे अष्ट-द्रव्य देदीजिये और उन्हे समझाइये कि इससे तुम्हारा मन ज्यादा लगेगा-फिर देखना वह गाने वाला आपकी इस-बात का क्या उत्तर देता है? मतलब यह है कि द्रव्य मे मन की एकाग्रता

को बढ़ाने की कोई शक्ति नहीं है और स्वरों के उतार चढ़ाव से उत्पन्न होने वाली वाजे की इस संगीत ध्वनि में यह शक्ति प्राकृतिक तौर पर ही भरी पड़ी है। आप देखते हैं कि बेन्ड आदि बाजो मे यह पता न होते हुए भी कि उनके बजाने वाले किस भावना से युक्त कौनसा गाना गा रहे हैं तो भी केवल उनकी ध्वनि मात्र से हमारा मन सब जगह से खिंच कर उनके सुनने मे एकाग्र होजाता है। इससे प्रकट है कि स्वरों के उतार चढ़ाव रूप बाजे की ध्वनि में तो चिंतवन योग्य किसी भावना का आस्तित्व न होते हुये भी मन को एकाग्र कर देने की शक्ति होती है किन्तु द्रव्यपूजा में जिन भावों का चिंतवन करके द्रव्य चढ़ाया जाता है, वे भाव यदि निकाल दिये जावें तो कोरा द्रव्य चढ़ाना कुछ भी नहीं कर सकता। वास्तव में वे निश्चित क्रमवाली आठ प्रकार की भावनाएँ ही हैं जो, एक ही भावना में लगातार बहुत समय तक एकाग्रता रख सकने मे असमर्थ हमको, धीरे २ उस योग्य बनाती हैं। द्रव्य में ऐसी कोई भी विशेषता आज तक न तो देखी गई और न सुनी गई कि उसको बाजे के सुरताल से समानता दी जासके।

जलचंदनादि द्रव्य चढ़ाने के पक्ष मे आजकल बहुधा जो कुछ कहाजाता है उसका विवेचन अब तक काफी किया जाचुका है

और इस पर निष्पक्ष भाव से विचार करने पर इसमें संदेह नहीं रहता कि इसके चढ़ाने से हमारी भाव पूजा मे हमें कोई भी लाभ नहीं पहुचता तथा प्राचीन समय मे भी जैनियो मे इस ढंग की द्रव्यपूजा नहीं कीजाती थी किन्तु हमारी घटती के समय मे ही हमारे हिंदू भाइयो का अनुकरण करके उनकी और बहुत सी बातों के साथ हमने इसे भी अपनालिया है।

अब उन बुराइयों का दिग्दर्शन करा देना भी उचित होगा जो हमारी जैन समाज मे इस द्रव्यपूजापद्धति के कारण उत्पन्न होगई है। यद्यपि जैन धर्म इस बात को नहीं मानता है कि अरहंत, जिनकी मन्दिरो मे प्रतिमाएं है वे, हमे सुख दुःख देते या हमारे कर्मो को नष्ट कर देते है तो भी जिस श्रेणी के मनुष्यो के सुधार के निमित्त प्रचलित द्रव्य पूजा की आवश्यकता बताई जाती है उस श्रेणी के मनुष्यो के चित्त पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पडता। यह बात मानी हुई है कि प्रत्येक धर्म के मानने वालो मे बहुत थोड़े ही मनुष्य ऐसे होते है जो अपने २ धर्म को, उसके धार्मिक तत्वो को समझ कर ही ग्रहण किये हुये हो तथा ऐसे मनुष्यो की ही संख्या अधिक होती है जो बिना उसके तत्वो को समझे केवल कुल परंपरा के कारण उस धर्म को सच्चा समझ कर उसके अनुयायी

बने रहते है । जो लोग एक धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म को को ग्रहण कर लेते है उनमें भी बहुत से तो ऐसे होते हैं जो या तो पेट के खातिर ऐसा करते है (भारतवर्ष मे ईसाइयो की संख्या अधिक करके इसीप्रकार बढ़ी है ) या प्राण नाश के भय से ( इस्लाम का प्रचार अधिक करके इसी प्रकार हुआ है ) या योगाभ्यास मे उत्पन्न हुई सिद्धियो के चमत्कार से प्रभावित होकर ( यह बात लोगो मे आमतौर से देखी जाती है कि जहां किसी साधु, महात्मा ने कुछ करामाते दिखाई कि लोग उसे पूरी श्रद्धा से देखने लगजाते है और उसके वाक्यो पर इतना विश्वास करते है कि जितना दूसरे सच्चे से सच्चे मनुष्य पर भी नहीं । वे ऐसी सिद्धियो का होना सचाई का प्रमाण मानते है *) और या अपने श्रद्धापात्र बड़े आदमियों के अनुकरण के रूप मे ऐसा करते है । इसलिये हमारा यह

---

*उदाहरण के लिये खंडेलवाल जैनियों की उत्पत्ति के इतिहास पर विचार कीजिये। वह इसप्रकार है कि एक समय खंडेला प्रांत मे मरी रोग फैला हुआ था । कुछ जैन मुनियो ने वहां पदार्पण किया और उनके प्रभाव से वह रोग उस प्रांत से ही मिट गया यद्यपि यह केवल योगाभ्यास से उत्पन्न हुई सिद्धि का प्रभाव था और धर्म की सत्यता से इसका कोई संबन्ध नहीं था तथापि उन लोगो ने उसको जैन धर्म की सत्यता का प्रमाण समझा और उस प्रांत के बहुत से लोग जैनी होगये ।

कथन अनुचित नहीं है कि किसी भी धर्म के अनुयायियों में, उसके तत्वों को समझ कर उस धर्म को मानने वाले, बहुत अल्प संख्या में होते है। ऐसे मनुष्यों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उसकी प्रत्येक क्रिया को समझ २ कर ही करेंगे। अतः धर्म की प्रत्येक क्रिया का रूप ऐसा होना चाहिये कि उसका असली आशय साफ तौर से प्रकट होता रहे और अल्प बुद्धि वाले उसका और मतलब न समझलें। इस दृष्टि से प्रचलित द्रव्य पूजा के ढंग पर विचार करने से मालूम होगा कि इससे वर्तमान जैन समाज में धर्म के नाम पर मिथ्यात्व की वृद्धि बहुत होगई है। लोग अरहंतों को हिन्दुओं के से करता हरता ईश्वर समझ कर इस विश्वास को लिए रहते है कि उनकी भक्तिपूर्वक सेवापूजा आदि करने पर और पूजा के लिये चांवल आदि द्रव्य भेजदेने पर वे हमें सुख देते और संसार के दुःखों से पीछा छुड़ा देते है। इसीकारण उनका प्रत्येक कार्य ऐसा भाव को लिये हुये होता है। जहां ज्वर आदि रोगों से पीड़ित हुए कि 'मंदिरजी' दौड़ जाते है और उनकी निवृत्ति के लिये 'भगवान की 'प्रक्षाल' के नातने की लकीर लाकर बांधते है और रोग से छुटकारा पाजाने पर उसे 'भगवान' का अतिशय समझते हैं। यदि उन्हें किसीप्रकार की विपत्ति आघेरती है तो भयभीत

* 'प्रतिमाजी' का 'गंधोदक' लगाने से उनकी प्रज्ञा न जे. जागने

होकर प्रतिज्ञाएं करते है-हे महावीरजी ! इस विपत्ति से छुटकारा मिल जाने पर मै आपके दर्शन करने आऊंगा और तब तक के लिये मेरे चांवल खाने के त्याग है आदि-अथवा उससे छुटकारा पाने के लिये मंडल मडवाते है या सप्तऋषि आदि की पूजाएं करवाते है। मतलब यह है कि हमारी जैन समाज के धार्मिक विचार आमतौर से हिन्दुओं के से होरहे है और यदि आप इसकी जांच करे तो जहां तक हमारा विचार है लगभग सबही जगह जैन समाज की ऐसी ही हालत आपकी दृष्टि मे आवेगी। इस पूजा के ढंग ने और तो क्या, समाज के अच्छे २ विद्वानो और

---

की लकीर बांधने से तथा इसी प्रकार और देवी देवताओं की भभूत वगैरा लगाने से हम लोगों के दुःखो की जो निवृत्ति होती है उसमे इन प्रतिमाजी तथा उन देवी देवताओं की शक्ति का प्रभाव नहीं होता किन्तु उसका कारण स्वयं हमारी Will Power संकल्प शक्ति ही है। जो लोग अपने भिन्न २ इष्टदेव के प्रभाव से ऐसा होना मानतेहै वे भूल करतेहै और वे उस कस्तूरी मृग के सदृश है जो यह न जान कर कि जिस अमूल्य वस्तु की खोज मे मै हूं वह मेरे ही अन्दर मौजूद है, रात दिन उसीकी तलाश मे व्यर्थ ही मारा २ फिरता रहता है। वास्तव मे आपके अन्दर ही आप की आत्मा की अनंत शक्ति छिपी पड़ी है जिस पर यदि आपकी पूर्ण श्रद्धा हो तो आप संसार को अनेक विचित्र से भी विचित्र कार्य करके दिखा सकते है।

कवियो तक को खाली नहीं जाने दिया है। चॉवल आदि द्रव्य चढ़ाने का उनके मस्तिष्क पर कुछ प्रभाव ही ऐसा पड़ा कि उनके विचार और परिणाम स्वरूप पूजा पाठ आदि उनकी कृतियॉ, सब हिन्दू धर्म के आस्तिक विचारो के रंग मे रग गये। वे भक्ति रस के प्रभाव मे इतने डूब गये कि उनको यह तक खयाल नहीं रहा कि ' जैनधर्म ईश्वर के कर्तापन को स्वीकार नहीं करता अतः उसमे भक्ति की सीमा बहुत मर्यादित है। इसके कुछ उदाहरण भी देखिए। एक जैन कवि जिनेन्द्र से प्रार्थना करते है- "नाथ मोहि जैसे बने वैसे तारो मोरी करनी कछु न विचारो" आदि-करनी को ही ईश्वर मानने वाले जैन कवि के इस वचन मे ईश्वर कर्तृत्व का कितना भाव भरा हुआ है। पूजा के अंत मे प्रति दिन प्रार्थना की जाती है- " सुख देना दुख मेटना यही तुम्हारी बान, मोहि गरीब की बीनती सुन लीजो भगवान"। शाति पाठ मे भी प्रति दिन इच्छा की जाती है-"कृपा तिहारी ऐसी होय, जामन मरण मिटावो मोय" एक प्रसिद्ध कवि वृन्दावनजी अपनी संकटहरण स्तुति मे कहते है-"हो दीनबंधु श्रीपति करुणा निधानजी, अब मेरी व्यथा क्यो न हरो बार क्या लगी, मालिक हो दो जहान के जिनराज आप ही, एबो हुनर हमारा कुछ तुम से छुपा नहीं। बहान

में गुनाह जो मुझ से वन गया सही, कंकरीके चोर को कटार मारिये नहीं।" यही कवि अपनी दूसरी स्तुति मे लिखते है-"कपि श्वान सिंह नवल अज वैल विचारे, तिर्यंच जिन्हे रंच न था बोध जितारे इत्यादि को सुरधाम दे शिव धाम मे धारे, हम आपसे दातार का प्रभु आज निहारे"। इसप्रकार और भी कई पूजा पाठ स्तुतियां आदि है जिन मे ऐसी ही वात भरी पड़ी है।

अब बताइये, इनका लोगो पर क्या प्रभाव पडता होगा? ऐसी हालत मे क्यो न वे, परमात्मा को हिन्दुओ के जैसे कर्ता हर्ता परमेश्वर समझते रहेगे और अपने ही अन्दर छिपी पड़ी हुई आत्मा की अनन्त शक्ति मे श्रद्धाहीन होकर सांसारिक दुःखो से भयभीत हुए, उन परमात्मा को ही सब कुछ सासारिक सुख आदि देने का प्रभाव रखने वाले समझते रहेगे? निस्संदेह इन सब बातो के कारण हमारी समाज का धार्मिक विश्वास आमतौर से मिथ्यात्व के रूप मे परिणत होगया है। लोग आत्मा और आत्मशक्ति मे विलकुल श्रद्धाहीन होगये है। वे अपने आपको, आत्मा के ज्ञान आदि गुणो के प्राप्त करने की सामर्थ्य से रहित, तुच्छ सा व्यक्ति समझते रहते हैं और अपने प्रत्येक सुख की प्राप्ति को भगवान के प्रभाव पर अवलम्बित

समझ कर केवल रटीहुई पूजा या पाठ आदि के द्वारा (जिनके मतलब तक का मनन करने की इच्छा नहीं की जाती) भक्तिपूर्वक जलचंदनादि चढ़ाकर पूजा करने मात्र ही मे धर्म समझते रहते है। ऐसे ('जैनी' नाम के धारण करने वाले) मनुष्य क्या सम्यग्दृष्टि कहे जाने के योग्य हो सकते है और वे, जिसका अपनी आत्मा की शक्ति (योग्यता) मे विश्वास तक नहीं है, यदि सांसारिक स्वार्थों के खातिर संसार मे भीरु और कायर बन कर जैनधर्म के सर्वोत्कृष्ट मूल सिद्धांत 'अहिंसा' को कायरता, भीरुता और भारत के पराधीन होने का कारण, आदि खिताब दूसरो से प्राप्त करवा कर जैनधर्म की अप्रभावना करवाते है तो आश्चर्य क्या ही है? अतः हमे चाहिये कि निरुत्साहित करने वाली (Passimistic) भावनाओ और पूजा पाठ का कभी विचार तक न करे तथा सर्वदा एसी ही भावनाओं से युक्त पूजा पाठ का चितवन कियाकरे जो उत्साहवर्धक (Optimistic) हो और आत्मबलको विकसित करने वाले हो।

इसके उत्तर मे संभव है आप यह कहे "कि कारण दो प्रकार का होता है एक मुख्य, दूसरा निमित्त। परमात्मा की अर्हन्तावस्था की मूर्तियो की पूजा आदि के निमित्त से हमारी आत्म-

शुद्धि होकर हमारे कर्म नाश होते है इसलिये निमित्त कारण रूपमे वे हमारे कर्मों के नष्ट करने वाले हैं"। किन्तु इस पर आप स्वयं ही पक्षपातरहित होकर विचार करें तो आपको मालूम होसकता है कि अल्प समझवाले लोगो पर कि जिनकी ही संख्या इस समय अधिक दिखाई देती है इसका वैसा ही असर पड़ता है जिसका वर्णन ऊपर किया जाचुका है। वे उस निमित्त कारण के रहस्य को समझने न पाकर उसको मुख्य कारण ही मान लेते है * तथा इसप्रकार अर्थ का अनर्थ होजाता है।

* आजकल मंदिरो और तीर्थों के झगड़ो मे लाखों रुपया स्वाहा हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। हमारी धर्मान्धता और पूजा सिद्धान्त से अनभिज्ञताही इसका कारण है। जिन मूर्तियो की स्थापना का उद्देश्य अपना और दूसरे लोगो का आत्मकल्याण करने का था और जिनके गुणो के चितवन से हर एक मनुष्य स्वतत्र होकर अपना आत्मकल्याण कर सकता था उन्हींको आजकल जिनके कब्जे मे वे आजाती हैं वे ही अपनी मिल्कियत समझने लग जाते हैं और उनकी सेवा करने और द्रव्य (जल चदनादि) चढ़ाने की व्यर्थ की बाहरी आडबर की बातो के लिये, जिनमे कोई धार्मिक तत्व नहीं है, लड़ कर विश्वमैत्री के स्थान मे कलह का प्रचार करते है। यदि आज ही हम इस आडम्बर को (जो धर्म का आवश्यक अग नहीं है) छोड़दें तो इस कलह का नाम भी न रहे और लाखो रुपये का जो मुकदमेबाज़ी और इस आडंबर मे दुरुपयोग हो रहा है वह न होने पावे।

समझ मे नहीं आता कि ऐसी कौनसी आवश्यकता है जिसके लिये निमित्त कारण को हद से ज्यादा महत्व देकर असली कारण के महत्व को इतना गिरा दिया जा रहा है। अतः वर्तमान परिस्थिति मे यदि वे, उन मूर्तियों के नाम पर जिनको उद्देश्य रूप से वे केवल वीतराग परिणामों की प्राप्ति के लिये ही पूजते है, उपासना की असलियत को न समझ सकने से व्यर्थ की छोटी २ बातो के लिये लड कर बजाय वीतराग परिणाम के कषाय को मोल लेलेते है, जाति के हजारो बच्चों के, उचित शिक्षा न मिल सकने से, खोमचे बेचते फिरते रहने और पांच २ रुपये की दूकानो पर झाडू देनेकी नोकरी के लिये लालायित रहने पर भी, उनकी शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों मे खर्च न करके केवल मदिरो (जहां पहिले से ही बहुत काफी रुपया होता है और सत्ताधारी पटेलो के घरू कार्यों मे काम आता रहता है) और प्रतिष्ठाओ मे व्यय करने मे ही धर्म समझते है तो आश्चर्य ही क्या है।

समाज के अच्छे २ समझदार व्यक्तियो को भी आमतौर से भगवान की पूजा के लिये मंदिरो मे सामग्री भेजते देखा जाता है जिसके द्वारा यातो दूसरे लोग पूजा करते है और या नौकर। हम पूछते है कि जिस पूजा का उद्देश्य अरहंतो के गुणो

के चितवन के परिणामरूप से होने वाली भावों की निर्मलता है क्या उस उद्देश्य की प्राप्ति केवल सामग्री भेजने मात्र से ही होजाती है अथवा क्या चार प्रकार के दानों में से किसी भी प्रकार के दान में उसकी गिनती की जासकती है ? कैसा घोर पतन है ! जैन धर्म के अनुसार यह अंधेर नहीं है कि शुभ भाव तो कोई करे और उसके फलस्वरूप पुण्य का बंध किसी दूसरे ही व्यक्ति के साथ होजावे । पूजन में परमात्मा के गुणों के स्मरण से जो पवित्रता आती है और पापों से रक्षा होती है उसका लाभ उसीको हो सकता है जो पूजन के द्वारा उनके गुणों का स्मरण करता है । किन्तु फिर भी कितना जबरदस्त मिथ्यात्व फैला हुआ है कि चाहे उनके गुणों का, समता और पूर्ण अनुराग सहित, चितवन ५ मिनट के लिये भी न करते हों तो भी हमारा विश्वास यही है कि केवल भक्तिपूर्वक पूजा की सामग्री भेजदेने मात्र से ही हमारे पुण्य बंध होजावेगा । वास्तव में देखाजावे तो उसको अर्हन्त तो खाते नहीं है इसलिये उसका उपयोग आपके कथनानुसार मान भी लिया जावे तो पूजा में मन को एकाग्र करने का ही होसकता है तथा जो शुभ कर्मों का बंध और पूर्व कर्मों की निर्जरा इस प्रकार होती है वह एकाग्रता के साथ उनके गुणों के चितवन से उत्पन्न हुए शुद्ध भावों

से ही होती है, अकेला द्रव्य जो हम सब पूजा के लिये मंदिरों में भेजते हैं और जो रुपया मंदिरों के अनावश्यक निर्माण व सजावट आदि में व्यय करते हैं वह कुछ भी कार्यकारी नहीं होसकता। इसकी अपेक्षा, जो लाखों रुपया, मन्दिरों की पूजा में व्यय किया जाता है और प्रतिष्ठाओं में, केसरियानाथ जी के केसर चढ़ाने में*तथा उन वीतराग मूर्तियों को आंगी और जेवर आदि से सजाने में, पानी की तरह बहादिया जाता है वही यदि जाति के गरीब बालकों की धार्मिक और लौकिक शिक्षा, विधवाओं की रक्षा और दूसरे लोगों में जैनधर्म की प्रभावना (सामयिक ढंगसे) करने में व्यय किया जावे तो बहुत कुछ धर्म और जाति की उन्नति होसकती है। शिक्षा ही सब से अधिक आवश्यक वस्तु है क्योंकि बिना धार्मिक तत्वों के ज्ञान के, सूत्रजी 'भक्तामरजी' का पाठ और पूजा आदि सब धार्मिक क्रियाऐं केवल अंध-

---

*केसरियानाथजी पर केसर चढाने में जो रुपया प्रति वर्ष स्वाहा किया जाता है उसका यदि सदुपयोग किया जावे तो उससे निस्सन्देह सैकड़ों विद्यार्थी जैनधर्म की शिक्षा पाकर जैनधर्म की उन्नति में हाथ बंटा सकते हैं। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम अपने ज्ञानरूपी नेत्र पर बंधी हुई अंधविश्वास की पट्टी को हटाकर देखना सीखें।

श्रद्धा से और बिना उनका मतलब समझे हुए ही की जाती हैं। ऐसी अध-श्रद्धा से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती देखी गई है क्योंकि लोग धर्म के असली तत्वो को न समझ सकने से धर्म के नाम पर बड़े २ अनर्थ कर डालते है। अतः अध श्रद्धा और अज्ञान को मिटाने के लिये जितना होसके उतना ही उद्योग और रुपया व्यय करना चाहिए तथा ऐसी कोई भी क्रियाऐ और आडम्बर-पूर्ण-कार्यों का रिवाज समाज मे प्रचलित न होने देना चाहिए, जिनके कारण मिथ्यात्व की वृद्धि हो, क्योकि यद्यपि यह ठीक है कि हम मनुष्यो को ज्ञानवान बनाने का प्रयत्न करें किन्तु इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि किसी भी कार्य का सीदासादा रूप न रख कर उसको इतना चक्करदार बनादे कि लोग उसके असली तत्व को भी समझने मे असमर्थ होजावे।

अब उन जैन विद्वानो से जो पुरानी लकीर को पीटते रहने मे ही धर्म समझते रहते है और जिनको प्रत्येक नवीन बात में अधर्म की बू आती है, हमारा निवेदन है कि महानु भावो! व्यवहार धर्म की क्रियाओं मे देश काल, भाव की परिस्थिति के अनुसार हमेशा मे परिवर्तन होता आया है और हमेशा होता रहेगा। और तो क्या, हमारे पूज्य तीर्थंकरों ने भी देश, काल, भाव की आवश्यकता का विचार करके

अपना उपदेश भिन्न २ प्रकार से दिया है जो श्री वट्टकेरस्वामी के प्रसिद्ध ग्रंथ मूलाचार की निम्नलिखित प्राकृत गाथा से प्रकट है,—

वावीस तित्थयरा सामाइय संजमं उवादिसंति।
छेदोवट्टा वणियं पुण भयवं उसहो य वीरोय ॥ ७-३२ ॥

अर्थात् अजित से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का और ऋषभदेव तथा महावीर भगवान ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है। वेही आचार्य आगे लिखते हैं:—आचक्खिदुं विभाजिदु विएणादु चावि सुहदर होदि।
एदेन कारणेन दु महव्वदा पंच पएणत्ता ॥ ३३ ॥
आदीए दुव्वि सोधणे णिहणे तह सुट्ठ दुरणुपालेया।
पुरिमाय पच्छिमा विहु कप्पा कप्पं ण जाणंति ॥ ३४ ॥

जिसका आशय यह है कि पांच महाव्रतों (छेदोपस्थापना) का कथन इस कारण किया गया है कि इनके द्वारा सामायिक का दूसरों को उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना और अलहदा तोर से भावना मे लाना सुगम होजाता है। आदि तीर्थ में शिष्य अत्यंत सरल होने से मुश्किल से शुद्ध किये जाते हैं, अंतिम तीर्थ में अत्यंत वक्र होने से कठिनाई से निवाह-करते हैं, साथही इन दोनों समयों के शिष्य योग्य अयोग्य को नहीं जानते इस लिये आदि और अंत के तीर्थ में छेदोपस्थापना (पंच महाव्रत)

के उपदेशकी आवश्यकता हुई।

इससे प्रकट है कि प्रत्येक जैन तीर्थंकर ने अपने२ समय की आवश्यकता के अनुसार, उस समय के मनुष्यों (उपदेश-पात्रों) की योग्यता का विचार करके उसके उपयोगी वैसाही उपदेश तथा व्रतनियमादि का विधान किया है, परन्तु वह उपदेश भिन्न २ प्रकार का होते हुये भी उद्देश्य सब का वही एक 'आत्मा से कर्म मल को दूर करके उसे शुद्ध और सुखी बनाना' ही था। भगवान महावीर के बाद के आचार्यों को भी अपने अपने समय की आवश्यकता के अनुसार धर्म की क्रियाओं मे परिवर्तन करना पड़ा है। श्रावक के मूलगुणों को ही लीजिये, जहां स्वामी समंतभद्र ने अपने रत्नकरंडश्रावकाचार मे मद्य, मांस और मधु के त्याग और पंच अणुव्रत रूप मे अष्ट मूल गुणों का विधान किया है वहां दूसरे आचार्यों ने मद्य, मांस मधु और पंच उदंबर फलों के ही त्याग को अष्ट मूलगुण मान लिया है। इस प्रकार और भी कई बातों मे समयानुसार परिवर्तन होता रहा है जिसका अब तक के प्रत्येक समय के प्रसिद्ध २ आचार्यों के ग्रंथों के देखने से अच्छी तरह दिग्दर्शन हो सकता है।*खेद है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के अटल नियम

---

* परिवर्तन से हमारा अभिप्राय उस परिवर्तन से है जो प्रत्येक समय मे उस समय के उपदेशपात्र मनुष्यों की बुद्धि विचार, योग्यता आदि के अनुसार उस समय के लिये आवश्यक होता है तथा जैसा अनावश्यक परिवर्तन पिछले समय

की सत्यता पर विश्वास रखने वाले हम जैनी भी आज ऐसे मूर्ख बने हुये है कि हम यह तक विचार करने की कोशिश नहीं करते कि धर्म जो भावरूप से अनादि और कभी नाश न न होने वाला है, पर्याय रूप से परिवर्तन शील ही है अर्थात् यद्यपि निश्चय धर्म सर्वदा वही रहता है तोभी निश्चय धर्म के मूल भाव के उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाई हुई व्रत नियमादि रूप क्रियाएं समय के अनुसार परिवर्तित होती ही रहती हैं। अतः पर्याय परिवर्तन मे धर्म का नाश न समझ लेना चाहिये क्योंकि निश्चय धर्म की व्यवहारधर्मरूप पर्याय का सर्वदा एकसा रहना नितांत असभव है। इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जिस उद्देश्य की पूर्ति उस क्रिया ने अपने समय मे की हो उसी की पूर्ति उसकी नवीन पर्याय भी करने मे पूर्ण समर्थ हो। किन्तु आज हमारी यह अवस्था होगई है कि इसी परिवर्तन का अनादर करके पूजा और प्रतिष्ठाओ के नाम पर प्रति वर्ष हजारो, लाखो रुपया व्यर्थ बरबाद कर रहे है।

---

के कई आचार्य नामधारी भट्टारकों ने करके जैन धर्म के रूप को विकृत कर दिया है वैसा परिवर्तन किसी भी काम का नहीं होता। इसीप्रकार एक बार किया हुआ आवश्यक परिवर्तन भी उस परिस्थिति के बदल जाने पर बिलकुल निरुपयोगी होकर उलटा हानिकारक बन जाता है जैसा कि मूर्तिपूजा का प्रचलित ढग।

*इसमे कोई शक नहीं कि पूजा और प्रतिष्ठा का प्रचलित ढग भी किसी समय मे उस समय के लिये आवश्यक समझ कर ही ग्रहण किया होगा परन्तु वर्तमान समय के लिये यह बिलकुल निरुपयोगी हो रहा है ऐसा मानने मे किसी भी विचारशील व्यक्ति को आपत्ति नहीं होनी चाहिये जब समय ने हमारी भाषा, पहनाव, रहनसहन आदि प्रत्येक कार्य को बदल दिया तो इन आवश्यक विषयों मे भी परिवर्तन करने से हम इतने क्यो डरते है? हमे चाहिये कि प्रत्येक पुरानी क्रिया को नवीनता के सांचे मे ढाल कर, सामयिक और उपयोगी बना लेवे क्योकि यदि मूल उद्देश्य की पूर्ति

---

* प्रतिष्ठा आदि प्रभावना का अंग है और उसका उद्देश्य नाटक के ढंग पर तीर्थंकरो के जीवन चरित्र का लोगो पर प्रभाव डालना है। उस समय के मनुष्यो के जैसे विचार हो और जिस ढंग को अमल में लाने से वे प्रभावित हो सकते हो, प्रतिष्ठा आदि को भी समयानुसार वैसा ही रूप देते रहना चाहिये। जिस प्रकार न्यायशास्त्र की युक्तियो से समझने वाले पुरुष को उदाहरणो से समझाने का कोई फल नहीं होता और उदाहरणो से समझने जितनी सी ही बुद्धि रखने वाले का न्याय शास्त्र के द्वारा समझाना निरर्थक होता है उसीप्रकार. वर्तमान समय के मनुष्य जिस प्रभावना पद्धति का प्रयोग करने से प्रभावित होसकते हो उसे प्रयोग न करके वही अपनी पुरानी, लकीर पीटने रहने का परिश्रम निष्फल होगा!

मे उससे कोई बाधा नही पड़ती तो उस परिवर्तन को किसी भी तरह बुरा नहीं कहा जासकता। याद रखिये ! संसार का यह नियम है और इतहास इसका साक्षी है कि जो समय की आवश्यकता के अनुसार अपने ढग को नहीं बदलते और अपनी उसी पुरानी लकीर को पीटते रहते है उनका अवश्य नाश हो जाता है।

अब तक जो कुछ लिखा गया है उसमे प्रकट है कि जैन धर्मानुसार, अरहंतो के गुणों का आदर और भक्ति के साथ चिंतवन करना ही, उनकी पूजा है, तथा जल चदन आदि द्रव्य और इसीतरह और भी आडम्बर जो आजकल किया जाता है वह सब इसके लिये अनावश्यक है। जिसप्रकार परिस्थिति से लाचार होकर आपने( जैनियो ने ) इस आडम्बर को ग्रहण किया उसीप्रकार अब परिस्थिति बदल जाने पर उसे त्याग देने मे ही बुद्धिमानी है। आप लोगो के हृदयो मे यह बात बैठी हुई है कि बिना जलचंदनादि द्रव्य के सहारे पूजा होही नहीं सकती इसकारण इसमे कोई संदेह नही कि आप इस लेख को पढ़ कर लेखक को पूजा का विरोधी ही समझेंगे। किन्तु लेखक अपने आपको ऐसा नहीं समझता। वह अरहंतो की पूजा का पूर्ण पक्षपाती है और उसके विचार से प्रत्येक आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह नित्य अरहंतो

की पूजा किया करे। किन्तु वह पूजा ऐसी है जो बिना किसी भी प्रकारके जलचंदनादि द्रव्य के आडम्बर के एक गरीब से गरीब व्यक्ति के द्वारा भी, जितना सा उसे अवकाश मिलसके उतने ही से समय में, आसानी से की जासकती है। अतःलेखक का का उद्देश्य पूजा का विरोध करने का नहीं प्रत्युत् वर्तमान जैन समाज की प्रचलित पूजा-पद्धति में घुसी हुई बुराइयों का दिग्दर्शन करा देने का है। इस लेख में जिन २ बातों पर प्रकाश डाला गया है उन पर आप लोग भी यदि पक्षपात रहित होकर विचार करेंगे तो आपको भी विश्वास होजावेगा कि अर्हतों की पूजा के लिए द्रव्यादि आडम्बर बिलकुल अनावश्यक है।

यद्यपि यह लेख वर्तमान जैन समाज को लक्ष्य करके ही लिखा गया है तथापि इसकी लेखन शैली इस ढंग की रक्खी गई है कि अन्य धर्मावलम्बी भाई भी पूजा सिद्धान्त को समझ कर इससे लाभ उठा सके तथा जैनियों की मूर्तिपूजा विषयक जो उनमें गलतफहमी फैली हुई है वह दूर होजावे।

समाज हितैषी विद्वानों को चाहिये कि इस विषय में अब अपनी मौन को भंग करके समाज का उपासना विषयक भ्रम दूर करने के लिए जी जान से प्रयत्नशील होजावे।

कोटा,

ता० २१-८-२६ ई०

मिश्रीलाल सेठी

# विक्रियार्थ उपयोगी पुस्तकें

[ श्रीयुत मोतीलालजी पहाड़्या कुनाड़ी लिखित ]

| | | |
|---|---|---|
| १ | जैन धर्म और जैन जाति के उत्थान का बिगुल | मुफ्त |
| २ | जैनो! अछूतों को जैन मंदिरों और धार्मिक स्थानों में बेरोकटोक आने दो | मूल्य )॥ |
| ३ | मौत के लड्डू ... | )। |
| ४ | वृद्ध विवाह और कन्या विक्रय ... | )। |
| ५ | चूड़ीवाले और फेरीवाले ... | )॥ |
| ६ | सुहाग रक्षक विधान | -) |

[ श्रीयुत बा० सूरजभानुजी वकील, देवबन्द लिखित ]

| | | |
|---|---|---|
| ७ | सती मतवंती की कहानी ... ... | -) |
| ८ | राम दुलारी ... | -१) |
| ९ | रंडियों का नाच .. | )॥ |

( फुटकर )

| | | |
|---|---|---|
| १० | सगाई की कठिनाइयाँ .. | )॥ |
| ११ | मेरी दु:ख कथा ... ... | -) |
| १२ | जैनधर्म और मूर्ति पूजा | =) |

मिलने का पता—

आनन्दचन्द्र जैन,

मंत्री, जैन सुधारक मंडल कोटा,

का० रा० राजपूताना।

प्रकीर्णक-पुस्तकमाला नं० ४५

# हम दुखी क्यों हैं?

लेखक—

जुगलकिशोर मुख़्तार।

प्रकीर्णक पुस्तकमाला नं० ४५

# हम दुखी क्यों हैं?
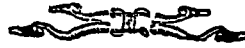
लेखक—

श्रीयुत पंडित जुगलकिशोर मुख्तार,

( स्वामी समन्तभद्र, ग्रन्थपरीक्षा, विवाहक्षेत्रप्रकाश
आदि अनेक ग्रन्थोके रचयिता )

सरसावा, जि० सहारनपुर ।

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग—बम्बई ।

श्रावण, १९८५ वि०

अगस्त, १९२८

मूल्य, सदुपयोग ।

## प्रेमोपहार ।

इस पुस्तककी एक हजार प्रतियाँ नजीबाबाद (बिजनौर) के रईस लाला बाबूरामजी जैनने अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती कनकमाला देवीकी पुण्य-स्मृतिमें विनामूल्य वितरण की है ।

# हम दुखी क्यों हैं?

## दुखभरी हालत।

इसमें कोई सन्देह नही और न किसीको कुछ आपत्ति है कि आज कल हमें सुख नहीं, आराम नही और चैन नहीं। हमारी बेचैनी, परेशानी और घबराहट दिनपर दिन बढती जाती है, तरह तरहकी चिन्ताओंने हमको घेर रक्खा है, रात दिन हम इसी उधेड-बुनमें रहते है कि किसी तरह हमको सुख मिले, हम सुखकी नींद सोएँ, हमारे दुख-दर्द दूर हों, हमारी गर्दनसे चिन्ताओंका भार उतरे और हमारी आत्माको शांतिकी प्राप्ति हो। इसी सुख-शांतिकी खोजमें—उसकी प्राप्तिके लिये—हम देशविदेशोंमें मारे मारे फिरते है, जंगल-बियाबानोंकी खाक छानते हैं, पर्वत-पहाडोंसे टक्करे लेते है, नदी-नालों और समुद्रों तकको लॉघने या उनकी छातीपर मूँग दलनेकी कोशिश करते हैं। इसके सिवाय, दिनरात तेलीके बैलकी तरह घरके धन्धोंकी पूर्तिके पीछे ही चक्कर लगाते रहते है, उन्हीके जालमें फँसे रहते हैं, उनका कभी, ओड ( अन्त ) नहीं आता, उनकी पूर्ति और झूठी मान-बडाईके लिये धनकी चिन्ता हरदम सिरपर सवार रहती है, हरवक्त यही रट लगी रहती है कि 'हाय टका! हाय टका! टका कैसे पैदा हो! क्या करें, कहाँ जॉय और कैसे करें!! किसी भी तरह क्यों न हो, टका पैदा होना चाहिये, तभी काम चलेगा, तभी दुख मिटेगा'। [illegible]

जायज़ नाजायज़ तरीकेसे—उचितानुचित रूपसे—हम रुपया पैदा करनेके पीछे पड़े हुए है, उसीकी एक धुन और उसीका एक ख़ब्त ( पागलपन ) हमारे सिरपर सवार है और उसकी सम्प्राप्तिमें इतना संलग्न रहना होता है कि हमें अपने तन-बदनकी भी पूरी सुध नहीं रहती । फिर इन बातोंको तो कौन सोचे और कौन उनपर गहरा विचार करे कि 'हम कौन हैं, कहाँसे आए है, क्यों आए हैं, कैसे आए है, कहाँ जायँगे, कब जायँगे, कैसे जायँगे, हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है, उसे पूरा करनेके लिये हमने कोई कार्रवाई की या नहीं, और हमें इस मनुष्य-शरीरको पाकर संसारमे क्या क्या काम करने चाहिये' । इन सब बातोंको सोचने और विचारनेका हमारे पास समय ही नहीं है, हमको इतनी फ़ुर्सत कहाँ जो इस प्रकारके विचारोंके लिये भी कुछ वक्त दे सके या ऐसे विचारोंके साहित्यको ही पढ़-सुन सकें? हमारी इधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। ग़रज़ यह कि अपने सुखकी सामग्रीको एकत्र करने अथवा जुटानेके लिये हमें रात दिन खड़ी अँगुलियों नाचना पडता है और पूर्ण रूपसे उसीमें संलग्न रहना होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—धन-दौलत और झूठी इज्ज़त पैदा करनेके यत्नमें इतनी अधिक तत्परता होते हुए और उसे बहुत कुछ प्राप्त करते हुए भी—हमें सुख नहीं मिलता, शान्ति नसीब नहीं होती। चारों तरफ़ जिधर भी आँख उठाकर देखते हैं दुःख ही दुःख नज़र आता है—हमारे स्वजन परिजन, इष्ट मित्र, सगे सम्बन्धी, यार दोस्त, अडोसी पडोसी, नगर और देहातके प्रायः सभी लोग दुःखदर्दसे पीडित है, हर ओरसे दुःखदर्द-भरी आवाज़ें ही सुनाई पड़ती हैं, अपना ही दुःख दूर नहीं होता तब दूसरोंके दुःखको मालूम करने और दूर करनेकी फ़िक्र कौन करे, कौन किसीपर दया अथवा रहम करे? कौन किसीकी मदद करे? और कैसे कोई किसीके दुःखदर्दमें काम आवे? हर एकको अपनी अपनी पड़ी है, अपने ही मतलबसे मतलब है, अपनी स्वार्थसिद्धिके सामने

दूसरोंकी जान, माल, इज्ज़त और आबरू ( प्रतिष्ठा ) कोई चीज़ नहीं—उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। इस तरहपर और ऐसी हालतमें हमारा दुख घटनेकी जगह उलटा दिनपर दिन बढ रहा है और हमें चैन या सुख–शांति नहीं मिलती।

## धार्मिक पतन।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है? हमारा दुख क्यों बढ़ रहा है? इसका सीधा सादा उत्तर, यद्यपि, यह दिया जा सकता है कि 'हममेसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जा रहा है' उसीका यह नतीजा है कि हम दुखी हैं और हमारा दुख बढ रहा है। और इस उत्तरकी यथार्थता अथवा उपयुक्ततापर कोई आपत्ति भी नहीं की जासकती, क्योंकि धर्म सुखका कारण है और कारणसे ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसे सब ही मतमतान्तरके लोग मानते है। बडे बड़े ऋषियों, मुनियों और महात्माओंने धर्मको ही लोक परलोकके सभी सुखोंका कारण बतलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि वह जीवोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें, धारण करने वाला है। और वही अकेला एक ऐसा मित्र है जो परलोकमें भी साथ जाकर इस जीवके सुखका साधन बनता है—उसे सुखकी सामग्री प्राप्त कराता है—उसीसे आत्माका अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। धर्मके स्वरूपपर विचार करनेसे भी ऐसा ही मालूम होता है—उसकी महिमा तथा शक्तिमें कुछ भी विवाद नहीं है। प्रत्युत इसके, अधर्म या पाप दुखका कारण है, हरएक ज़िल्लत व मुसीबतका सबब अथवा दुर्गति और विपत्तिका निदान है, और इसलिये हमारी मौजूदा दुखभरी हालत हमारे पापी आचरणकी दलील है—बुरे कर्मोंका नतीजा है—और इस बातको जाहिर करती है कि हममे धर्मका आचरण प्रायः नहीं रहा।

वास्तवमें, हम धर्म-कर्मसे बहुत गिर गये है और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्राय: पीतल या मुलम्मा मालूम होता है। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और संयम आदिकी जो भी क्रियाएँ धर्मके नामसे नामांकित है—जिनको हम 'धर्म' कह कर पुकारते है—उनमें भी धर्म प्रायः नहीं रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए थनोंके समान है *। बकरीके गलेके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते है—उनका आकार थनो जैसा होता है—परन्तु वे थनोंका काम नहीं देते, उनसे दूध नहीं निकलता। ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओंकी हो रही है। वे देखने दिखानेके लिये ही धार्मिक क्रियाएँ है परन्तु उनमें प्राण नहीं, जीवन नहीं, धर्मका भाव नहीं, और न हमें उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्राय: एक दूसरेकी देखादेखी, रीतिरिवाजकी पावन्दी अथवा रूढिका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यशः कीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरे ही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती है। उनके मूलमें प्राय: अज्ञानभाव, लोकदिखावा, रूढिपालन, मानकषाय और दुनियासाजीका भाव भरा रहता है, यही उनकी कूक और यही उनकी चावी कुंजी है। उन क्रियाओंको सम्यक्चारित्र नहीं कह सकते, सम्यक्चारित्रके लिये सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाजिमी है और वह लौकिक प्रयोजनोंसे रहित होता है। जो क्रियाएँ सम्यक्ज्ञान-पूर्वक, अपना आत्मीय कर्तव्य समझकर, नहीं की जातीं, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ हैं, मिथ्या चारित्र हैं, और अन्तमें संसारके दु:खोंका कारण हैं। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे

---

* भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठस्तनाविव ॥

प्रसिद्ध होने वाली वर्तमान क्रियाओंको 'सम्यक्चारित्र' न कहकर 'यांत्रिक चारित्र' अथवा जड मशीनों जैसा आचरण कहना चाहिये। उनसे धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नहीं होती *।

इसके सिवाय, जिधर देखिये उधर ही हिंसा, झूठ, चोरी, लूट खसोट, मारकाट, सीनाज़ोरी, विश्वासघात, रिश्वत-घूस, व्यभिचार, बलात्कार, विलासप्रियता, विषयासक्ति और फूटका बाजार गर्म है, छल कपट, दंभ मायाचार, धोखा, दगा, फ़रेब, जालसाज़ी और चालबाज़ीका दौरदौरा है; जूआ भी कुछ कम नहीं, और सट्टेने तो लोगोंका बधना बोरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है, लोगोंके दिलोंमे ईर्षा, द्वेष, घृणा और अदेखसका भावकी अग्नि जल रही है; आपसके वैर-विरोध, मनमुटाव और शत्रुताके भावसे सीने स्याह अथवा हृदय काले हो रहे हैं; भाई भाईमें अनबन, बाप-बेटेमें खिचावट, मित्रों मित्रोंमें वैमनस्य और स्त्री-पुरुषोंमें कलह है, चारों ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है, लोग क्रोधके हाथोंसे लाचार हैं, झूठे मानकी शानमें हैरान व परेशान हैं और लोभकी मात्रा तो इतनी बढी हुई है तथा बढ़ती जाती है कि दयाधर्मके मानने-वाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोंको बेचने लगे हैं, उन्हें अपनी छोटी छोटी सुकुमार कन्या-ओंका हाथ बूढे बाबाओंको पकड़ाते हुए ज़रा भी संकोच नहीं होता, ज़रा भी तर्स या रहम नही आता और न उनका वज्र हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए धडकता या काँपता है। फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो बात ही क्या है? वह तो उनके पास भी नहीं फटकती। प्रायः सभी जातियोंमे कन्याविक्रयका व्यापार बढ़ा हुआ है, खूब सौदे होते हैं, असंतोष फैल रहा है और तृष्णाकी कोई हद नहीं। लोग मंदिर-

---

* 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।'—कल्याणमंदिर।

मूर्तियों और धार्मिक संस्थाओं तकका माल हज़म कर जाते हैं, देव-द्रव्यको खा जाने और तीर्थोंका माल उड़ा जानेमें उन्हें कोई संकोच नहीं होता। इधर झूठी मान बड़ाईके लोलुपी अथवा मिथ्या प्रतिष्ठाके उपासक, विधवाओंके गर्भ गिराकर या उनके नवजात बच्चोंको, प्रसव गुप्त रखनेके अभिप्रायसे, वन-उपवन, कूप-बावड़ी नदी-सरोवर या संडास आदिमें डालकर अथवा जीता गाड़कर, गर्भपात और बालहत्या-दिकके अपराधोंकी संख्या बढा रहे है। और अब तो कहीं कहींसे रोंगटे खडे करनेवाले ऐसे दुराचार भी सुननेमें आने लगे है कि एक प्रतिष्ठित पुरुष अपनी स्त्रीके पेटसे लडका पैदा करनेकी धुनमें, नहीं नहीं पागलपनमें, दूसरे मनुष्यके निर्दोष बच्चेको मारकर उसके गर्म गर्म खूनसे अपनी गर्भवती स्त्रीको नहलाता और खुश होता है। ओह! कितना भयंकर दृश्य है!! कितनी संगदिली अथवा हृद-यकी कठोरता है!! धर्मका, श्रद्धाका, मनुष्यताका कितना दिवाला और आत्माका कितना अधिक पतन है!!! खुदगरज़ीकी भी हद हो गई!!! ये सब बातें धर्मके पतन और उसकी हममें अनुपस्थितिको दिनकरप्रकाशकी तरहसे प्रकट कर रही है। ऐसी हालतमें 'हममेंसे धर्म उठ गया' यह कहना कुछ भी अनुचित या बेजा नहीं है।

परंतु फिर यह सवाल पैदा होता है कि धर्म क्यों उठ गया? किन कारणोंसे हम उसे छोडने अथवा उसकी तरफ पीठ देनेके लिये मजबूर हो रहे है? क्यों उसके धारण या पालन करनेमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती? और इसलिये हमारा दुख क्यों बढ रहा है इस प्रश्नका यह उत्तर कि 'हममेंसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जाता है' ठीक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है—काफी नहीं है। इतने परसे ही हमारी संतुष्टि अथवा भरपाई नहीं होती—हमारे ध्यानमें अपने दुःखोंके कारणोंका नकशा पूरी तौरसे नहीं बैठता—हमें स्पष्टताके साथ यह जाननेकी जरूरत है कि हमारा दुःख क्यों बढ रहा है? वास्तवमें, जो

कारण हमारे दुखके बढनेका है वही हममेसे धर्मके उठ जानेका है। एकके मालूम होनेपर दूसरेको मालूम करनेकी जरूरत नही रहती। एक सवालके अच्छी तरहसे हल हो जानेपर दूसरा खुद-ब-खुद ( स्वयमेव ) हल हो जाता है, और इसलिये हमे वह खास कारण मालूम करना चाहिये जिसकी वजहसे हमारा दुख बढ रहा है या हममेसे धर्म उठ गया और उठता जाता है।

## आवश्यकताओंकी वृद्धि।

जहां तक मैने इस मामलेपर गौर तथा विचार किया और उसके हर पहलूपर नजर डाली, हमारे दुःखोंका प्रधान कारण सिवाय इसके और कुछ प्रतीत नही होता कि 'हमने अपनी जरूरियातको—आवश्यकताओको—फिजूल बढ़ा लिया है, वैसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणातिको विगाड़ लिया है और दिनपर दिन उसमे और वृद्धि करते चले जाते है।' फिजूलकी जरूरियातका बढा लेना ऐसा ही है जैसा कि अपनेको जंजीरोसे बाँधते जाना। एक हाथी पैरमें जंजीरके पड जानेसे ही पराधीन हो जाता है—अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे घूम फिर नहीं सकता—उसको वह सुख नसीब नही होता जो स्वाधीनतामें मिलता था। पराधीनतामे सुख है ही नहीं। कहावत भी प्रसिद्ध है—'पराधीन सुपने सुख नाही'। फिर जो लोग चारो तरफसे जंजीरोमे जकडे हुए हो—फिजूलकी जरूरियातके बन्धनोमें बँधे हों—उनकी पराधीनताका क्या ठिकाना है? और उन्हे यदि सुख न मिले—शांति नसीब न हो—तो इसमे आश्चर्य तथा विस्मयकी बात ही क्या है? व्यर्थकी जरूरियातको बढा लेना वास्तवमे दुःखोको निमंत्रण देना ही नही किंतु उन्हे मोल ले लेना है।

एक मनुष्य छह सौ रुपये मासिक वेतन ( तनख्वाह ) पाता है और दूसरा पचास रुपये मासिक। पचास रुपये मासिक पानेवाले

भाईकी तरक्की ( वृद्धि ) होकर सौ रुपये मासिक हो गये और छह सौ रुपये मासिक पानेवाले भाईकी तनज्जुली ( पदच्युति ) ने एकदम दो सौ रुपयेकी रकम कम कर दी, और उसकी तनख्वाह सिर्फ चार सौ रुपये मासिक रह गई। पचास रुपये पानेवाला भाई अपनी उन्नति तथा पदवृद्धिके समाचार पा कर खुश हो रहा है, आनंद मना रहा है, अगमें फूला नहीं समाता और इष्टमित्रोंमें मिठाइयाँ बाँटता है। प्रत्युत इसके, छह सौ रुपये माहवारका तनख्वाहदार ( वेतनभोगी ) अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी खबर पाकर रो रहा है, झींक रहा है, दुःखितचित्त और शोकातुर हुआ सोच रहा है कि 'मुझसे कौनसी खता अथवा चूक हुई? क्या अपराध बन गया? मैने कौनसा बिगाड़ किया, जिससे मेरा दर्जा घटा दिया गया? किसने मेरी चुगली की? किसने ऑफीसर ( हाकिम ) के सामने मेरी सच्ची झूठी बातें जाहिर कीं? हाय! मेरी तकदीर फूट गई! भाग्य उलट गया!! अब क्या करूँ, कहाँ जाऊं और कैसे करूँ!! बडा दुःख है!!!'

इन दोनों भाइयोंके अन्तःकरणकी हालतको यदि ठीक तौरसे देखा जा सके, तो इसमें संदेह नहीं कि बडी तनख्वाह-वाला दुखी और छोटी तनख्वाहवाला सुखी मिलेगा। परंतु यह क्यों? रुपयेकी कमी वेशी ही यदि सुख दुखका कारण हो, तो बड़ी तनख्वाह वालेको, जिसकी तनख्वाह घट जानेपर भी दूसरे तरक्की पाने वाले भाईसे चौगुनी रहती है, ज्यादा सुखी होना चाहिये—उसके सुखकी मात्रा दूसरेसे चौगुनी नहीं तो तिगुनी या दुगुनी तो जरूर होनी चाहिये। परंतु ऐसा नही देखा जाता, वह दूसरेके बराबर भी अपनेको सुखी अनुभव नहीं करता। इसकी वजह है और वह यह है कि, पचास रुपये पाने वाले भाईने तो अपनी जरूरियातको पचास रुपयेकी बना रक्खा था—पचास रुपयेके भीतर ही अपने सम्पूर्ण खर्चोंको परिमित कर रक्खा था—वेतन आते

ही आटा, दाल, घी, तेल, नमक, मिरच, मसाला, कपड़ालत्ता, जेवर और रिज़र्व फंड वगैरह सब विभागोंमें वह उसका बटवारा कर देता था। अब वेतनके बढ जानेपर एकदम पचास रुपयेकी बचत होने लगी और खर्च प्राय: ज्योंका त्यों रहा, इससे उसे आनंद ही आनंद मालूम होने लगा। परंतु छहसौ रुपयेवाले भाईकी हालत दूसरी थी—उसकी जरूरियात पचास रुपये या सौ दोसौ रुपयेकी नहीं थी बल्कि छह सौ रुपये मासिकसे भी बढी हुई थीं। उसने अपनी जाहिरी हैसियत अथवा स्थितिको छह सौ रुपयेसे भी अधिककी बना रक्खा था—नौकर चाकर, घोडा, गाडी, बाग़ बगीचे, फूल फुलवाडी, कमरेकी शोभा सजावट वगैरह सब तरहका साज़ सामान था; रोजाना हजामत बनती थी, तीसरे दिन पोशाक बदली जाती थी, हर साल घर भरके लिये अच्छे नये नये कपडे सिलते थे और दोचार बार पहन कर ही रद्दी कर दिये जाते थे, मेहमानोंकी सेवा-शुश्रूषा भी खूब दिल खोल कर होती थी, घरमें मेवा, मिठाई, फल, फूल और नाना प्रकारके भोजनोंकी हर दम रेल पेल अथवा चहल पहल रहती थी; स्त्रियाँ देवागनाओं जैसे वस्त्राभूषणोंसे भूषित नज़र आती थीं, उनके जेवरोंकी कोई संख्या अथवा सीमा न थी, और बच्चे मखमल, कमख्वाब, अतलस तथा रेशमसे घिरे हुए और ज़री तथा सलमासितारेके कामोंसे जडे हुए मालूम होते थे, नाटक थियेटरका भी शौक चलता था, प्राय: दो चार मित्रोंको साथ लेकर और उनका भी खर्च स्वयं उठा कर ही वह उन तमाशोंको देखने जाया करता था; बाक़ी विवाह—शादीके खर्चोंका तो कोई परिमाण अथवा हिसाब ही नही था—उनके लिये तो अकसर क़र्ज भी ले लिया जाता था और साथ ही पूर्वजोकी पैदा की हुई सम्पत्ति (जायदाद) का भी सफ़ाया बोल दिया जाता था। अब एकदम दोसौ रुपये मासिककी आमदनी कम हो जानेसे उसको फिक्र पड़ी और चिन्ताने आ घेरा। वह सोचने लगा कि 'किसी नौकरको हटा दूँ, गाड़ी टमटम वगैरहमेंसे किसीको अलग कर दूँ, कमरेकी शोभा सजावट और अपने मनो-

विनोद ( दिल बहलाव ) का सामान कम कर दूँ, मेहमानोकी सेवाशुश्रूषामें आना कानी करने लगूँ या उसमें कमी कर दूँ, स्त्रियों तथा बच्चोंका पहनावा बदल दूँ या उसे कुछ घटिया कर दूँ, इष्ट मित्रोंसे आँखें चुराने लगूँ, नाटक-थियेटरमें जाना या वहाँ खास सीटोंका रिज़र्व कराना बंद कर दूँ, खाने पीनेकी सामग्री जुटानेमें किफायत और अहतियातसे काम लेने लगूँ और या विवाह शादी वगैरहके खर्चोंमे कोई आदर्श कमी कर दूँ'। गरज़, जिस चीज़को कम करने, घटाने या बदलने वगैरहकी बात वह सोचता है उसीसे उसके दिलको धक्का लगता है, चोट पहुंचती है, हैसियत अथवा पोज़ीशनके बिगडने और शानमें बट्टा लग जानेका ख़याली भूत सामने आकर खडा हो जाता है, वह जिस ठाट बाट, साज सामान और आन बानसे अब तक रहता आया है, उसीमें रहना चाहता है; अभ्यासके कारण वे सब बातें उसकी आदत और प्रकृतिमें दाखिल हो गई है, उनमें ज़रा भी कमी या तबदीली उसे बहुत ही अखरती है और इस तरह वह दुख ही दुख महसूस ( अनुभव ) करता है। दूसरे शब्दोंमें यो कहना चाहिये कि अधिक धनके नशेमें जिन ज़रूरियातको फिजूल बढा लिया था वे ही अब उसके गलेका हार बनी हुई है, उन्हें न तो छोड़े सरता है और न पूरा किये बनता है, दोनों पाटोंके बीच जान अजब अज़ाबमें अथवा संकटापन्न है। और इससे साफ ज़ाहिर है कि ज़रूरियातको फ़िज़ूल बढ़ा लेना अपने हाथों खुद दुःखोको मोल ले लेना है—जो जितना ज्यादा अपनी ज़रूरियातको बढाता है वह उतना ही ज्यादा अपनेको दुःखोके जालमे फँसता है।

## दुख-सुख-विवेक।

यहाँपर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि बढ़ी हुई ज़रूरियातके पूरा न होनेमे ही दुख नहीं है बल्कि उनको पूरा करनेमें भी नाना प्रकारके कष्ट उठाने पडते है—उनकी सामग्रीके जुटानेका फ़िक्र, जुटाई

अथवा एकत्र की हुई सामग्रीकी रक्षाकी चिन्ता, रक्षित सामग्रीके खोए जाने या नष्ट हो जानेका भय और फिर उसके जुदा हो जाने, गिरने पड़ने, टूटने फूटने, गलने सड़ने, बिगडने, मैली कुचैली, बेआब और बेकार हो जानेपर दिलकी बेचैनी, परेशानी, अफ़सोस, रज, खेद और शोक, इष्ट सामग्रीके साथ अनिष्टका संयोग हो जानेपर चित्तकी व्याकुलता, घबराहट और उसके वियोगके लिये तड़प, और साथ ही इन सबके संसर्ग अथवा सम्बंधसे नई नई चीजोंके मिलने मिलाने या दूसरे साज-सामानके जोड़नेकी इच्छा और तृष्णा। ये सब भी दुखकी ही पर्याय है—उसीकी जुदागाना शकलें अथवा विभिन्न अवस्थाएँ है । दुखके विरोधी सुखका लक्षण ही निराकुलता है और वह चिंता, भय, शोक, खेद, अफ़सोस, रज, बेचैनी, परेशानी, आकुलता, घबराहट, इच्छा, तृष्णा, बेताबी और तडप वगैरह दुखकी पर्यायोंसे रहित होता है। जहाँ ये नहीं, वहाँ दुख नही और जहाँ ये मौजूद हैं वहाँ सुखका नाम नही। दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि यदि सुखकी ये पर्यायें—शकले और हालते—बनी हुई है, तो कोई मनुष्य बाहरके बहुतसे ठाट-बाट, साज-सामान और वैभवके होते हुए भी सुखी नही हो सकता । उदाहरणके लिये लीजिये, एक मनुष्य को १०५ दर्जे से भी ऊपरका बुखार है और इसलिये उसकी बेचैनी और परेशानी बढ़ी हुई है, उसको रेशमकी डोरीसे बुने हुए, मखमल बिछे हुए सोने चाँदीके पलगपर लिटा देने और ऊपरसे कमख्वाबका जरीदोज चँदोया बाँध देनेसे क्या उसके उस दुखमें कोई कमी हो सकती है? कदापि नही। एक दूसरे आदमीके पास खूब धन दौलत, ज़मीन जायदाद, जेवर कपडे, महल मकान, हाट दुकान, बाग बागीचे, नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, रथ बहल, सुशीला स्त्री, आज्ञाकारी बच्चे और प्रेमी भाई बहन वगैरह सब कुछ विभूति मौजूद है। आप कहेगे कि वह बडा सुखी है। परन्तु उसके शरीरमें एक असाध्य रोग हो गया है जो बहुत कुछ उपचार करनेपर भी दूर नहीं हो सका। उसकी वजहसे वह

वहुत ही हैरान और परेशान है, उसको किसी भी चीज़में आनन्द मालूम नहीं होता और न किसीका बोल सुहाता है, वह अलग एक चारपाईपर पड़ा रहता है, मूँगकी दालका पानी भी उसको हज़म नहीं होता—नहीं पचता—दूसरोको नाना प्रकारके भोजन और तरह तरहकी चीजें खाते पीते देखकर वह झुरता है, अपने भाग्यको कोसता है, और जब उसे संसारसे अपने जल्दी उठ जाने और उस संपूर्ण विभूतिके वियोगका खयाल आ जाता है, तो उसकी वेदना और तड़पका ठिकाना नहीं रहता, वह शोकके सागरमें डूब जाता है, और तब उसकी वह सारी विभूति मिलकर भी उसे उस दुखसे निकालनेमें जरा भी समर्थ नहीं होती। अब एक तीसरे ऐसे शख्शको भी लीजिये जिसके पास उपर्युक्त सपूर्ण विभूतिके साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्यकी—तन्दुरुस्तीकी—भी खास सम्पत्ति मौजूद है और जो खुब हट्टा कट्टा, हृष्ट पुष्ट तथा वलवान् और ताक़तवर वना हुआ है। उसे तो आप जरूर कहेंगे कि वह पूरा सुखिया है। परन्तु उसके पीछे फौजदारीका एक जवरदस्त मुक़द्दमा लगा हुआ है, जिसकी वजहसे उसकी जान अजावमे अथवा सकटापन्न है। वह रात दिन उसीके फ़िक्रमें डूबा रहता है। चलते फिरते, खाते पींते और सोते जागते उसीकी एक चिता और उसीकी एक धुन उसके सिरपर सवार है; उसकी मौजूदगीमें अपना सब ठाट वाट और साज सामान उसे फीका फीका नजर आता है, रसोईमे छत्तीस प्रकारके भोजन तय्यार हैं और स्त्री वडी विनय-भक्तिके साथ लघुपुत्रसहित खडी हुई प्रेमभरे शब्दोंमें प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ! कुछ थोडासा भोजन तो जरूर कर लीजिये' परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमें कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नहीं होता, वह वडी उपेक्षा—वेरुखी—अथवा झुँझलाहटके साथ उत्तर देता है कि 'तुझे भोजनकी पडी, यहाँ जानको वन रही है, दस वज गये, रेलका वक्त हो गया, मुक़द्दमेकी पेशीपर जाना है!!'

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—फ़िक्रात वग़ैरहके ग़ालिब आनेपर—बाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूति और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नही बना सकती—वह प्रायः दुःखोंसे ही घिरा रहता है *। अनेक कवियोंने तो चिंताको चिताके समान बतलाया है। दोनोंमें भेद भी क्या है? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है। उर्दूमें लिखिये तो चिंतापर चितासे एक नुक़्ता (.) ज्यादा आएगा और हिन्दीमें लिखनेसे एक बिन्दी अधिक लगानी होगी। परन्तु इस नुक़्ते या बिन्दीने ग़ज़ब ढा दिया! चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिंता जीवितको ही भस्म कर देती है!! जिस शरीररूपी वनमे यह चिता ज्वाला दावानलकी तरहसे खेल जाती है, उसमें प्रकट रूपसे धुआँ नज़र न आते हुए भी भीतर ही भीतर धुआँधार रहता है, काँचकी भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त मांस सब जल जाता है, सिर्फ हाडोंका पंजर ही पंजर चमडेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है। ऐसी हालतमें जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नहीं कह सकते। इसीसे ऐसे लोगोंके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते हैं—

चिता ज्वाल शरीर वन दावानल लग जाय।<br>
प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अन्तर धुँधवाय॥<br>
उर अन्तर धुँधवाय जले ज्यो काँचकी भट्टी।<br>
रक्त मांस जर जाय रहे पिंजरकी टट्टी॥<br>
कहे गिरधर कविराय सुनो रे मेरे मिता।<br>
वे नर कैसे जिये जाहि तन व्यापी चिता॥

---

* चिता चितासमाख्याता बिन्दुमात्रविशेषतः।<br>
सजीव दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता॥

निःसन्देह, चिंता ऐसी ही बुरी चीज़ है, वह मनुष्यको खा जाती है और उसकी जननी ज़रूरियातकी अफ़ज़ूनी—आवश्यकताओंकी वृद्धि—है। जितनी जितनी ज़रूरियात बढ़ती जाती है उतनी उतनी चिंताएँ पैदा होती जाती हैं। इसीसे भगवान् महावीर और दूसरे धर्माचार्योंने गृहस्थोंके लिये जरूरियातको घटानेकी—परिग्रहको कम करके संतोष धारण करनेकी—बात कही है, परिग्रहको पाप लिखा है और अधिक आरम्भी तथा अधिक परिग्रहीको नरकका अधिकारी अथवा महमान बतलाया है। अत. सुखप्राप्तिके लिये ज़रूरियातको कम करना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है, इसे बुद्धिमान पुरुष स्वयं समझ सकते है।

वास्तवमें सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहींपर बिकती हो, किसी दूकान, हाट या बाज़ारसे किसी भी कीमतपर ख़रीदी जा सके, किसीकी खुशामद, सिफ़ारिश या प्रेरणासे मिल सके या बदला करके लाई जा सके, बल्कि वह आत्माका निज गुण है—आत्मासे बाहर उसकी कहीं भी सत्ता नही है। संसारी जीव आत्माको भूल रहे है और इसलिये अपनी आत्मामें सुखकी जो अनुपम तथा अपार निधि गडी हुई है, उसे नहीं पहचानते और न उसकी प्राप्तिके लिये कोई यथेष्ट उपाय ही करते है। वे अपनी आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें सुखकी कल्पना किये हुए हैं, उनको ही अपने सुखका एक आधार मान बैठे हैं—उन्हें ही सब कुछ समझ रहे है—और इसलिये उन्हींके पीछे भटकते और उन्हींकी प्राप्तिके लिये रातदिन हैरान-परेशान और दत्तावधान हुए मारे मारे फिरते है। परन्तु उनको यह ख़बर नहीं कि पर-पदार्थ तीन कालमें भी अपना नहीं हो सकता और न जड़ कभी चेतन बन सकता है, उसे अपना समझकर सुखकी कल्पना कर लेना भूल है; उसके संयोगके साथ वियोग लगा हुआ है—जिसका कभी संयोग होता है उसका एक न एक दिन वियोग जरूर होता है—चाहे वह हमसे पहले बिछुड जाय और या हम ही उससे पहले चलते बनें, ग़रज़ वियोग

ज़रूर होता हे। और जिसके संयोगमें सुख मान लिया जाता है अथवा यों कहिये कि माना हुआ होता है, उसके वियोगमें नियमसे दुख उठाना पडता हे | इसलिये ऐसे सब ही परपदार्थ अन्तको दुखके कारण होते हैं। बीचमें भी किसी चिन्ता आदिके उपस्थित हो जानेपर उनका सारा सुख हवा हो जाता अथवा काफूर बन जाता है। अपनी ही ख़ास स्त्रीकी बाबत यदि यह मालूम हो जाय कि वह अब बदचलन या दुःशीला हो गई हे—गुप्त व्यभिचार करती है—तो उसके साथ मिलने जुलनेका आनन्द जाता रहे, एक मित्रकी बाबत यदि यह पता चल जाय कि वह परोक्ष रूपसे अपनेको हानि पहुँचाता है तो मित्रताका सारा मज़ा किरकिरा हो जाय, और यदि एक अच्छे प्यारे सुन्दर तथा सुडौल बने हुए मकानकी बाबत बादको यह बात दिलमें बैठ जाय कि वह मनहूस है—अशुभ अथवा अमांगलिक है—तो वह उसी वक्तसे अपनेको काटने लगे और उसमे रहना भारी पड जाय। दूसरे चेतन अचेतन पदार्थोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है।

इसी तरहपर उनको यह भी खबर नही कि बाह्य पदार्थोंमें जो सुखका अनुभव होता है वह ख़ास उन पदार्थोंका अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाला सुख नहीं, बल्कि उनकी प्राप्तिके लिये हमारे अन्तःकरणमें जो एक प्रकारकी तडप, वेदना, या तृष्णा हो रही थी उसकी यत्किंचित् शांतिका सुख है। यदि वैसी कोई वेदना, तडप या तृष्णा न हो, तो उन पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ भी सुखका अनुभव नहीं किया जा सकता; और इसी लिये वह सुखकी अनुभूति प्रायः वेदनाके अनुकूल होती है—वेदनाकी कमी बेशी आदिकी अवस्थाके अनुसार बाह्य पदार्थोंके सम्बन्ध-पर आधार रखती है। यदि ऐसा न माना जाय, बल्कि उन बाह्य पदार्थोंको ही स्वय सुखका मूलकारण समझ लिया जाय तो चार रोटी खानेवालेको आठ रोटी खा लेनेसे डबल सुख होना चाहिये और जाडोंके लिहाफ़ वगैरह भारी भारी गर्म कपडोको सख्त गर्मीके दिनोमें ओढने

पहननेसे जाड़ों जैसा आनन्द मिलना चाहिये। परन्तु मामला इससे बिलकुल उलटा है—आठ रोटी खा लेनेसे उस आदमीकी जानपर आ बने, पेट फूल जाय, दर्द या कै ( वमन ) होने लगे अथवा चूर्ण गोलीकी ज़रूरत खड़ी हो जाय, और जाडोंके वे भारी भारी गर्म कपडे गर्मियोंमें पहनने ओढनेसे चित्त एकदम घबरा उठे और सिरमें चक्कर आने लगे। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थोंमें स्वय कोई सुख नहीं रक्खा है और न वेदनाके पैदा होते रहने और उसका इलाज या उपचार करते रहनेमें ही कोई सुख है, बल्कि उसके पैदा न होने और इलाज तथा उपचारकी ज़रूरत न पडनेमें ही सुख है ।

वास्तव में यदि ध्यानसे देखा जाय तो पर-पदार्थोंमे सुख है ही नहीं, उनमें सुखका आधार एक मात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुखको सुख नही कह सकते, वह सुखाभास है—सुखसा दिखलाई देता है—मृगतृष्णा है। और इसलिये पर-पदार्थोंमें सुख कल्पित करनेवालोंकी हालत ठीक उन लोगों जैसी है जो एक पर्वतकी दो चोटियोंके मध्य-स्थित सरोवरमें किसी बहुमूल्य हारके पीछे गोते लगाते और लगवाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानीमें वह हार दिखलाई तो ज़रूर पड़ता था लेकिन पकडनेपर इधरसे उधर उचक जाता था और हाथमें नहीं आता था, और इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है? इतनेमें एक जानकार शख्सने आकर उन्हें बतलाया था कि 'हार उस सरोवरमें नहीं है, और इसलिये कोटि वर्ष-पर्यन्त बराबर गोते लगाते रहनेपर भी तुम उसे नहीं पा सकते, वह इस सरोवरके बहुत ऊपर पर्वतकी दोनों चोटियोंके अग्रभागसे बँधे हुए एक तारके बीचमें लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्बसे जलको प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ-कर वहाँ तक पहुँचनेकी कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे,

अन्यथा नहीं—तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहनकी क्रिया व्यर्थ है।'

इसमें सन्देह नहीं कि जो चीज़ जहाँ मौजूद ही नहीं वह वहाँपर कितनी भी ढूंढ़ खोज क्यों न की जाय कदापि नही मिल सकती। कोई चीज़ ढूंढने अथवा तलाश करनेपर वहीसे मिला करती है जहाँपर वह मौजूद होती है। जहाँ उसका अस्तित्व ही नही वहाँसे वह कैसे मिल सकती है? सुख चूंकि आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें नहीं है इसलिये उन पदार्थोंमे उसकी तलाश फ़िज़ूल है, उसे अपनी आत्मामें ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलोंके नीचे दबा हुआ है, हमारी कैसी परिणतिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है। परन्तु हम अपनी आत्माकी सुध भूले हुए है, उसकी सुखकी निधिसे बिलकुल ही अपरिचित और अनभिज्ञ हैं और इसलिये सुखकी तलाश आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें—विजातीय वस्तुओंमे—करते हैं। सुखकी प्राप्तिके लिये उन्हींके पीछे पडे हुए हैं—यहाँसे भी सुख मिलेगा, यह भी हमको सुख दे सकेगा, इसी प्रकारके विचारोंसे बँधे हुए हम उन्हीं पदार्थोंका संग्रह बढ़ाते जाते है, उन्हीकी ज़रूरियातको अपने जीवनके साथ चिपटाते रहते हैं और इस तरहपर खुद ही अपनेको दुःखोंके जालमे फँसाते और दुखी होते है, यह अजब तमाशा है!!

## अपनी भूल।

एक तोता नलिनीपर आकर बैठता है और उसकी नलीके घूम जाने से उलटा होकर उसे पकडे हुए लटका रहता है, उडनेकी खुली शक्ति होते हुए भी नही उडता, इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि वह उस वक्त अपनी आकाश-गतिको भूल जाता है, उड-नेकी शक्तिका उसे ध्यान नहीं रहता और यह समझने लगता है

कि मुझे इस नली ने पकड रक्खा है। यद्यपि उस नलीने उसे ज़रा भी नहीं पकडा, उसने खुद ही अपने पंजोंसे उसे दबा रक्खा है, वह चाहे तो अपने पंजोंको खोल कर उस नलीको छोड़ सकता है और खुशीके साथ आकाशमें उड़ सक्ता है। परंतु अपनी भूल और नासमझीकी वजहसे वह वैसा न करके उलटा लटका रहता है और फिर शिकारीके हाथमें पड़कर तरह तरहके दुःख तथा कष्ट उठाता है। ठीक ऐसी ही हालत हमारी है, हम अपनी आत्माके स्वरूप और उसके सुखस्वभावको भूले हुए हैं और यह गलत समझे हुए हैं कि इन परिग्रहो अथवा जरूरियातने, जिनको हमने ही बढाया और हमने ही अपने पीछे लगाया है, हमारा पिण्ड पकड़ रक्खा है और वे अब हमको छोडते नहीं है। इसीसे उस तोतेकी तरह हम भी नाना प्रकारके वधबन्धनोंमे पड़कर दुःखोमे अपना आत्मसमर्पण कर रहे है--अपनेको दुःखों.ी भेट चढ़ा रहे हैं। हमारी इस दशाको ध्यान में रखते हुए ही कविवर पं० दौलतरामजीने यह वाक्य कहा है—

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभचाल विसरि, नलिनी लटकायौ॥

यह वाक्य हमपर बिलकुल चरितार्थ होता है। यदि अब भी हम अपनी भूलको सुधार लें और अपने सुख-दुखके साधनों तथा कारणोंको ठीक तौरपर समझ जायँ तो हम आज भी अपनी जरूरियातको घटा कर, परिग्रहको कम करके, और रीतिरिवाजको बदलकर बहुत कुछ सुखी हो सकते हैं। यह सब हमारे ही हाथका खेल हैं और उसे करनेके लिये हम सब प्रकारसे समर्थ हैं—सिर्फ भूलका ज्ञान और उसके सुधारके लिये मनोबलकी जरूरत है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे यदि हमें सुख मिल सकता है, तो वह तभी मिल सकता है

जब कि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ हर वक्त हमारी इच्छाके अनुसार प्रवर्ता करें—उनके सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा अलटन पलटन और उनकी गति-स्थितिको लिये हुए समस्त क्रियाएँ हमारी मर्जी तथा रुचिके अनुकूल हुआ करे। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि उन पदार्थोंका परिणमन—उनमें किसी परिवर्तन अथवा क्रिया-विक्रियादिकका होना—स्वयं उनके अधीन है—उनके स्वभावके आश्रित है—हमारे अधीन नही। जो लोग उनको सब तरहसे अपने अधीन चाहते हैं और खाली इस प्रकारकी कामनाएँ किया करते हैं कि—इस वक्त वर्षा हो जाय, क्योंकि सख्त गर्मी पड रही है या हमारा खेत सूखा जा रहा है; इस समय वर्षा न होवे या बन्द हो जाय, क्योंकि हम सफ़र ( यात्रा ) में है या सफ़रको जा रहे हैं, हमारे मकान टपके नही, उनमें वर्षाकी बौछार न आवे, जाड़ोंमें ठंडी और गर्मियोमें गर्म हवा न घुसे, वे ज्योंके त्यों बने रहें, टूटे फूटें भी नही और न मैले कुचैले ही हों, हमारे शरीरमें कोई रोग पैदा न हो, कोई बीमारी हमारे पास न आए हम खूब हृष्ट पुष्ट, तन्दुरुस्त, बलवान् और जवान बने रहे, हमारे बाल भी सफेद न होने पाएँ, हमारे कपड़े जैसेके तैसे उजले और नए बने रहे, वे फटे भी नहीं और न उनपर कहीं कोई दाग धब्बा या खुरे आदिका निशान ही होने पावे, हमारी किसी चीजको नुकसान न पहुँचे, किसीका रंग रूप भी न बिगडे और न कोई घिसे या घिसावे, हमको किसी भी इष्ट वस्तुका वियोग न सहना पड़े, हमारे कुटुम्बके सब लोग तथा मित्रादिक कुशल-क्षेमसे रहें, हमे उनमेंसे एकका भी दुख न देखना पड़े, हमारा कोई विरोधी या शत्रु पैदा न हो, किसी अनिष्टका हमारे साथ सयोग न हो सके, हमारी पैदा की हुई इज्जत प्रतिष्ठा या बातमें किसी तरह भी फ़र्क न आवे—वह ज्यों की त्यो बनी रहे—और हम सब प्रकारके आनंद तथा सुख भोग करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें; वगैरह वगैरह। ऐसे लोग फ़िज़ूल हैरान तथा परेशान होते है और व्यर्थ ही

अपनेको दुखी बनाते हैं; क्योंकि उन कामनाओंका पूरा होना सब तरहसे उनके अधीन नहीं होता, वे जिन सुखोंको चाहते है वे सब बहुत कुछ पराश्रित और पराधीन है, और पराधीनतामें कहीं भी सुख नही है। सुखका सच्चा उपाय 'स्वाधीन-वृत्ति' है। जितनी जितनी स्वाधीनता—आज़ादी और खुदमुख्तारी—बढती जाती है, दूसरेकी बीचमें ज़रूरत या अपेक्षा नहीं रहती, उतनी उतनी ही हमारे सुखमें बढवारी होती जाती है, और जितनी जितनी पराधीनता—गुलामी, मुहताजी और बेबसी—उन्नति करती जाती है उतनी उतनी ही हमारे दुःखमें वृद्धि होती जाती है। फिजूलकी जरूरियातको बढ़ालेनेसे पराधीनता बढ़ती है और उससे हमारा दुख बढ़ जाता है। अतः हमको, जहाँ तक बनसके, अपनी ज़रूरियातको बढाना नहीं चाहिये बल्कि घटाना चाहिये और ऐसी तो किसी भी जरूरतका अपनेको आदी, व्यसनी या वशवर्ती न बनाना चाहिये जो फ़िज़ूल हो या जिससे वास्तवमे कोई लाभ न पहुँचता हो। ऐसा होनेपर हमारा दुख घट जायगा और हमें सुख आसानीसे मिल सकेगा।

## एक प्रश्न।

यहाँपर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि ज़रूरियात तो ज़रूरियात ही होती है उनमें फ़िज़ूलियात क्या, जिनको छोडा या घटाया जावे? अतः इसकी भी कुछ व्याख्या कर देनी ज़रूरी और मुनासिब मालूम होती है। यह ठीक है कि जरूरियात ज़रूरियात ही होती है परन्तु बहुतसी जरूरियात ऐसी भी होती है जो फिजूल पैदा कर ली जाती हैं या जिनको पूरा न करनेसे वस्तुत. कोई हानि नहीं पहुँचती। ऐसी सब जरूरियात फ़िज़ूलियातमें दाखिल हैं और वे आसानीसे छोड़ी या घटाई जा सकती है। कल्पना कीजिये, एक मनुष्य क्रोधकी हालतमें अपने पेटमें छुरी या सिरमें ईंट मारकर घाव कर लेता

है और फिर उसपर मर्हम पट्टी करने बैठता है, घावकी वह मर्हम-पट्टी जरूरी हो सकती है परन्तु यह जरूर कहना होगा कि उसने उसकी जरूरियात को फिजूल अपने आप पैदा किया है और वह आगेको वैसी कुचेष्टाओंसे बाज ( विमुख ) रह सकता है। एक आदमी बहुतसी शराब पीकर अपनी विषयवासनाको भडकाता अथवा उत्तेजित करता है और इससे उसे बेवक्त ही एक स्त्री की ज़रूरत पैदा होती है, यह ज़रूरत भी फ़िज़ूलकी जरूरत है—स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नही है—और उसको पूरा न करनेसे कोई ख़ास नुकसान नही पहुँचता। इस तरहकी न मालूम कितनी ज़रूरियातको हम पैदा करते रहते हैं और उनको पूरा करनेमें अपनी शक्तिका व्यर्थ ही नाश तथा दुरुयोग करते चले जाते हैं।

एक छोटेसे बच्चेको, जिसे भले बुरेकी कुछ भी पहिचान अथवा तमीज़ नहीं है और जिसे चाहे जिस साँचेमें ढाला जा सकता है, उसके माता पिता यदि बढ़िया बढिया रेशम, कमख्वाब, अतलस, मख़मल, और सुनहरी कामके वस्त्र पहनाते हैं और इस तरह उसमें शौक़ीनी तथा विलासिताका भाव भरते हैं, जिसकी वजहसे वह बादको साधारण सादे वस्त्र पहनना पसंद नहीं करता और उसके शौक़ तथा हठको पूरा करनेके लिये फिर वैसे ही या उससे भी अच्छे बढिया बहुमूल्य वस्त्रोंकी ज़रूरत खडी होती है तो क्या यह फ़िज़ूलकी ज़रूरत पैदा करना नहीं है? अवश्य है। और यदि उसे पैदा न करके या पूरा न करके उस बच्चेको सादा कपडे ही पहननेको दिये जायँ तो इससे उस बच्चेकी तन्दुरुस्ती या स्वास्थ्य वगैरहको कोई नुक़सान नहीं पहुँच सकता।

खाना पीना जीवित रहनेके लिये ज़रूरी ज़रूर है परन्तु बढिया, शौकीनी, चटपटे मसालेदार, अधिक गरिष्ठ, अधिक भारी, देरसे पचने वाला और खूब उत्तेजक खाना पीना, परिमाणसे अधिक खाना और हर वक्त या बेवक्त खाना उसके लिये कोई ज़रूरी नहीं है। ऐसे खाने पीने तथा आटेके स्थानमें मैदेका ही अधिक व्यवहार करनेकी वजहसे यदि

पेट खराब हो जाय, पाचनशक्ति जाती रहे, स्वास्थ्य बिगड़ जाय औ
हर वक्त चूर्ण गोली या दवाईके सेवनकी अथवा हकीम-डाक्टर या वैद्य
पास जानेकी जरूरत रहने लगे तो क्या इस व्यर्थकी ज़रूरतकी कभ
पीठ ठोकी जा सक्ती है ? कदापि नही। उसे जहॉ तक बन सके शीः
ही भोजनमे सुधार और संयमसे काम लेकर दूर कर देना चाहिये। हमा
स्वास्थ्यकी ख़राबीका अधिकतर आधार इस खाने पीनेकी गड़बड़ी,
असावधानी या जिह्वाकी लोलुपता, शौकीनी और संयमकी कमीपर ही
है, और इससे हमारी शक्तियोंका बहुत ही दुरुपयोग हो रहा है और हम
अपने बहुतसे कर्तव्योंकी पूर्तिसे वञ्चित रहते है।

पहनने ओढनेका भी ऐसा ही हाल है। कपड़ा तन बदनको ढकने
और सर्दी गर्मीसे बचनेके लिये होता है और उसकी यह ग़रज़ बहुत
सादा तरीकोंपर अच्छी तरहसे पूरी की जा सकती है। कोई पचास
साठ वर्ष पहले हमारी माताएँ और बहने अपने काते हुए सूतके कपड़े
तय्यार कराती थी और वे गाढेके कपड़े घरभर के लिये काफी हो जाते
थे। करीब चालीस पचास रुपयेकी लागतमे एक अच्छे कुटुम्बका ख़ुशीसे
पूरा पट जाता था। स्त्रियॉ अपने दावन ( लहँगे ) ओढ़ने कसूंभे आदिके
प्राकृतिक रंगमे ही रॅग लेती थीं और प्रायः वैसे ही दावन ओढ़ने विवाह-
शादियोंमें दुलहनो ( बहुओं ) को चढ़ाए जाते थे। परंतु आज नुमाइश-
का भूत या खब्त हमारे सिरपर कुछ ऐसा सवार है कि उसके पीछे हम
हर साल लाखों और करोडों रुपये फिजूल खर्च कर डालते है, विदेशी
कपडोकी चमक दमक और रंग ढगने हमारी ऑखें खराब कर रक्खी है
और हमें अपने पीछे पागल सा बना रक्खा है। कपड़ोंकी भी कोई
गिनती नहीं और न उनकी लागतका ही कोई तखमीना, अन्दाज़ा
अथवा परिमाण पाया जाता है। भला एक छोटेसे बेखबर बच्चेको
बीस, तीस, पचास या सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्यकी पोशाक पहना देने
से क्या नतीजा है, जिसको अपने तन बदनकी कुछभी होश नहीं; जो

उस कपडेकी कीमत और कद्रको नहीं जानता, झटसे उसे मैली या खराब कर देता है और जिसको उसके पहननेमें कुछ भी आनन्दका अनुभव नही होता बल्कि कभी कभी तो भार सा मालूम पडता है ? इसे खब्त नहीं तो और क्या कह सकते हैं ? ऐसे बच्चोंके माता पिता सच-मुच ही उनके माता मिता अथवा हितैषी नही किन्तु शत्रु होते है, क्योंकि वे उनमें शौकीनी तथा नुमाइशका भाव भरकर उनकी आगामी ज़रूरियातको फिजूल बढाने और उनके जीवनको भाररूप बनानेका आयोजन करते हैं—सामान जोडते अथवा बीडा बॉधते है। इसी तरह-पर स्त्रियोंकी पोशाक और उनके जेवरातकी हालत समझिये। उनके पीछे समाजका बेहद रुपया फिजूल खर्च होता है। जिन स्त्रियोंको बोलने तककी तमीज़ नही—विवेक नहीं—वे भी सिरसे पैर तक बहुमूल्य वस्त्रों तथा जेवरोंसे लदी रहती हैं। मालूम नहीं, इससे उनको क्या पोष चढता है, उनकी आत्माको क्या लाभ और उनकी तन्दुरुस्तीको क्या फायदा पहुँचता है ?

बाकी रहे विवाह-शादियोंके खर्च, उनका तो कोई ठिकाना ही नही। उनके साथमें तो फिजूलियातका एक बडा अध्यायका अध्याय खुला हुआ है—रोपना, सगाई, संजोया, टोपी, चिट्ठी, टेवा, हलद, मँढ़ा, लगन, भात, जीमन जोनार, भाजी, नौता, गाना बजाना, नाचना, सीठना, बेल बासना, घोड़ीका चाव, चढ़त, बढियार, फेरे, सस्कार, बूर, बखेर, पत्तल, परोसा, दात, खैरात, मिलाई, दहेज, बरीपट्टा, रुखसत, बिदा और गौना वगैरहकी न मालूम कितनी और कैसी कैसी रस्में अदा करनी पड़ती है और उनमें कितना खर्च होता है !! एक लाला साहबसे मालूम हुआ कि उनके पहले पुत्रकी शादीमें दुलहनके लिये दावनकी जो तीयल तैय्यार कराई गई थी उसको पॉचसौ रुपयेकी लागत लगती रही थी, दूसरे पुत्रकी शादीमें नौ सौ रुपयेकी लागत आई और अब तीसरे पुत्रके विवाहमे पन्द्रह सो रुपयेसे भी अधिक लागत-

की तीयल तैय्यार कराई गई है। एक दावन, ओढ़ने और आँगीकी लागतका जब यह हाल है तब विवाहके कुल खर्चोंका तख़मीना, जिसमें ज़ेवर भी शामिल है, कितने हज़ार होगा, इसे पाठक स्वयं ही समझ सक्ते हैं। अब तो टोपियोंके साथ चाँदीके बर्तन वग़ैरहके अतिरिक्त बड़ा ग्रामोफोन बाजा और बर्फ़ बनानेकी मशीन तक भी खेल-खिलौनोंके तौरपर दी जाने लगी है! इससे ज़ाहिर है कि विवाह शादियोंके ख़र्च दिनपर दिन बढ़ते जाते है और ये सब फ़िज़ूल ख़र्च हमारे खुदके बढ़ाए हुए हैं। समझमे नही आता, जब विवाहकी असली गरज और उसका खास काम बहुत थोड़ेसे रुपयोमे भी पूरा हो सकता है, तब उसके लिये हजारों रुपये खर्च करना कौन बुद्धिमत्ता और अक्लमन्दीकी बात है? और वह फिजूलियात नहीं तो और क्या है? क्या एक विवाहमे अधिक खर्च कर देनेसे घरमे एककी जगह दो बहुएँ आजायँगी या लड़कीका सुहाग (सौभाग्य) कुछ बढ़ जायगा? और क्या स्त्रियाँ यदि बहुमूल्य वस्त्राभूषण न पहन कर सादा लिबासमें रहने लगें तो इससे उनका स्त्रीपना ही नष्ट-भ्रष्ट अथवा रद्द और अमान्य हो जायगा? यदि ऐसा कुछ नही है तो फिर फिजूल ज्यादा खर्च करके अपनेको दीन, हीन तथा मुहताज बनाने और मुसीबतोंके जालमे फँसानेकी क्या जरूरत है? इन विवाह शादियोंके फिजूल खर्चोंने ही लड़कियो-को माता पिताके लिये भारी बना दिया है और वे अक्सर उनका मरना मनाते रहते हैं! यह कितने दुःख और अफसोस-की बात है!!

इसी तरहकी और भी मरने, जीने, मिलने, बिछुड़ने, उत्सव, त्योंहार, बनावट, सजावट, खेल, तमाशे, शौक़ीनी, विलासता और मनोविनोद आदिसे सम्बन्ध रखने वाली बहुतसी जरूरियात फ़िज़ूल हैं, जिनको हमने ख्वाहमख्वाह अपने पीछे लगा रक्खा है और यदि हम

चाहे तो उनको खुशीसे छोड सकते या कम कर सकते हैं। इन सब फिजूलकी जरूरियातने ही हमारे दुखको बढ़ा रक्खा है, हमारे जीवनको बहुत ही खर्चीला ( expensive ) या अधिक धनपर आधार रखने वाला बनाकर हमको अच्छी तरहसे तबाह और बर्बाद कर रक्खा है, इन्हींकी बदौलत हमारी आदत और प्रकृति बिगड़ गई है और हम धर्म या ईश्वरके उपासक न रहकर खाली धनके उपासक बन गये हैं, और इन्हींके कृपाकटाक्षका यह फल है जो हमारा धर्म-कर्म सब उठ गया, हममे वे सब बुरे कर्म अथवा पापाचरण घुस गये जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और हम अपने पूर्वजोके आदर्शसे बिलकुल ही गिर गये है।

## आदर्शसे गिर जाना।

हमारे पूर्वज पहले कितने सादा चालचलनके होते थे और कितना सादा जीवन व्यतीत करते थे, यह बात किसीसे भी गुप्त अथवा छिपी नहीं है। उनका खाना पीना, पहनना ओढ़ना, शयन आसन और रहन सहनका सब सामान सादा तथा परिमित था, वे व्यर्थकी टीपटाप, नुमायश अथवा लोकदिखावेको पसन्द नही करते थे और न अपनी शक्तिको व्यर्थ खोना उन्हे अच्छा मालूम होता था। इसीसे फ़िक्रात उन्हें नही सताते थे, भय-विकार उनपर अपना अधिकार जमाने नही पाते थे, और वे खूब हृष्टपुष्ट, नीरोग तन्दुरुस्त, बलवान्, बहादुर, पराक्रमी, निर्भयप्रकृति, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, उदार-विचार, वचनके सच्चे, प्रणके पक्के, धर्मपर स्थिर और अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें बहुत कुछ सावधान तथा कटिबद्ध होते थे। उनके समय-में यदि कोई किसीसे कर्ज़ लेता था तो उसके लिये आम तौरपर किसी रुक्के, चिट्ठी, प्रॉमेसरी नोट, तमस्सुक या रजिस्टरीकी कोई ज़रूरत नही होती थी; एक अनपढ़ अथवा अशिक्षित व्यक्तिका महज़ क़लमको छू देना या उससे कोई तिरछी बॉकी लकीर सी खींच देना भी रजि-

स्टरीसे ज्यादा असर रखता था, उस वक्तके कर्जोंमें तमादी आरिज नहीं होती थी—कालकी कोई मर्यादा उन्हें अदेय नहीं ठहराती थी—किसीका लेकर नहीं भी दिया करते यह वात सिखलाई ही नहीं जाती थी। यदि किसीको क़र्ज़ा देते अथवा अपना ऋण चुकाते नहीं बनता था या उसके भुगतानमें देर हो जाती थी और इसपर साहूकार उससे यह कहता था कि 'भाई! तुमसे क़र्ज़ा देते अथवा ऋण चुकाते नहीं वनता है, अतः मैं हिसाव-वहीमें तुम्हारे नामको छेक दूँ, विदिया दूँ और अपनी रक़मको बट्टेखाते डाल दूँ, तो इसको सुन कर वह क़र्ज़दार (ऋणी पुरुष) कॉप जाता था और हाथ जोड़ कर कहने लगता था कि 'नहीं, ऐसा कभी मत करना, जव तक मेरे दममें दम और वदनमें जान-प्राण वाकी हैं, मैंने जिन ऑखों आपका कर्ज़ा लिया है उन्हीं ऑखों उसे भुगताऊँगा, कौडी कौडी अदा करूँगा, देर ज़रूर है मगर अन्धेर नहीं, और यदि अपने जीवनमें किसी तरहपर मैं अदा न कर सका तो मेरे बेटे, पोते, पडपोते, यहाँ तक कि मेरी सात पीढ़ी उसको अदा करेगी, आप उसकी चिन्ता न करें। जव आपसे लिया गया है तव वह आपको दिया क्यों न जाय?' कितने मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उद्गार है—दिलको हिला देनेवाले कलाम अथवा वचन हैं—और इनसे किस दर्जे सचाई तथा ईमानदारीका प्रकाश होता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते है। सचमुच ही वह ज़माना भी कितना अच्छा और सच्चा था और उसकी वातोंसे कितना सुख तथा शांतिरस टपकता है।

परंतु आज नक़्शा विलकुल ही वदला हुआ है। आज उस क़र्ज तथा दूसरे ठहरावोंके लिये दस्तावेज़ात लिखाई जाती है, दस्तख़त (हस्ताक्षर) होते हैं, अंगूठे लगते हैं, रजिष्टरी कराई जाती है और रजिष्टरीपर रुपया दिया जाता है; फिर भी वादको ऐसी झूठी उज्रदारियाँ (आपत्तियाँ) होती है कि 'दस्तावेज़ ज़रूर लिखी, दस्तख़त किये या

अँगूठा लगाया और रजिस्ट्रीपर रुपया भी वसूल पाया, लेकिन दस्तावेज़ फ़र्जी थी, किसी अनुचित दबावके कारण लिखी गई थी, रुपया बादको वापिस ले लिया गया था किसी योग्य कार्यमे खर्च नहीं हुआ, और इसलिये मुद्दई (वादी) उसके पानेका या दस्तावेज़के आधारपर किसी दूसरे हक़के दिलाए जानेका मुस्तहक़ (अधिकारी) नहीं है। ओह! कितना अधिक पतन और बेईमानीका कितना दौर-दौरा है!! उस वक़्त अदालतोंके दर्वाजे शायद ही कभी खटखटाए जाते थे, पचायतोंका बल बढा हुआ था, यदि कोई मामला होता था तो वह प्रायः घरके घरमें या अपने ही गाँवमें आसानीसे निपट जाया करता था—ज़रा भी बढने नहीं पाता था। परंतु आज बात बातमें लोग अदालतोंमें दौडे जाते है, उन्हींकी एक शरण लेते हैं, बस्ता बगलमे दबाए उन्हींकी परिक्रमा किया करते हैं, उनके पंडेपुजारियों—वकील-बैरिष्टर-मुख्तार-अहलकारों—के आगे बुरी तरहसे गिड़गिड़ाते हैं—सो भी प्रायः न्यायके लिये नहीं, बल्कि किसी तरह-से बात रह जाय या उनकी बेईमानीको मदद मिल जाय—और इन्हीं अदालती मन्दिरोंमे वे अपने धर्मकर्मकी अच्छी खासी बलि दे जाते हैं। अदालतोके न्यायका कोई ठिकाना नहीं, उन्हें प्रायः 'बूढ़ा मरो या जवान अपनी हत्या अथवा भुगतानसे काम' होता है; गरीबों और बे-पैसे या बे-आदमियोंवालोकी वहाँ कोई पहुँच अथवा पूछ नहीं होती; एक अदालतके फैसलेको दूसरी, दूसरीके निश्चयको तीसरी और तीसरीके हुकमको चौथी अदालत तोड़ देती है, और कभी कभी एक ही अदालतका एक हाकिम दूसरे हाकिमके हुकमको या खुद अपने हुकमको भी तोड़ देता अथवा रद्द कर देता है। इस तरह न्यायके नामपर बड़ा ही अजीब नाटक होता है। पंचायतोंका कोई बल रहा नहीं, पंच लोग अपनी बेईमानी और एक दूसरेकी बेजा तरफदारीकी वजहसे अपनी सारी प्रतिष्ठा, पद्धति और शक्तिको खो बैठे है, उनपर लोगोंका विश्वास नहीं रहा, इससे चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है।

लोग फिर फिर कर अदालतोंकी ही शरणमें जाते हैं और अपनेको नष्ट तथा बर्बाद करनेके लिये मजबूर होते हैं । मुकुद्दमेबाजीका बेहद खर्चा बढ़ा हुआ है—तीसरी चौथी अदालतसे हारनेवाला प्रायः नंगा हो जाता है और जीतनेवालेके पास एक लॅगोटीसही शेष रह जाती है। इससे न्याय यदि कभी मिलता भी है तो वह बहुत ही महॅगा पड़ता है।

लोग कहते हैं कि आजकल ज़माना उन्नतिका है। परन्तु मुझे तो इन हालों वह कुछ उन्नतिका जमाना मालूम नहीं होता, बल्कि खासा अवनतिका जान पड़ता है। जब हमारी आत्मिक शक्ति, शारीरिक बल, नीति, सभ्यता, शिष्टता, धर्मकर्म और सुखशांतिका बराबर दिवाला निकलता चला जाता है तब इस जमानेको उन्नतिका जमाना कैसे कह सकते हैं ? उन्नतिका जमाना तो तब होता जब इन बातोमे कोई आदर्श उन्नति नजर आती। परन्तु आदर्श उन्नति तो दूर, उलटी अवनति ही अवनति दिखलाई दे रही है। और हम इन सब बातोंमें अपने पूर्वपुरुषोंसे बहुत ही ज्यादा पिछड़े हुए है और पिछड़ते जाते हैं। हमने अपनी जरूरियातको बढ़ाकर फिजूल अपने पैरमें आप कुल्हाड़ी मार रक्खी है और व्यर्थकी मुसीबत अपने ऊपर ले रक्खी है। इन जरूरियातको पूरा करनेकी धुन, फ़िक्र और चक्करमें हम अपनी आत्माकी, तन-बदनकी और धर्म-कर्मकी सारी सुधि भूले हुए हैं और हमारी वह सब हालत हो रही है जिसका लेखके आरम्भमें ही कुछ चित्र खींचकर पाठकोंके सामने रक्खा गया है। हमारे सामने हरदम रुपये-पैसे या टकेका ही एक सवाल खड़ा रहता है, रात-दिन उसीका चक्कर चलता है, उसीकी पूर्तिमें पूर्ण रूपसे रत रहना होता है और उसीके पीछे हमारे जीवनकी समाप्ति हो जाती है। जब हमारे पास आमदनी कम और खर्च ज्यादा है और हम अपनी जरूरियातको पूरा करनेके लिये न्याय-मार्गसे काफी रुपया पैदा नहीं कर सकते तब उन्हें पूरा करनेके लिये हम छल कपट,

फरेब, धोखा, दगाबाजी, जालसाजी, चालबाजी, चोरी, सीना-जोरी, घूसखोरी, विश्वासघात, असत्यव्यवहार, न्यासापहार (धरोहर मारना), हत्या और बेईमानी नहीं करेंगे तो और क्या करेंगे ? उस वक्त धर्मके पैसेपर, मन्दिरों, तीर्थों या दूसरी संस्थाओंके रुपयेपर यदि हमारी नीयत डिग जाय, हम अपनी सुकुमार कन्याओं तकको बेचने लगे और आपसमें खींचा-तानी बढ़ाकर मुकद्दमेबाजीपर उतर आवे तो इसमे आ-श्चर्यकी बात ही क्या है ? वास्तवमे हमारी सारी खराबी और गिरावटका कारण ये हमारी फिजूलकी जरूरियात ही हैं। इन्हींकी वजहसे हमारी उन्नति रुकी हुई है, हम अपनी आत्माका कल्याण नहीं कर सकते, आपसमे प्रेमसे नहीं रह सकते, एक दूसरेकी सहायता नही कर सकते और न सचमुचमे मनुष्य ही बन सकते हैं। इनकी बढ़वारीसे ही हमारा दुःख बढ़ा हुआ है। यदि हम उस दुखको घटाना या दूर करना चाहते हैं तो हमे अपनी उन जरूरियातको घटाना या दूर कर देना होगा। बाकी यह खयाल गलत है कि जरूरियातको पूरा करके हम अपने दुख वा वेदनाको दूर कर सकेंगे या उसमें कोई वास्तविक अथवा स्थायी कमी ला सकेंगे। जरूरियातको पूरा करके दुःखोंकी शान्तिकी आशा रखना प्रायः ऐसा ही है जैसा कि अग्निपर ईंधन और तेल डालकर उसकी शान्ति चाहना। यह जरूरियातकी पूर्ति ऐसी मर्हमपट्टी है जो उस वक्त तो घावमें जरासी देरके लिये कुछ चैन डाल देती है परन्तु पीछेसे विया जाती है और तरह तरहकी वेदनाओं तथा कष्टोंकी जन्मदाता बन जाती है। अतः दु.खोंको यदि वास्तवमें दूर करना और सुख शाति चाहना है तो इस खयालके धोकेमें न रहकर हमें सबसे पहले, जितना भी शीघ्र बन सके, इन फिजूलकी जरूरियातको अलग कर देना चाहिये। यही हमारे हित तथा कल्याणका साधन और हमारे परलोकके सुधरनेका

एक खास मार्ग है, और इसीसे हमको वास्तविक सुख तथा शांतिकी प्राप्ति हो सकेगी।

आशा है, सुखके सच्चे अभिलाषी और मुतलाशी (खोजी) अपनी उस वेदना और तृष्णारूपी अग्निको जो वाह्य पदार्थोंके लिये उनके हृदयमें जल रही है ज्ञान तथा विवेक रूपी जलसे शांत करेंगे, संतोषको अपनाएँगे, सादा जीवन व्यतीत करना सीखेंगे और यह समझ कर कि इन फिजूलकी जरूरियातने ही हमारी जान अज़ाबमें डाल रक्खी है, हमारी मिट्टी खराब कर रक्खी है, ये ही हमारे दुःखोंकी खास कारण है और ये ही हमारी उन्नति तथा प्रगतिमें रोड़ा अटकानेवाली अथवा विघ्नस्वरूप हैं, इन्हें मन-वचन-कायसे दृढ़ताके साथ दूर करने-करानेकी पूरी कोशिश करेंगे। और इसके लिये उन्हें यदि किसी रीति-रिवाजको तोड़ना या बदलना भी पड़े, तो खुशीसे पूर्ण मनोबलके साथ खुद ही उसके लिये आगे कदम बढ़ाएँगे—अगुआ बनेंगे—और इस तरह-पर अपना एक उदाहरण या नमूना दूसरोंके सामने रखकर उनका मार्ग साफ करेंगे और उन्हें भी वैसा करने करानेकी हिम्मत तथा साहस प्रदान करेंगे। देश और जातिके सुधारका भी इसीपर एक आधार है और इसीके सहारेपर सबका बेडा पार है। इत्यलम्।

---

Publisher—Nathuram Premi, Proprietor, Hindi-Granth-Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Post Girgaon, Bombay.

Printed by—Vinayak Balkrishna Paranjpe, at the Native Opinion Press. Angre's Wadi, Bombay 4

श्रीवीतरागाय नमः ।

स्वर्गीय कविवर बख्तावरमल रतनलालजीकृत

# दानकथा।

(आराधनासारकथाकोशसे उद्धृत)

जिसे

श्री नाथूराम प्रेमी मालिक जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, गिरगाव बम्बईने प्रकाशित किया,

और

'जैनविजय' प्रिन्टिंग प्रेस ठि० खपाटिया चकला-सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

श्रीवीरनि० सं० २४४७ । अप्रैल सन् १९२१.

तृतीयावृत्ति ] [ मूल्य तीन आना ।

न्यारे कारनकौं पायकै। केलमैं कपूर होत नींवमैं कडुक जान, ईखमाहिं मिष्टरस देखौ चित लायकै। तैसं शुभ पात्रनको दियौ जो अहारदान, देत सुख अतुल सु कहै कौन गायकै। वो ही जो कुपात्रनको दियौ कडुफल होत, तातैं जैन पात्रनको दीजै हरषायकै ॥ ४ ॥

दोहा।

एक सुपात्रविषैं दियौ, दान महाफल देय।
और हजारनके दियैं, कारज नाहिं सरेय ॥ ५ ॥
जैसे सुरतरु एक ही, मनवांछितदातार।
और हजारों वृक्षनैं, कारज कौन निहार ॥ ६ ॥

चौपई ( १५ मात्रा )।

सोइ पात्र हैं तीन प्रकार। उतकृष्ट श्रीमुनिवर सार। मध्यम श्रावक सम्यकवंत। अव्रतसम्यकदृष्टी अंत ॥ ७ ॥ ये ही जोग जान बड़भाग। औरनकौं ताजिये अनुराग। इनके विषैं दियौ जो दान। निश्चय-करि सुख देय महान ॥ ८ ॥ अहो तासकी महिमा सोय। हमसेनी किम वरनन होय। पात्रदानफलतैं यह जीव। निरमल सुखसौं रहै सदीव ॥९॥ दाई नाम किसकौ है मीत। कीर्ति कांति अरु रूप पुनीत। निरमल तन अतुन सौभाग। पुन्यवान जिनसनमैं राग ॥१०॥ सुखतरुवरको बीज निहार। ऊंचे कुलमैं ले

अवतार। सुवरन औ धनधान्य उपान। पुत्र पौत्र तिय भोग महान ॥ ११ ॥

दोहा।

इंद्रचंद्रनागेंद्रपद, देवै ये ही दान।
तातैं नित ही सुजन जन, दीजै वित्तसमान ॥१२॥

पद्धड़ी।

जे भक्तिसहित देवैं सुदान। ते सज्जन जन संगत लहान। दिनदिन कल्यान नवीन देत। क्रम कर वह शिवपुरराज लेत। श्रीआदिनाथवत भव्य जान। दियौ वज्रअंघके भव सुदान। तातैं नितप्रति चउ-विध अनूप। धरौ त्यागविषैं बुधि हर्षरूप ॥ १४ ॥ जिन भव्यन देकर दान सार। फल पायौ इस अव-नी मँझार। तिन नाम कहनको को महान। श्रीजिन-वरचंद्र विना न जान। अरु पूरव आचारज सुरीत। तिन नाम कथित आये पुनीत। अब अवसर पाय कहूं सुनाय। निज बुद्धियुक्त सुन चित्त लाय। श्रीसेन और महासेन जान। वर वृषभसेन शोभायमान। बाराह लखौ श्रीकौंडरेस। ये भये प्रकट दाता विशेस ॥ १७ ॥

छप्पय।

हरिसेन आहार दान पात्रनकौं दीनौं।
भेषज देकर वृषभसेन मुनि तन सुचि कीनौं ॥

१ उक्तं च–श्रीषेणो वृषसेनः कौण्डशः सूकरश्च दृष्टान्ताः ॥
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ १८ ॥

कौंडरेशने शास्त्रदान दीनौं चितलाई ।
सूकरने दे अभैदान निजहित उपजाई ।
अब तिनही संक्षेपतैं, कथा कहूं मैं गायकै ।
क्रम करके भवि सुन लीजिये, मनवचकाय लगायकै १८

## अथ आहारदान कथा ।

चौपई ।

पहिले ही श्रीषेण नरिन्द । भुक्तिदान दीनौं गुणवृन्द । ताकर शांतितनैं करतार । उपजे शांतिनाथ अवतार ॥१९॥ भो स्वामिन् सोलम तीर्थेश । जैवन्ते वरतौ जगतेश । तुमरौ चारित जगतमें सार । भुक्ति मुक्तिको है दातार ॥२०॥ सोई श्रेष्ठचारित्र पवित्त । हमको शांतिअर्थं हो नित्त। कोड़ौं सुखदाता यह कथा । धरौ सुमन हिरदे सर्वथा ॥२१॥ सब दीपनमधि जम्बूदीप । मानो जनमैं लसत महीप । ताके दक्षिणभागमँझार । भरतक्षेत्र है धनुषाकार ॥२२॥ श्रीजिनभाषित धर्म पवित्र । ताकर पूरित है वो क्षेत्र । तामधि मलयदेश अभिराम । नगर रतनसंचयपुर नाम ॥२३॥ तासविषैं परजा-रिछपाल । सिरीसेन नामा नरपाल । धीर वीर दाता अधिकाय । सब अरि नासै बुद्धिपसाय ॥२४॥ दीरघदर्शी किरियावन्त । धर्मविषै चित धरै अत्यंत । पुन्यउदयतैं भोगत भोग । निज गृहमें पंचेंद्रीजोग ॥२५॥

दोहा।

ता नृपके होती भई, जुग तिय रूपनिधान।
सिंघनंदिता नाम इक, आनन्दिता सुजान ॥ २६ ॥
तिन दोनौंके सुत भये, शशि रविकी उनहार।
इंद्र उपेंद्र सु नाम है, सूरवीर अधिकार ॥ २७ ॥
इत्यादिक परिवारजुत, सिरीसेन महाराज।
पुन्यउदय निजधाममैं, तिष्ठत सब सुख साज ॥२८॥

रोला छन्द।

तिस ही नगरीविषैं सात्यकी विप्र बुद्धिधर।
जंघा नामा नारि सत्यभामा पत्नीवर ॥
तैसे ही इक अचलग्राममैं विप्र रहत है।
धरनीजट तिस नाम वेदवेदाङ्गसहित है ॥ २९ ॥
ताके अग्निला नारि पुत्र जुग सुन्दर प्यारे।
इन्द्रभूत औ अगनिभूत ये नाम सुधारे ॥
कपिल नाम इक दासीसुत, तिसके घरमाहीं।
पूरबउदैपसाय बुद्धि तीक्षण अधिकाहीं ॥ ३० ॥

दोहा।

नित प्रति द्विज निज सुतनको, जबै भनावै वेद।
सुनकर दासीतनुज यह, उर धारै विन खेद ॥३१॥
निज धीके परसादतैं, पढ़ौ वेद वेदांत।
पंडित ह्वै तिष्ठत भयौ, धारे रूप अनंत ॥ ३२ ॥

सोरठा।

करौ जतन जन कोय, बुद्धि कर्मअनुसारिणी।
तातैं पण्डित होय, विना सिखाये जगविषैं ॥३३॥

पद्धड़ी।

तब सब ही दुज मन क्रोध ठान। धरनीजटतैं इम वच वखान। दासीसुतको विद्या समोह। दीनी अद्भुत नाहिं जोग तोह ॥३४॥ ऐसे तिनके वच सुन तुरंत। मनमाहीं भै धरके अत्यंत। ताकौं गृहतैं दीनौं निकास। तब कापिल चलौ है कर उदास ॥३५॥ पहुंचियौ रतनपुर दुज सुभेष। तब सात्यकि प्रोहत याहि पेख। बहु पण्डित लख निजधाम लाय। सतभामा तनुजा दइ विवाह ॥ ३६ ॥ अब कापिल सत्यभामा लहाय। राजादिकतैं बहु मान पाय। बहु वेदतनो करतौ वखान। सुखसे तिष्ठन आनंद ठान ॥३७॥

दोहा।

इह विधितैं बहु दिन गये, नारि भई रितुवंत।
कुचारित्र करनेथकी, वांछा करी अत्यंत ॥ ३८ ॥
इहविधि सतभामा लखौ, मनमें कियौ विचार।
यह पापी किसको तनुज, संशय इम चितधार ॥३९॥

सोरठा।

प्रीतरहित यह होय, तिष्ठी अपने धाममें।
होनहार सो होय, यह विचार करती थकी ॥४०॥

चौपई।

अब धरनीजट ब्राह्मण जोय। पापउदय दारिदजुत होय। कापिल विभव सुनके अधिकार। आवन भयौ

तासके द्वारा ॥४१॥ याकौं लखकर कापिल तुरंत। चितमाहीं बहु रोस गहंत। बाहर सेती धर अनुराग। खड़ो होय ताके पगलाग ॥४२॥ ऊंचे विष्टरपै बैठाय। सुश्रूषा कीनी बहुभाय। फिर पूछी मम भ्रातरु-मात। सुखसौं है तुम भाषौ तात ॥४३॥ इम कह लेकर उष्ण सुवार। याकौ न्हौन करायौ सार। बहुरि करै जो चित अहलाद। ऐसो भुक्त दियौ खीराद ॥४४॥ बहुत दिये वस्त्रादि मनोग। कहत भयौ सुनिये सब लोग। यह दुज पण्डित मेरो तात। ऐसी कुत्सित भाषी बात ॥४५॥ तब वो दुज दारिद्रपसाय। याकौं सुत कहके बतलाय। तातैं दारिदको धिक्कार। काज अकाज गिनै न लगार ॥ ४६ ॥ इह विधि बीतैं कई एक मास। तब यह सतभामा गुणरास। धरनीजटको बहु धन दीन। बुलवाके एकान्त प्रवीन ॥४७॥ भक्तिसहित इम पूछी बात। सत्य कहौ तुम याके तात। याकी चेष्टा मलिन अपार। नहिं प्रतीत मम चित्तमँझार ॥४८॥ ऐसे सुनकर दुज तिह घरी। घर जानेकी इच्छा धरी। कापिल प्रती धरके बहुरोष। और द्रव्यको पायौ कोष ॥४९॥ तासैं सब विरतांत बखान। झट निज ग्रहको कियौ पयान। इम सुनि सतभामा दुख लई। पृथ्वीपतिके सरनै गई ॥ ५० ॥

दोहा ।

राजाने पुत्री करी, राखी अपने धाम ।
कपिल कुबुद्धी दुष्टमति, कपटमूल लख ताम ॥५१॥
नरनायक चित रोष धरि, स्याम करौ तिस भाल ।
खर चढ़ाय निज देशतैं, काढ़ दियौ ततकाल ॥५२॥
राजनको यह धर्म है, करै सृष्टिप्रतिपाल ।
दुष्टनकौ निग्रह करैं, नातरु होय कुचाल ॥ ५३ ॥

कवित्त ।

एक दिना नृपपुन्यजोगतैं, तपरूपी रतननकी खान । जुग चारनमुनि आये नभतैं, मानौं आये जुग शशि भान ॥ वर आदित्यगती ऋषिनायक, दूजे नाम अरिंजय जान । तिनको देख उठौ नरनायक, पड़गाहे मन भक्ति सुठान ॥५४॥ सप्तगुणनिजुत हर्षसहित दियौ, स्वच्छ दान तिनकौं जिहि बार । पंचाचर्ज भये अम्बरतैं, देवन कीनी जैजैकार ॥ अहो बात यह सत्य जगतमैं, दानतनी महिमा अतिकार । तातैं क्या क्या शुभ न लहत हैं, सब हि सुलभ हो तिस आगार ॥

दोहा ।

अब कितने इक दिनन तक, सिरीसेन नरराय ।
पुन्यउदै सुख भोगतौ, फिर त्यागी निजकाय ॥५६॥

अडिल्ल ।

खंड धातुकी पूरब मेरु महान है । उत्तरकुरु

जहँ भोगभूमि सुखथान है। तहँ उपज्यौ बड़भाग भोग भोगत घने। तीन पल्यकी आयु कौन महिमा भने ॥५७॥ अहो कौन यह अचरजकारी बात है। साधौंकी संगतितैं शिवपुरपात है। तातैं संगत करौ भले जनकी सदा। दुष्टनकौ परसंग न कीजै भवि कदा ॥ ५८ ॥

छन्द ( १४ मात्रका )

अब नृपकी दोनौं नारी। जो प्राणोंतैं अति प्यारी। अरु सतभामा जो थाई। तीनौंने मीच लहाई ॥५९॥ करके अनुमोदन भारी। लही भोगभूमि सुखकारी। दश[1] विधिके तरु सुखदाई। तिनकौं भोगे अधिकाई ॥ ६० ॥

छन्द ( १४ मात्रा )।

सो वो थानक दुतिवंता। तहँ रोग शोक नहिं चिंता। दारिद्र कभी नहिं आवै। औ अल्पायू नहिं पावै ॥६१॥ सब आपसमैं हितकारी। नहिं अरिकौ जहँ परचारी। नहिं शीत उष्णकी बाधा। तहं युद्धतनौं न उपाधा ॥६२॥ नहिं सेवक स्वामी कोई। सब ही आरज तहँ लोई। जनमादिमरनपर्यंते। नाना विधि सुख भोगंते ॥ ६३ ॥

---

१ उक्तं च–मद्यतुर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः।
भोजनपात्रवस्त्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥

दोहा।

दानतनैं परभावतैं, उपजत है नर भाम।
सरलचित कोमल अधिक, है तिनके परिनाम ॥६४॥
तहँतैं चय कर देवगति, पावत हैं बड़भाग।
यातैं उत्तम पात्रकौं, दान करौ जुतराग ॥ ६५ ॥

चौपाई।

सो अब सिरीसेनैचर एह। पांचौं अच्छनके सुख सेय। भोगसहित त्यागी निजकाय। फिर ऊंचे ऊंचे पद पाय ॥ ६६ ॥ इस ही भरतक्षेत्रके बीच। हस्तनागपुर महित मरीच। ताभैं विश्वसेन भूपार। ऐरादेवी सुन्दर नार ॥६७॥ तिनके पुत्र भये जगतेश। सोलम तीर्थंकर परमेश। चक्रवर्तिपद पाय अनंग। बहुरि मोक्ष सुख लहौ अभंग ॥ ६८ ॥

काव्य (रोला)।

देखो भवि जो भुक्ति देत हैं, श्रद्धामन करके।
ते दोउ लोकमँझार, शर्म पावत अघ हरके ॥
यातैं भविजन दान, देहु पात्रनिकेताईं।
अपनी शक्तिसमान, जासु फल सुरशिवदाईं ॥६९॥

गीता छन्द

श्रीकुंदकुंद सुवंशमैं वर, मूलसंघविषैं जये।
निरमल रतनत्रयकर विभूपित, मल्लिभूषण गुरु भये॥
तिन शिष्य जानौं ब्रह्म नेमीदत्तने भाषी कथा।

१ श्रीषेणका जीव।

अब तिनौंके अनुसार लेकर कथन कीनौं सर्वथा॥७०॥

दोहा।

दान सुपात्रनकौं दियो, सिरीसेन नरराय।
ताकर तीर्थंकर भये, षोड़समैं सुखदाय ॥ ७१ ॥
सो स्वामी सन्ताप मम, दूर करौ तत्काल।
शान्तिअर्थ हूजे प्रभू, यातैं नाऊ भाल ॥ ७२ ॥

इति आहारदानकथा।

---

## अथ औषधिदानकथा।

मंगलाचरण।

रोला।

वरनूं श्रीजिनचंद, और सरस्तुति जगमाता।
गुरु निरग्रंथ दयाल, नमूं जे हैं जगत्राता॥
वरनूं औषधिदानतनी, शुभकथा अबारी।
तिस दीरघफल आयु, लहै जन जगतमंझारी॥१॥
बहुरि लहै चित स्वास्थ, कुष्ट आदिक सब नाशै।
होय निरोग शरीर, सदा आनन्द प्रकाशै।
पावै धन अरु धान्य, सम्पदा वपु निर्मल अति।
बहुरि लहै शिवथान, देय जो भेषज नितप्रति॥२॥

दोहा।

सो यह औषधदान शुचि, दीजे पात्रनहेत।
दयासहित भ्रम टारके, जो पावौ सुखखेत ॥ ३ ॥
जिन जिन जीवन फल लहौ, भेषजदान सुदेय।
तिनकी महिमा प्रभु विना, जगमैं को वरनेय ॥४॥

पद्धड़ी।

अब इस ही सनबंधकेमझार। श्रीवृषसेनाको चरितसार। पूरवअनुसार कहूं बनाय। कल्याणहेत सुनो चित्त लाय ॥५॥ इस अन्तर ये ही भरतक्षेत्र। श्रीजिनके जन्मथकी पवित्र। तहँ कमलजुक्त सुन्दर विशेष। जनपद नामा है एक देश ॥६॥ कानेरीपत्तन तासु मद्ध। नृप उग्रसेन नामा प्रसिद्ध। सब विद्या-मंडित अवनिपाल। परजाहितकारी सुगुनभाल॥७॥ ताही नगरीमें सेठ एक। तिस नाम धर्मपति जुतवि-वेक। जिनचंदचरनराजवि[1] जेह। षट्पद[2] सम तिनपै रमै एह ॥८॥ तिनके बड़भागनि शीलवान। धनश्री सेठानी श्रीसमान। गुणरूप रतनकी धरनहार। पतिकौं प्यारी आनन्दकार ॥९॥

दोहा।

तिनके पूरव पुन्यतैं, सुता भई द्युतिवान।
मानौं उज्वल गेहमैं, कीरति ही उपजान ॥१०॥

सोरठा।

लावन रूप अपार, नाम वृषभसेना धरौ।
रतिरम्भादिक नार, तिस लखकैं लज्जा धरैं ॥११॥
रूपवती तिस नाम, पालै धाय[3] प्रीततैं।
नित मंजन अभिराम, याहि करावै जतनतैं ॥१२॥

---

१ जिनेन्द्रके चरणकमल। २ भौंरा। ३ धाय।

गीता छन्द

इस वृषभसेनाके न्हवनपयतैं भरी इक गरत ही।
ता मध्य कूकर रोगपीड़ित,आन नित प्रति परत ही॥
तातैं विमल तन भयो जाकौ, सर्व पीड़ा नस गई।
इम देखके तब धाय विस्मय,-वंत चितमाहीं भई १३
मनमैं विचारी यह कुमारी, पुन्यवंत महान है।
इस न्हौनको जल रोगनाशक, सुधाकी उनमान है॥
तिस ही सलिलको बूंद ले, निज मातको यानैं दई।
द्वादश बरसतैं अंध थी तिस आंजतैं चख खुल गई॥

चौपाई

तबही रूपवती यह धाय। जननीके चख लख हरखाय॥ तिस अस्थानतनौं शुभ तोय। भेषजसम ताको अविलोय॥ १५॥ अवनीमैं कीनौं विख्यात। या प्रभावतैं सब दुख जात॥ नेत्र कुक्षि सिर-रोग नसन्त। कुष्ठ जहर वृर्ण सर्व हरन्त॥ १६॥ या अंतर इक दिन नरईश। नरपिंगल नामा मंत्रीश। ताकैं घनपिंगलनृपदेश। भेजौ चमूं जु देय विशेष ॥ १७॥ जब यह पहुंचौ जाय तुरंत। तानैं जतन कियौ इह भंत॥ हालाहल सब कूपनंझार। डरवायौ तानैं रिस धार॥ १८॥ तब याके सब जनसमुदाय। पीवत पय ज्वर अधिक लहाय। रूष्टित मन ह्वै कर परधान। फिर कर आये अपने

१ स्नानके पानीसे। २ नेत्र। ३ फौड़ा। ४ सेना। ५ मन्त्री।

थान ॥ १९ ॥ रूपवतीधात्रीजल जोग। लावत ही सब भये निरोग ॥ जैसे श्रीगुरुवचनप्रसाद। ततछिन नासै मिथ्यावाद ॥२०॥ अब यह उग्रसेन नरपाल। क्रोध अनिलकर तन परजाल ॥ घनपिंगल राजाकी ओर। चढ़ि चालौ बहु सेना जोर ॥२१॥ तिस कूपनको पीवत धार[1]। सबके ज्वर उपजौ अधिकार। तब नरपति है चित्त उदास। फिर कर आयो निज आवास[2] ॥ २२ ॥

दोहा

रनपिंगल मंत्री कह्यौ, सेठसुताविरतन्त।
सुनकर चित हर्षित भयो, उग्रसेन बहुभन्त ॥२३॥
निज पीड़ाके नाशकौं, जल मांगौ ता पास।
सेठानी भयकरि तब, सेठ प्रते इम भास ॥ २४ ॥

रोला।

हे स्वामी इस सुतातनौं मंजनकौ पानी।
क्या नृप शीसमझॉर, अब डारन बुधि ठानी ॥
कहै सेठ नारि, नृपति पूछै जो अब ही।
सॉच सॉच कह देहूँ, झूठ बोलूं नहिं कब ही ॥२५॥
अहो सन्त जन सत्यरूप जे बोलैं वायक[3]।
तिनके कबहूँ दोष, नहीं उपजै दुखदायक ॥
इम दैंवाली[4] करि मन्त्र, सुताके न्हौनतनौं पै[5]।
भेजो धार्त्री हाथ, गई सो नृपति पास लै ॥२६॥

---

१ पानी। २ घर। ३ वचन। ४ पुष्प और चीने। ५ पानी।

तिसी सलिलको लेय नृपति, निज सीस लगाया।
परसत ही तत्काल भई, तिस निरमल काया॥
रूपवतीतैं सब वृतान्त, पूछौ नरनायक।
इसने कन्याचरित कह्यौ, सब ही सुखदायक॥२७॥
ताही छिन नररक्ष, सेठको तुरत बुलायौ।
धनपति सुनत प्रमान, तबै राजा ढिग आयौ॥
कीनौं बहु सन्मान, कहौ पुत्री निज दीजै।
कह्यो सेठ मैं देहुं, काम जो इतने कीजै॥ २८॥

सोरठा।

स्वर्गमोक्षसुखदाय, अष्टाह्निक पूजा भली।
पंचामृत भरवाय, जिनमंजन नित प्रति करौ॥२९॥

दोहा।

जो जन कारागार[1]में, पंछी पींजरमाहिं।
इनकौं बेगि छुड़ाइये, हे पृथ्वीपति नाह[2]॥ ३०॥
तो अपनी तनुजा विमल, रूपभागद्युतिवान।
तुमकों देऊ वेग ही, कुलदीपिका महान॥ ३१॥

चौपई।

नृप तब इम वच किये प्रमान। फिर विवाह-
को उतसव ठान। परनी सेठसुता अभिराम। नाम
वृषभसेना गुणधाम॥३२॥ दीनौं पटरानीपद सार।
सुखसौं तिष्ठै निज आगार॥ नृपने सब कारज दिये
त्याग। याहीतैं क्रीडा अनुराग॥ ३३॥ अब यह

१ जेलखाना। २ नाथ।

वृषसेन धर्मज्ञ । करै सदा जिनन्हौन सुयज्ञ ॥ अरु निरग्रंथ गुरुनको देत । दान बहुतविधि भक्तिसमेत ॥३४॥ सदा शील पालै बडाभाग । धरमी जनतैं धारत राग ॥ अहो धर्मवंतनकी सेव । बहु फलदायक है स्वयमेव ॥ ३५ ॥ ऐसैं जगतपूज जिनधर्म । पालते तिष्टै जुतशुभकर्म ॥ इस अंतर काशीका राय । पृथ्वीचंद महा दुठभाय ॥ ३६ ॥ थौ इनके बंदीगृह बीच । ताकौं नाहिं छोडौ लख नीच ॥ अहो दुष्ट जे जीव अयान । कभी बंधत नहीं छुटान ॥ ३७ ॥ नारायणदत्ता तिस नार । तानैं मंत्र सु येम विचार । छुडबावनकौं अपने कन्त । करत भई शाला इह भन्त ॥ ३८ ॥

दोहा ।

वृषसेनाके नामतैं, वांटै बहुविधि दान ।
विप्र आदि बहु जननकौ, करके बहु सन्मान ॥३९॥
दान लेयकर बहुत जन, इस पत्तनमैं आत ।
निज मुखतैं धात्री सुनी, दानतनी सब बात ॥४०॥

चौपाई ।

रूपवती सुनत बहु भन्त । चितमैं करके रोष अत्यन्त ॥ कन्यासौं इम भाषी जाय । तैं मम पूछे विन किह भाय ॥४१॥ दानतनी शाला अधिकाय । कीनी दानारासिकमांय ॥ कहै वृषभसेना सुन मात । मैं नाहीं कीनी यह बात ॥४२॥ मेरा नाव लेय जन

कोय । बांटत है चित हर्षित होय ॥ ताकी खबर मंगावौ बेग । ज्यों नासै मनकौ उद्वेग ॥ ४३ ॥ रूपवती धात्रीने तबै । हलकारन प्रति पूछी सबै । उन भाष्यौ सब दानवृतांत । इन कन्याप्रति चयौ तुरंत ॥४४॥ तबै वृषभसेना सुन येह । पहुंची नृपपै हर्षितदेह । शीघ्र छुड़ाओ पृथ्वीचंद । तब तिन पायौ बहु आनंद ॥ ४५ ॥

दोहा ।

अब इस पृथ्वीचंदने, याकौ पट लिखवाय ।
तिस चरननमैं सिर धरत, अपनो भाव दिखाय ॥४६॥

पद्धडी ।

पीछे वो पट लेकर रिसाल । इनकौं दिखलायौ नाय भाल ॥ वृषसेनातैं इम वच उचार । हे देवी तुम मम मात सार ॥४७॥ तुमरे प्रसाद मम जन्म येह । अब सुफल भयौ है विनसंदेह ॥ इम सुन नृपतिय संतोष पाय । राजातैं बहु सनमान चाय ॥ ४८ ॥ याकौं आज्ञा दिलवाय दीन । घनपिंगलपै जावौ प्रवीन । यह सुनके पृथ्वीचंद राय । पहुंचौ निज नगरीमाहिं जाय ॥४९॥ अब सुनी मेघपिंगल नरेश । आवै काशीपति मम सुदेश ॥ वह जानत है मम सर्व भेद । ऐसैं निश्चय कर धारि खेद ॥ ५० ॥ नृप उग्रसैनके पास आय । ह्वौ चाकर निज सीस नाय ।

जे है जन जगमैं पुन्यवान। तिन अरी होत मित्रन समान ॥ ५१ ॥

दोहा।

इस अन्तर इक दिनाविषैं, उग्रसेन नरराय।
यह विधि परातिज्ञा करी, बहुविधि मन हरषाय ॥५२॥

अडिल्ल।

जो आवै मम भेट तासुमधतैं कही। आधी घनपिंगलकौं देऊंगौ सही। अर्ध भेंट पटरानी यामैंतैं लहे। इह विधतैं नृप वचन आप मुखनैं कहे ॥ ५३ ॥

एक दिना मणिकम्बल जुग आवत भये। एक एक तब दोनौंकौं नृपने दये। अहो वचन जे जगमैं पंडित कहत हैं। ते धन मणि कंचनमैं चित नाहिं धरत हैं ॥ ५४ ॥

जोगीरासा।

एक दिना घनपिंगलकी तिय, रूपवतीपै आई।
मणिकंबल ओढ़े सिर ऊपर, तहां प्रमादवसाई ॥
पटरानीको वो मणिकम्बल, बदल गयौ निह चारी।
देखो कर्मतनी गति अद्भुत, टरत नहीं है टारी ॥५५॥
अब यह घनपिंगल एक दिन, नृपकी सभामझारी।
आयो वो मणिकम्बल ओढ़ें, राय लख्यौ ततकारी ॥
क्रोधअनिलकर तप्त भयौ तन, पटघृतजोग लहाई।
ऐसे लख कर यह घनपिंगल, भाग गयो भय खाई॥५६॥

चौपई ।

अब यह उग्रसेन नरपाल । क्रोधयुक्त कीनैं चख लाल ॥ सब सुधि बुधि तिस गई पलाय । सती वृषभसेना बुलवाय ॥५७॥ तब ही डारी वारिधि बीच । हेयाहेय न जानी नीच ॥ अहो मूढ़ जनको धिक्कार । क्रोधप्रभाव तजै सुविचार ॥ ५८ ॥ जब यह सती उदधिमैं परी । ऐसी विधि परतिज्ञा करी ॥ इस उपसर्ग थकीमैं बचूं । तो वृतिकापद निश्चय रचूं ॥ ५९ ॥ ताही छिन इस शीलप्रभाय । जलदेवी तहँ पहुंची आय ॥ भक्तिसहित विष्टरैं[1] पै थाप । चवँर ढोरि जै जै आलाप ॥६०॥ अहो भव्य अचरज क्या एह । शील महा सुर-शिवपद देह ॥ अगनि होत है सलिलसरूप । उदधि महा थल होय अनूप ॥ ६१ ॥ शत्रु होय निज मित्र महान । हालाहल ह्वै सुधासमान ॥ सुयश सदा फैलै चहुं ओर । पुन्य सम्पदा व्यापै जोर ॥६२॥ तातैं पापहतन यह शील । पालौ बुधजन करौ न ढील ॥ श्रीजिनेन्द्रने इम उच्चरौ । मनरूपी मरकट वश करौ ॥ ६३ ॥

दोहा ।

नारि वृषभसेनातनौं, ऐसे सुन चिरतंत ।
ताके ढिग जातौ भयौ, पश्चाताप करंत ॥ ६४ ॥

---

1 सिंहासनपर ।

सवैया इकतीसा ( मनहर )।

तब ही वो सती सार मनमैं वैराग धार, गई ततकार वनमाहिं मुनि पासजी। गुणधर नाम तासु अवधि धरैं प्रकाश, तिन पद नमि इम करी अरदास जी॥ अहो जगवंद दयावारिध सुगुणवृन्द, किये कौन काज मैंने सुखदुखरासजी। पूरव वृत्तांत सब कहौ कृपाधारी अब, मूरतीक गेय जेते रहे तुम्हैं भास जी॥ ६५॥

दोरा।

तब मुनिनायक इम कही, सुन पुत्री चितलाय।
पहले भव इस देशमें, तू दुजजन्या थाय॥ ६६॥

चाल मेघकुमारकी देसी।

नागश्री तुझ नाम थौ री, नृपके देय बुहारि। देत सोहनी तू सदा री, ये ही था अधिकार, री पुत्री तू मिथ्या मतिलीन।६७। एक दिना मंदिरविषैं जी, आये श्रीरिषिचन्द। मुनिदत नामा जगपती जी, तपमंडित गुणवृन्द॥ सयानी सुनिये चित्त लगाय॥ ६८॥ मंदिरके पड़कोटमें जी, वायुरहित लखि गर्त। तामैं संध्याके समय जी, आतमध्यान सुकर्त। सयानी तिष्टे मौन सुधार॥६९॥ हे पुत्री तैं रोसतैं री, धरि अज्ञानकुभाय। कहत भई यहांतैं नगन तू, अबही वेग पलाय॥ रे जोगी आवेगौ नरनाथ॥ ७०॥ मैं पृथ्वी निरमल करूं रे, इहविधि वचन कठोर। तैं भाषे तौ भी तजी ना, श्रीगुरुने वह ठौर॥ सयानी तिष्टे मेरु समान॥ ७१॥ फिर तैं

चित न विवेकतैं री, क्रोध करौ अतिकार। सब ही रेत बुहारिके री, मुनिके सिरपै डार॥ दियौ तैं, तब तिन समता कीन॥ ७२॥

दोहा।

अहो जगतकर पूज जे, श्रीमुनि दीनदयाल।
तिनपै कूड़ौ डारनौ, जोग नहीं थौ बाल॥ ७३॥

सोरठा।

जगमैं दुखदातार, मूढ़नकी कुतासित क्रिया।
ताको है धिक्कार, आचारज ऐसे कहैं॥ ७४॥

चोपाई।

इस अन्तर नृप होत प्रभात। देवथान आयौ हरसात। गर्तमांहिं मुनिस्वासप्रभाय। तृणकौ पुंज हलत लखि राय॥७५॥ तहां आय देखे ऋषिचन्द। शीघ्र निकासे जुतआनंद॥ तब मुनिवर समताके गेह। तैं लखके मन धरौ सनेह॥ ७६॥ निन्दा अपनी तैं सत्कार। कीनी तित ही वारम्बार॥ धर्मविषैं बहुविधि रुचि धरी। मुनिकी निरमल काया करी॥ ७७॥ पीड़ा शान्ति अर्थ बड़भाग। औषधदान दिया जुतराग॥ फिर कीनौं वैयावृत सार। सब कलेशकौ मैटनहार॥७८॥ हे पुत्री तहँतैं तज प्रान। तू उपजी तिस पुन्यप्रमान। धनपति सेठ धनश्री गेह। नाम वृषभसेना वृषनेह॥ ७९॥ हे बाले! तैं औषध दान। दियो विशेष चित्त हरषान॥ ताकर सर्व औषधी रिद्ध। तैं पाई यह जग

परासिद्ध ॥ ८० ॥ हे मुग्धे! मुनि सिर कतबार। तैं डारौ जो बहु रिस धार ॥ तिस अघतैं नृपकर चित बंक। अम्बुधि डारी देय कलंक ॥ ८१ ॥

दोहा।

तातैं नित प्रति कीजिये, साधु सेव मनलाय।
पीड़ा कबहुं न दीजिये, जो सुख चाह अथाय ॥८२॥

पद्धड़ी।

यह जग आतापहरन सुवैन। सुनके इन पायो परम चैन॥ वैरागमाहिं चित धारि स्वच्छ। घरममता त्यागि नृपादिपच्छ ॥८३॥ गणधर मुनिके चरननमँझार। बहु विधितैं करके नमस्कार ॥ संसारदुष्टनाशक प्रचंड। जिनदीक्षा तब लीनी अखंड ॥८४॥ हो भव्य महा औषध सुदान। यानैं दीनौं बहु भक्ति ठान ॥ तैसे तुम भी पात्रन महान। भेषज दीजे नित वित समान ॥८५॥ यह गणधर मुनि भाषौ चरित्र। सो जगप्रासिद्ध अति ही पवित्र ॥ ताको सुनिकर भवि जीव जेह। जिनभाषित तपतैं करो नेह ॥ ८६ ॥

दोहा।

सती वृषभसेना महा, भई जगतपरसिद्ध।
सो हमको मंगल करौ, दीजे बहु सुख रिद्ध ॥८७॥
ओषधिदानतनी कथा, पूरन कीनी येह।
भव्य जीव वांचो सुनौ, धरकैं बहुविधि नेह ॥८८॥

इति ओषधिदानकथा।

# अथ ज्ञानदान कथा ।

## मंगलाचरण ।

### गीता छन्द ।

इस जगत वारिधतैं उधारनहार श्रीजिनदेव जी
तिनके चरनअम्बुज नमत हूं ठानके बहु सेव जी ॥
अरु मात सरस्तुतिको जजूं जिनवदनतैं उत्पन भई ।
अज्ञानपटलविनाशनी अंजनशलाका सम कही ॥१॥
हैं मोहविजयी जे नगनगुरु, रतनत्रयभूषित सदा ।
तिन चरन श्रीके गेह सम, तिनकौं नमत हूं है मुदा
अब कथा शास्त्रसुदानकेरी, सुनौ भवि चित लायके ।
सब जगतको आनन्ददायक, देत बोध बढ़ायकै ॥२॥

### दोहा ।

सब जीवनके नेत्र सम, ज्ञानदान सुखकार ।
पात्रनको नित दीजिये, या सम और न सार ॥ ३ ॥

### चौपाई ।

इसही ज्ञानतनैं परभाव । प्रानी निर्मलकीर्ति लहाव
भुक्ति मुक्ति पावै सो जीव । नाना विधि सुख लहै अतीव ॥ ४ ॥ सोई सम्यकज्ञान महान । श्रीजिनेन्द्र-करि भाषित जान ॥ रहित विरोध धरैं जे चित्त । ते पावैं कल्याण सु नित्त ॥५॥ ताको आराधौ इह भंत । दान मानकरि पूजि अत्यंत ॥ कर प्रभावना बहु विध सार । पाठन पठनथकी अतिकार ॥ ६ ॥ ज्ञान प्रभावना है स्वाध्याय । पंच प्रकार जान चित लाय ।

वांचन पूछन अरु अनुप्रेक्ष। आमनाय धर्मोउपदेश ॥ ७ ॥ बहुत कहनतैं कारज कौन। ज्ञानदान है सुखत्रयभौन ॥ तातैं भविजन केवलहेत। शास्त्रदान यो हिये सुचेत ॥ ८ ॥ इस ही दानतनैं परसाद। भये बहुत जन अव्याबाध ॥ तिनके नाम कथनके जोय। इस जगमैं समरथ नाहिं कोय ॥ ९ अब इस ही प्रस्तावमझार। कहूं कथा जिनश्रुतअनुसार ॥ नृप कौंडेश दयौ यह दान। ताकर भये प्रसिद्ध महान ॥ १० ॥

अडिल्ल।

अब इस अंतर भरतक्षेत्र सुखदायजी। जैन-धर्मकरि अति पवित्रता पाय जी। तामैं कुरुमरि ग्राम अधिक सुन्दर लसै। गोविंद नामा ग्वाल तासके मध वसै ॥ ११ ॥

एक दिना यह ग्वाल गयौ वनमैं सही। तरुके कोटरमांहिंथकी पुस्तक लही। भक्तिसहित श्रीपद-मनन्दि मुनिकों दई। कैसे हैं मुनिचंद सार सुखकी मही ॥ १२ ॥

दोहा।

पहिले इस ही ग्रंथको, बड़े बड़े ऋषिराय। पढ़ि पढ़ि परभावन विविध, करवाई अधिकाय ॥ १३ ॥ फिर पूजा करवायके, तिस ही थानमँझार। थापन करके जगतगुरु, करत भये सुविहार ॥ १४ ॥

काव्य ।

तैसे ही श्रीपद्मनंदि मुनिवर विधि ठानी ।
पुस्तक कोटरमध्य थाप कियौ गमन सु ज्ञानी ॥
कैसे हैं मुनिराय पापमयपंक[1]पखालन ।
ज्ञानध्यानकर युक्त, सकल अच्छनमद[2] गालन ॥१५॥
अब यह गोविंद गोप, बालपनतैं चित देकर ।
तिसी ग्रंथकी करा करै, पूजन बहु नुतिकर ॥
कितने दिनमें काल व्यालने गरसो[3] याकौं ।
प्रानहरन यमराज कहौ भक्षौ नहिं काकौं ॥१६॥
करके मरो निदान पुन्यतें उपजौ जाई ।
ग्रामकूटके पुत्र महा सुन्दर सुखदाई ॥ १७ ॥
एक दिना फिर पदमनंदि मुनिके पद भैंटे ।
जातीसुमरनज्ञान पाय अघसंचित मैंटे ॥
मुनिके चरनसरोज नमूं, यह धमराग पग ।
कीनैं निरमल भाव, लई दीक्षा तिनके ढिग ॥१८॥

दोहा ।

अब यह मुनि तन त्यागके, भयौ राय कौंडेश ।
अपने बलतैं औरजिये, रवितैं तेज विशेष ॥ १९ ॥

चौपई ।

द्युति करके कंदर्प समान । कांति लई शशिकी नमान । विभौयुक्त सुखतनौ निवास । कीरति हुँदिस रही प्रकाश ॥२०॥ नाना विधिके भोग करं-

१ कीचड़ । २ इन्द्रियोंका मद । ३ ग्रास किया जाता है ।

त। परजा सुतवत पालै संत। जिनभाषित वृष चार प्रकार। करतो तिष्ठै निज आगार ॥२१॥ ऐसे सुखसों काल वितीत। होत भयौ इनकौ इह रीत। फिर कोई कारन नृप देख। भवतैं विरकत होय विशेख ॥२२॥ मनमैं इह विधि कियौ विचार। परतछ यह संसार असार॥ भोग रोगसादृश दुखदाय। सम्पति चपलावंत नस जाय॥२३॥ तन मलीन मलमूत्रजुगेह। अशुच अपावन नासै येह॥ इह विधि वह बुधवंत-नरेश। मनमें किया विचार विशेष ॥२४॥ मनवच-काय राजकौं त्याग। फिर जिन अर्चा करि बड़भाग॥ गुरुके पदपंकज सिर नाय। दोषरहित तप ग्रहन कराय॥ २५॥

दोहा।

पूरव पुन्य प्रभावतैं, श्रुतकेवलि पद पाय।
यामैं अचरज कौन है, ज्ञानदान शिवदाय॥ २६॥
जैसैं यह रिषि ज्ञाननिधि, भये दानपरभाय।
तैसैं तुम भी हित करो, दान देहु अधिकाय॥२७॥

छप्पय।

ज भविजन प्रभुज्ञान,-तनी सेवा मन आनैं।
कर कलशाअभिषेक, वहुरि पूजा विधि ठानैं॥
स्तवन जपन विधि करैं, पठन पाठन अधिकाई।
लिखन लिखावन शास्त्र, दान सनमान कराई॥
अरु करैं प्रभावनअंग जे, भक्तिसहित भवि है मुदा।

हैं ये ही अंग सम्यक्तके, कोड़ौ सुखदाता सदा॥२८॥

सवैया तेइसा (मत्तगयन्द)।

ज्ञान-पसाय लहै धन धान्य, सुसुन्दर मंगल आन्तिम पावै। ऊंच कुली धरि गोत्र पवित्र जु, निर्मल ज्ञानरमा घर आवै॥ दीरघ आयु लहै सुखदायक, सर्वमनोरथसिद्धि लहावै। और कहै अब कौन भला, इस दानतैं मोक्ष अँकूर उगावै ॥ २९ ॥

दोहा।

तातैं दोषरहित प्रभू, तिन जो कियौ बखान।
तिसको सम्भावन करौ, ज्यौं पावौ कल्यान॥३०॥
ज्ञानदानकी कथा शुभ, मैंने भाखी एहु।
सो मुझकौं अरु भविनकौं, केवललक्ष्मी देहु॥३१॥

कवित्त।

शोभित श्री वर मूलसंघ जो, तामैं गच्छ भारती जान। श्रीभट्टारक हैं मलिभूषण, रतनत्रय करि दिपत महान॥ तिनके शिष्य ब्रह्म नेमीदत, श्रीजिनके अनुसार बखान। दानकथा यह भव्य जननकौं, शान्तिअर्थ हूजौ अधिकान॥ ३२॥

इति ज्ञानदानकथा।

---

## अथ अभयदान कथा।

मंगलाचरण।

दोहा।

शोभामंडित जिन विमल, तिन पद नमि सुखकार।
अभयदानकी कहत हूं, कथा सूत्रअनुसार॥ १॥

कड़खा छन्द ।

बहुरि श्रीशारदामायको ध्यायके, जासको भव्यजन जजत सारे । होहु कल्याणके अर्थ मोकौं अभै, जास परसादतैं, सब निहारे ॥ शास्त्रवारिधि महा तासके पारको, करन नवका भली तू उदारे । जिनमुखोत्पन्न तैं भई परगट सही, अबै आ कंठ तिष्ठौ हमारे ॥ २ ॥

गीता छन्द ।

जे रत्नकर शोभित सिरीगुरु, मूलउत्तरगुण धरैं । तिनकौं जजूं हित धारके, ज शान्ति बहु विधिकी करैं ॥ तिनकी भगति निश्चयथकी, सुख श्रेष्ठमारग देतु है । भवदधि दिषमतैं पार करनैं,-को यही वर सेतु[1] है ॥ ३ ॥

दोहा ।

ऐसे मैं गुण आशके, सुमरन करि अधिकाय ।
अभयदान दृष्टान्तकी, कथा कहूं हितकाय ॥४॥

चौपाई ।

ये ही भरतक्षेत्र द्युतिवंत । धर्मकर्मकर परम दिपंत ॥ तामधि सोहत मालवदेश । बहु शोभा कर लसत विशेष ॥ ५ ॥ धनकनकर मंडित है जेह । सम्पतिकौ जानौ शुभ गेह ॥ जग जनको लक्ष्मी दातार । वन उपवनकर शोभितसार ॥६॥ सरिता

---

[1] पुल ।

यहै महारसभरी । भूभृत[1] सोहैं मानौं करी[2] ॥ कमलनिकर शुभ भरे तड़ाग । तिनकी षट्पद[3] लहत पराग ॥७॥ देवनकौं प्यारौ अधिकाय । तहां रमत हैं नित प्रति आय ॥ नर नारी तहँ अति दुतिवंत। पुन्य उदयतैं सुख विलसंत ॥८॥ तिस ही देशविषैं अभिराम। ठांव ठांव शोभैं जिनधाम॥ ग्राम ग्राम परवतके भाल । ऊंचे शिखर जु दिपैं विशाल॥९॥ तिनपै कलश महा दुतिवान। चाँमीके[4] चमकैं अधिकान ॥ तापर धुजा महा लहकंत । मानौं बुलवावत विहसंत ॥१०॥ भव्य जननकौं दर्शनहेतु। शुभ पथ दिखलावैं वे केतुं[5] ॥ जिन आगार लखत तत्कार। प्रानी पाप करैं परिहार ॥ ११ ॥ अहा कौन बरनै अधिकार। जामैं मुनि नित करत विहार॥ रत्नत्रयभूषित तपगेह। शिवपुरमैं धारत हैं नेह ॥ १२ ॥ तिसही देशविषैं जिनधर्म। सुखदाता वरतत है पर्म ॥ कैसौ वृष सम्यकतगयुक्त । पूजादानवरतसंयुक्त ॥ १३ ॥ तिस ही देशविषैं जिनचंद। तिष्ठत हैं आनंदके कंद ॥ दोष अष्टदशरहित दयाल। गनधरनायक जग रिछपाल ॥१४॥ अरु तहँके जन सम्यकवंत। सो दरशन जानौ इह भंत ॥ देवधर्म गुरुकी परतीत। सब तत्वनकी जानत रीत ॥१५॥ जिनवर जज्ञ[6] करैं चितलाय। स्वर्गमोक्ष सुखके जो

[1] पर्वत। २ हाथी सरीखे। ३ भौंरा। ४ सोनेके। ५ धुजाएँ। ६ पूजा

दाय ॥ भक्तिसहित पात्रनकों दान। देवैं नित प्रति वित्तसमान ॥ १६ ॥ शील वरत धारैं उपवास। इत्यादिक वृष जो गुणरास ॥ ताको पालैं पंडित संत। सोई सम्यकवंत महंत ॥१७॥ ऐसी शोभाजुत वह देश। ता महिमा कह सकै न शेश ॥ तामधि सोहै सम्पतिधाम। सुंदरभट नामा एक ग्राम ॥१८॥

दोहा।

कुम्भकार देवल रहै, तामधि बहु धनवान।
अरु धर्मिल नायक महा, कुत्सित तिस ही ठान ।१९।
इन दोनौंनैं सीरमैं, बनवायौ इक गेह।
पथिक जननकौं तासमैं, उतरावैं कछु लेह ॥ २० ॥

पद्धड़ी।

इकदिन यह देवलजुत कुशाल। उस थानकमैं श्रीमुनि दयाल ॥ वृषहेत उतारौ हरषवंत। फिर चलौ गयौ कित ही तुरंत ॥२१॥ तब धर्मिल चितमैं धर कुभाय। इक परिव्राजकको बेगि लाय ॥ श्री मुनिकौं तो दीनौं निकार। ताकौं उतरायौ निस-मॅंझार ॥२२॥ है सत्य बात यह जगतबीच। जे पापी दुष्ट अयान नीच ॥ तिनकौं प्यारे लागैं न संत। जिम रवि लखि घूघू रोषवंत ॥२३॥ अथ इस थानककौं तजि मुनीश। इक तरु लखि तिष्टे जगतईश। तनतैं निष्प्रेही सुगुणमाल। रवि शशि खग इंद्र नमंत

भाल ॥२४॥ बहु शीत उष्ण आदिक प्रचंड । सब सहैं परीषह ध्यान मंड ॥ अब देवल तरुतल मुनि निहार । अरु इन तनौं कारन विचार ॥२५॥ तिस नायकपै है क्रोधवंत । तासेती युद्ध कियौ अत्यंत ॥ इन रुद्र भावतैं मीच लीन । विंध्याचलपै उपजे मलीन ॥ २६ ॥

दोहा ।

कुम्भकार सूकर भयौ, काया पाई पुष्ट ।
नायक व्याघ्र तहां हुवौ, जन्तु हनै यह दुष्ट ॥२७॥

चौपाई ।

तिस परवतकी गुफामँझार । जुग चारन मुनि करत विहार ॥ नाम समाधिगुप्त त्रयगुप्त । तिष्टे ध्यान धारि जिनउक्त ॥२८॥ कैसे हैं रिषिचंद दयाल । धीर वीर सबजगरिछपाल ॥ पृथ्वीतलको करत पवित्त । क्षमावंत अति ही शुभचित्त ॥ २९ ॥ अब वो सूकर तित ही आय । देखत जाती-सुमरन[1] पाय ॥ श्री-जिनवरको व्रत सुनि सार । किंचित व्रत किये अंगीकार ॥३०॥ अरु वो व्याघ्र दुष्ट विकराल । मानुषगंध सूंघि तिस काल ॥ मुनि सन्मुख निज आनन फाड़ि । आयौ ततछिन दुष्ट दहाड़ि ।३१। जब वो सूकर होय सचेत । मुनि रक्षा करनेके हेत ॥ गुफातनैं गोपुरके द्वार । तासौं युद्ध कियौ विकरार ॥ ३२ ॥ रदन दशन अरु खगतैं सही । भयौ युद्ध जो जाय न

---

१ जातिस्मरण ज्ञान ।

कही ॥ फिर दोनौं तजकै निज प्रान । गति पाई निज भावसमान ॥३३॥ सूकर तो निज पुन्यवसाय । प्रथम स्वर्गमैं सुरपद पाय ॥ अणिमादी रिधि लही अत्यन्त । तमनाशक तन अतिदुतिवन्त ॥३४॥ भागवन्त आवत श्रुतदेव । लखकै जन हरषैं स्वयमेव ॥ सुन्दर पट भूषण धारंत । कंठविषै वर दाम दिपन्त ॥ ३५ ॥ कल्पवृक्षकी द्युति परिहरै । अवधिज्ञान चख निरमल धरै ॥ दिव्य सौख्य देवांगन संग । नितप्रति भोगै भोग अभंग ॥ ३६ ॥ वहुत अमर आज्ञा सिर धरैं । तिस महिमा किम वरनन करैं ॥ जिनवर चरन कमलको दास । पूजन करै धार उल्लास ॥ ३७ ॥ कृत्रिम अकृत्रिम श्रीजिनधाम । अरु श्रीजिनप्रतिमा अभिराम ॥ अथवा तीर्थंकर साक्षात । तिनकौं वन्दे पुलकित गात ॥ ३८ ॥ दुर्गतिनाशक सिद्धसुखेत । यात्रा ठानैं हर्षसमेत ॥ महामुनीकी भक्ति करंत । संतनतैं वातसल धारंत ॥ ३९ ॥

दोहा ।

ऐसे सुख भोगत सदा, अभयदानपरभाव ।
तिस महिमा जगके विषै, को कवि कहै वनाय ॥४०॥

रोला ।

ऐसे श्रीजिनकथित, धर्म ताके प्रसाद कर ।
भव्यजीव सब थानविषैं, सुख लहैं अतुलवर ॥४१॥
सो किहिविधि है धर्म, जिनेश्वरअरचा करनी ।

पात्रनको अन-दान सुव्रत, किरिया अघहरनी ॥
तिथि औसर उपवास यही वृष हिरदे धारौ ।
सो कल्याणनिमित्त सिरीजिनने उच्चारौ ॥ ४२ ॥

दोहा ।

अब वह पापी व्याघ्र जो, कुत्सित दुष्ट अज्ञान ।
मुनिभक्षणसैं भाव कर, छोड़ दिये निज प्रान ॥४३॥
तिसी पापपरभावतैं, गयौ नरकके बीच ।
ताड़न मारन आदि बहु, सहित भयौ वह नीच ॥४४॥

सोरठा ।

तातैं भविजन जान, पुन्य पापको फल अफल ।
श्रीजिनवृष उर आन, सदाकाल ताकौं भजौ ॥४५॥

रोला ।

श्रीसम यह शुभकथा, जगतमैं हो प्रसिद्ध अति ।
श्रीजिनसूत्रमँझार कही, गणनायकजी सत ॥
अभयदानसंयुक्त, पात्रभेदनकरि जानौ ।
परम सौख्यसुस्थान, पापनाशक पहिचानौ ॥४६॥

इति अभयदानकथा ।

भारतवर्षीय जैन युवकसंघ का स्वतंत्र सिरीज़

| वर्ष १ | जैन युवक | ट्रैक्ट नं० २ |
|---|---|---|

आलस औ उन्माद मोह से सोते जैन जगाने को
"जैन युवक" जन्मा है जग में उन्नति मार्ग बताने को

# धर्म प्रभावना

प्रकाशक:—

बा० कुलवंतराय जैन ओवरसियर, हरदा सी. पी.

पं० तेलूराम के प्रबन्ध से
मल्हीपुर प्रेस, मल्हीपुर, सहारनपुर में मुद्रित।

प्रथमवार १०००

मूल्य एक आना -)

# जैन युवकों से नम्र निवेदन

निवेदन है कि इस अंक के पहुँचते ही अपनी स्वीकार्ता का परिचय दें और मनीआर्डर से मूल्य भेजने की कृपा करें।

वी० पी० मंगाने से ।) विशेष डाक खर्च पड़ेगा जो सज्जन ग्राहक होना मंजूर न करे उनसे प्रार्थना है कि एक कार्ड से अपनी ना मंजूरी भेजदें या कम से कम अगला ट्रैक्ट वापिस करदें ऐसा न करने से हम आपकी मंजूरी समझ कर तीसरा अंक वी० पी० से भेजेंगे आशा है आप इस पर जरुर ध्यान देंगे।

## जैन युवक ट्रैक्ट सिरीज

के उद्देश्य

जैन धर्म का प्रचार तथा समाज में जागृति पैदा करना

नियमः— प्रत्येक वर्ष लगभग २० ट्रैक्ट छपकर प्रकाशित होंगे वार्षिक मूल्य जो पेशगी लिया जावेगा डाक व्यय सहित इस प्रकार होगा।

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| हर | ट्रैक्ट | की | १ | प्रति का | सालाना | १) |
| ,, | ,, | | २ | प्रतियों का | ,, | १॥) |
| ,, | ,, | | ५ | ,, ,, | ,, | ३) |
| ,, | ,, | | १० | ,, ,, | ,, | ५) |
| ,, | ,, | | १५ | ,, ,, | ,, | १०) |
| ,, | ,, | | १०० | ,, ,, | ,, | ३०) |

प्रत्येक ट्रैक्ट अनेक विद्वानों से लिखाया जारहा है ग्राहक बनकर लाभ उठावें और प्रचार करें।

कुशवन्तराय जैनी ओवरसियर

हरदा सी० पी०

# धर्म प्रभावना

( रचयिता रामप्रसाद बरुआ 'निशेश' हरदा )

फैला है मिथ्यात्व पूर्णतः, चहुँदिशि छाया अन्धःकार।
पथ भूला जिससे फिरता है, मित्रो ! यह मानव संसार॥
है अशांति घर घर में फैली, होता जाता धर्म अलोप।
अरुण निगल रहा जैनों को, 'रूढ़ि' कालका अग्निप्रकोप॥
ऐसे कठिन समयमें प्रियवर, कैसे होवे जात्युत्थान।
कैसे स्वभिमान है रखना, कैसे लहरे धर्म निशान॥

× × ×

नये नये मन्दिर बनवा कर, चमकीले कर पालिशदार।
रथयात्रा या जल विहार से, हो सकता क्या धर्मोद्धार॥
हन्डी झाड कांच आदिक में, रुपया जाता कई हजार।
कई नई प्रतिमाएं रक्खें, करते हैं कई जैन विचार॥

× × ×

धर्म नहीं यह है ढकोसला, इन से नहीं होना उद्धार।
अंधकार तो तभी हटेगा, जब होगा 'साहित्यप्रचार'॥
सामाजिकविकास होने से, मिट जावेगा सारा त्रास।
इस प्रकारकी हो प्रभावना, तो 'निशेश' हो धर्म प्रकाश॥

—:०:—

ॐ

# धर्म प्रभावना

( लेखक--धर्मरत्न पं० दीपचन्द्र जी वर्णी )

अज्ञान तिमिर व्याप्ति-मयाकृत्य यथा यथम ।
जिन शासन माहात्म्य प्रकाशःस्यात प्रभावना ॥

( र. क. श्रा. )

परम पूज्य श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं—कि जिस समय संसार में अज्ञान (मिथ्यात्व) रूपी अंधकार फैल रहा हो, उस समय जिस प्रकार से हो सके उसको दूर करके जिनशासन (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूपी मोक्षमार्ग) के महात्म्य को प्रगट कर देना इसी का नाम प्रभावना है जैसे—

जिस समय शव मत का प्रचार बढ़ गया था, उस समय पूज्य समन्तभद्राचाय ने महाराज शिवकोटि की सभा में जैन धर्म के महात्म्य को प्रगट करके उन्हें

अपना शिष्य बनाया था। स्वामी समन्तभद्र का इतना प्रताप था कि जिस प्रदेश में उनके आने की खबर पड जाती थी, वहांके बड़े २ वादी-प्रतिवादी जन नतमस्तक होकर शरण मे आजाते थे।

जिस समय भारत मे बौद्ध धर्म प्रबल हो उठा उस समय श्रीमद् भट्टाकलंक स्वामी ने, बाल्य काल में ही काम पिशाच को जीत कर सहोदर सहित विद्याध्यन किया और बौद्ध द्वारा भाई की मृत्यु हो जाने पर भी पुरुषार्थ से जैन धर्मका महात्म्य प्रगट किया था, यहां तक कि, बौद्ध मत के प्रबल सम्राज्य को छितर बितर कर देश पार कर दिया था।

श्रीमज्जिन सेनाचार्य ने तथा लोहाचार्यादि महान आत्माओं ने जैन धर्म जगद् व्यापी बनाने के लिये अनेकों भव्य प्राणियो को सम्बोधन किया और उन्हे जैन धर्म की दीक्षा देकर सन्मार्ग मे लगाया था, जिन के प्रसाद से आज अनेकों जातियां अपने को परम्परा जैन बताती हुई शिरोन्नत कर रही है, प्रभावना इस का नाम है।

आज भी हमारे प्रभावनांग के अभिलाषी भाई हजारों रुपया हर वर्ष अनेक रूप से धर्म कार्यों के नाम से व्यय करते है। जैसेः—

(१) कोई नवीन मंदिर अनेक मंदिरो के होते हुए और उन की अव्यवस्था देखते हुए आवश्यकत्ता न होने पर भी बनवाते और उनमें अनेको (प्राचीन प्रतिमाओ के रहते और उन की पूजादि व्यवस्था न होते हुए भी) नवीन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराते हैं।

(२) कोई रथ यात्रा, जलविहार, सभा मंडप आदि करके बहु संख्या में संघ एकत्र करते है।

(३) कोई प्राचीन मंदिरों में जहां कहीं थोड़ा भी स्थान मिला कि एक नवीन संगमर्मर की वेदी मंगा कर जड़ा देते है। यहां तक कि मंदिरों में बैठने तक को स्थान नहीं रह जाता।

(४) कोई तीर्थ यात्रार्थ संघ निकालते हैं।

(५) कोई मंदिरों को पुराने पत्थर या चूने बने हुए फ़र्शों दीवालों और वेदियों को तुड़वाकर उसके बदले मकराना के फर्श या वेदी बनवाते या विदेशी अपवित्र रंगों के रंगे हुए पालिश दार चिनाई मिट्टी के टुकडों से (जो मंदिर में आने देना तो दूर रहा किंतु छूकर भी नहाना चाहिये था) मंदिरों की सजावट करते है। अनुसार कार्य भी प्रभावना के हेतु होते व हुए हों। मैं इनका विरोधी नहीं हूं। तो भी इतना अवश्य दृढ़ता पूर्वक कहूं गा कि वर्तमान काल मे, इनमें से एक भी कार्य मार्ग प्रभावना का हेतु नहीं है। क्योंकि जैसे भोजन प्राणियों का प्राण रक्षक अवश्य है परन्तु वही भोजन मात्राधिक होने से अजीर्ण रोग उत्पन्न करके प्राण घातक होजाता है। उसी प्रकार उक्त कार्यों की भी बात है। अर्थात—

जिन मंदिर और जिन प्रतिमाएं तो हमारे लिये शाक्षात जिनेन्द्र के रूप को बताने वाली है। उन की प्रक्षालपूजा तो हम लोगों को स्वयं करना चाहिये परन्तु उन की अधिकता होने से बिना नौकर (पुजारी) रखे काम ही नहीं चलता। पूजा की द्रव्य स्वशक्ति अनुसार

प्रत्येक गृहस्थ नरनारी को अपने घर से लाकर मन्त्रो-च्चारण कर के चढ़ाना चाहिये। परन्तु आज कल उसके लिये चन्दा कराने या जायदाद निकालने की जरूरत पड़ती है। मंदिरों की सम्हाल, झाडना, बुहारना, वर्तन मांजना आदि कार्य स्वयं गृहस्थों को भक्तिभाव से करना।

(६) कोई हजारों रुपयों का वही अपवित्र रंगों से रंगा हुआ पालिश दार कांच-हांड़ी-फानूस-झाड़-गोलादि से मदिरों की शोभा बढ़ाते है।

(७) कोई मन्दिरों में हजारों रुपया के चांदी सोने आदि के उपकरण और असंख्य चौइन्द्री प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए रेशमी व विदेशी वस्त्रों के चन्दोवे अत्तारादि देकर ही प्रभावना मानते है।

(८) कोई वम्बई, इन्दोर, अजमेर, आदि के कलों के रथों की नकल बनवाने तथा मंदिरों मे चित्रकारी कराने मे व्यग्र-चित्त ही रहते हैं।

(९) कोई बड़े जोर शोर से विपक्षियों के मुकाबिले में विजय प्राप्त करने की अभिलाशा से जुलूस निकालने में ही प्रभावना समझ रहे है।

(१०) कोई स्वामी वत्सल के नाम से लोगों को खिला पिला देने और मेवा मिष्ठान्त बांटने को ही प्रभावना कहते है।

इत्यादि, अपनी २ रुचि और समझ के अनुसार अब भी लोग लाखों रुपया प्रभावना के नाम से खर्च करलेते है। सम्भव है कि भिन्न भिन्न समयों मे ऊपर कहे चाहियें

परन्तु, इस के लिये माली और व्यासों को रखना आवश्यकीय होगया है। और वे भी जो रखे जाते है सो वेतन देकर नहीं किन्तु वहीं मन्दिरों मे जिनेन्द्र के सन्मुख चढ़ी हुई निर्माल्य के बदले। अर्थात् जो द्रव्य चढ़ती है उससे दो कार्य साधे जाते है (१) जिनेन्द्र की पूजा करके स्वर्गादि की प्राप्ति रूप फल (२) मंदिर के व्यास-माली आदि का वेतन चुका कर उस पर स्वामित्व प्राप्ति रूप फल। परन्तु गम्भीर दृष्टि से विचारा जाय, तो वास्तव में इसका कारण मंदिरों व प्रतिमाओं की अधिकता ही है। क्योंकि, अब भी जहां एक मंदिर और थोड़ी प्रतिमां है वहां के भाई बड़ी भक्ति से स्वयं ही पूजा-प्रक्षाल करके पुण्य लाभ करते है। परन्तु जहां अधिकता होती है, वहीं ऊपर लिखित व्यवस्था देखी जाती है। अर्थात वहां पुजारी और माली ही मंदिरों के उद्घाटन करने वाले होते है।

रथादि संघ एकत्र करने मे संघवी लोग तो प्रबन्धादि में और आगन्तुक-परस्पर मिलने-खाने-बनाने, सामानादि की रक्षा में व्यग्र रहते है, वास्तविक धर्म लाभ कोई भी नहीं लेने पाते। हां रेलवे कंपनियां, पोस्ट, तार, प्रेस, पोलिस व म्यूनिसिपल वालों को आर्थिक लाभ अवश्य ही हो जाता है!

नवीन वेदियां जड़ने से मंदिरों में स्थान बहुत संकीर्ण हो जाता है: तथा पूजा की कठिनाई बढ़ जाती है, कहीं २ तो एक जगह नमस्कार करने से पीछे की ओर पीठ व पैर पड़ते हैं, जिससे महान् अविनय होती है। इस के सिवाय लोगों को समय तो वही १०, ५ मिनट जो लगते थे रहता है। उस में चाहे एक हो चाहे अनेक

वेदियां हों सब ही की बन्दना कर लेना है। अधिक वेदी होने से बन्दना वाले अधिक समय तो लगा नहीं सकते, तब तो स्थिर मन से एक जगह दश १५ मिनट दर्शन स्तवन करते थे, सो भी नहीं करने पाते, क्यों कि बन्दना करना बाकी है। यह दशा देख कर वह कथा याद आती है जैसे एक आदमी ने अपनी गाय को गिरमार (बांधने की रस्सी) खाते देख कर कहा था कि, चाहे तो दो पैसे का गिरमा खाले चाहे तो उतने ही का घास खाले, उस से अधिक तो मेरे पास तुझे देने को कुछ है नहीं।

तीर्थ के संघ निकालते अवश्य है, परन्तु उसे रख राख कर पीछे लाना कठिन हो जाता है, इस का हाल सभी यात्रार्थी संघ वाले जानते है।

मंदिरों मे चिनाई पत्थर लगाने तथा कांच और रेशम से सुसज्जित करने में कितनी हिंसा इस निमित्त होती है? सो अहिंसा धर्म के पालने वाले बन्धु गणों को इन वस्तुओं की उत्पत्ति के विषय में विचार करके देखना चाहिये।

उपकरणों की अधिक व बहुमूल्यादि के कारण मंदिरों में सदैव ताले लगाये रखना पडते है। इतने परभी प्रति वर्ष कितने भाई कपट वेश बना बना कर धर्म की ओट में चाट कर कर के उपकरणों को ले जाकर घोर पाप का बंध करते है। सो प्रत्यक्ष है।

इत्यादि बाते आज देखने मे आती है? तात्पर्य "अति सर्वत्र वर्जयेत" अर्थात-प्रत्येक कार्य की कोई सीमा व समय होता है। सदा सर्वत्र एकसा नहीं चलता जिसे किसी मनुष्य ने ग्रीष्म ऋतु मे आये हुए अपने महमानों का सन्मान

शीतोपचारादि द्वारा किया। अर्थात ठंडे पदार्थ खिलाये पंखा खिचवाया, रात्रि को खुले छत पर मशहरी दार पंलग डाल कर सुलाया और ओढ़ने पहरने को पतरी मलमल के वस्त्रादि दिये, कालान्तर में उस के मरने पर पुनः वेही महमान यजमान खबर करने उनके यहां आये, उस समय शीत ऋतु थी। अतएव उसके लड़के ने सोचा कि हम को इन का पिता से अधिक सन्मान करना चाहिये क्योंकि हमारे साम्हने तो इनका पहिला ही अवसर है। ऐसा विचार करके उस मूर्ख ने उन लोगों को अत्यन्त शीत कारक भोजनादि कराये, खुले छतों पर बढ़िया से बढ़िया पतली मखमल की चद्दरें उढ़ा कर सुलाया खूब पानी छिड़क कर खश की टट्टियां बन्धवाई और पंखे चलवाये, इत्यादि रूप से सन्मान तो वास्तव में खूब किया, परन्तु इससे महिमान तो शीत से जकड़ कर यमराज के यहां जाने की तैयारी में लगे! तात्पर्य—कोई भी कार्य अवसर देखकर करने से ही फल प्रद होता है।

इस समय हमारी जैन समाज की भी वही व्यवस्था है; यह अपनी गति और दिशा बदलना नहीं चाहती, इस लिये:—

हम पूछते हैं कि यदि एकान्त से उक्त कार्य ही प्रभावना-त्पादक है तो इन के बराबर चलते रहने पर भी आप की संख्या प्रति १० वर्ष में क्यों पचास हजार से ऊपर घटती जा रही है? क्यों इस से धर्म श्रद्धा और आचरण कम हो रहे हैं? समाज क्यों दिनों दिन धन हीन तन क्षीण और मन मलीन होती जाती है? क्यों परस्पर कलह

आदि विद्वेश भाव बढ़ता जाता है ? क्यो कर इसमे अनेको ढोंगी और स्वार्थियों का गुरु–भट्टारक, त्यागी, व्रती आदि के नाम से प्रवेश होगया है ? क्यों इस से अन्य समाजे सहानुभूति के बदले द्वेष भाव रखने लगी ? क्यो दिनों दिन मत भेद बढ़ता जाता है ? क्यों एक ही गुरु आगम मानने वाले होकर भी अनेक पंथादि प्रचलित होगये ? क्यो नहीं नवीन जैनी बने ? इत्यादि जगद् व्यापी पवित्र जैन धर्म की यह व्यवस्था क्यों हो रही है ? इससे मालूम होता है कि उक्त बातों के सिवाय और भी अनेकों हेतु प्रभावना के होते हैं, जिन में मुख्य हेतु ये है।

(१) जैन धर्म के साहित्य को प्रकाश में लाकर अनेक भाषाओं मे उलथा करके देश विदेशों में प्रचलित करना।

(२) जैन धर्म की प्राचीनता तथा समीचीनता प्रदर्शक प्राचीन शिलालेखो, प्रतिमाओं, मंदिरों, पट्टावलियो पट्टों आदि के सन्ग्रहार्थ और प्रकाशनार्थ जैन पुरातत्व विभागों की स्थापना करना।

(३) जैन धर्म के तत्वों व सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अनेक भाषा भाषी सब प्रकार की योग्यतावाले प्रौढ सदाचारी विद्वानों तथा त्यागियों का सवेतिनिक और अवेतनिक रूप से भ्रमण करना, और उन के समस्त प्रकार के खर्च का भार समाज को अपने जिम्मे लेकर उनसे किसी प्रकार का चन्दादि नहीं मंगवाना !

अर्थात् उन का काम मात्र धर्म प्रचार और कुरीति निवारण करने का हो।

(४) ऐसे सदाचारी-विद्वान बनाने तथा सर्व साधारण में शिक्षा प्रचारार्थ शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करना–

(अ) उच्चकोटि धर्म शास्त्र कराने के हेतु संस्कृत के न्याय, व्याकरण तथा साहित्य विषय के विद्यालय तथा गुरुकुल खोलना जिन का प्रधान हेतु संस्कृत के साथ धर्म शास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान तैयार करने का हो।'

(आ) उच्चकोटि के हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञान कराने के साथ धर्म शास्त्रों का अध्ययन कराना। इस का प्रधान हेतु अनेक भाषाओं के उपदेशक, लेखक, पुरातत्वों खोजी विद्वान आदि तैयार करने का हो !

(इ) औद्योगिग व व्यापारिक विद्यालय खोलना, जिन में धर्म ज्ञान के साथ साथ अनेक प्रकार के हुनर-कला कौशल्य व उद्योग धन्धे सिखाये जांय। इस से समाज में उद्योग व व्यापार की वृद्धि हो ! यही विभाग समाज की आर्थिक दशा सुधार का सभी विभागों का सहायक विभाग होगा !

(ई) अंग्रेजी के स्कूल व कालेजों के साथ छात्र भवन खोले जांय, जिन में धार्मिक शिक्षा, और धार्मिक आचारणों पर भले प्रकार ध्यान रहे !

(उ) प्रायमरी स्कूलों में पढ़ने वाले वालकों को धर्म शिक्षा व धार्मिक संस्कार जमाने के लिये जैन पाठशालायें प्रत्येक ग्राम व कस्बों मे खोली जाय।

(ऊ) वालकों के समान कन्याओं व स्त्रियों की शिक्षा का भी प्रवन्ध सदाचारिणी प्रौढ़ा विदुषी स्त्रियों के द्वारा किया जाय जिसमे उनको पढ़ाने लिखाने आदि के साथ २ गृह कार्य तथा शिल्प जैसे सूत कातना, सीना, वुनना, पिरोना चित्रकारी करना इत्यादि शिक्षा दी जाय।

(ऋ) अनाथ वालक वालिकाओं तथा असहाय-सुशीला विधवाओं के पालनार्थ सहायक फंड तथा अनाथालय

आदि खोले जांय तथा उनमें भी उनको शिक्षादि का प्रबन्ध रहे और जैसे २ योग्य होते जांय वैसे २ उन्हें योग्य विद्यालयों में भरती किये जायें या शिक्षिका आदि के कार्य लिये जाये !

(ऋ) वे पूंजी वाले लोगों को पूंजी आदि देकर उनको योग्य धंधों मे लगाने के लिये कम व्याज या अमुक मुद्दत तक अमुक रकम निर्व्याज पर देने वाले बैंक खोले जाये।

(लृ) त्यागी ब्रह्मचारियों की खोज करके यदि वे अपढ़ है तो पढ़ाने का प्रबन्ध किया जाय और जो जैन धर्म से विपरीत आचरण करने वाले ढोंगी, पाखंडी जिह्वा लोलुपी आलसी अनाचारी जंत्र मंत्र कर ठगने वाले अपढ़ अपनी पूजा कराने वाले भट्टारकों के समान समाजका धन मुफ्त लुटाकर मौज शौक उड़ाने वाले या भट्टारक पाये जायें। उन का समाज से बिल्कुल बहिष्कार आन्दोलन पूर्वक कराया जाय ताकि समाज के धन धर्म और स्वयं उनके आत्मा की पाप से रक्षा हो।

(५) योग्य सदाचारी विद्वान त्यागियों के भ्रमण कराने के लिये उनको मात्र भ्रमण खर्च और शुद्ध भोजन तथा वस्त्रों की व्यवस्था की जाय !

(६) इसके लिये प्रत्येक ग्राम व नगर पंचायतियो की दृष्टि रखना चाहिये और घरों घर अपने २ चौको में शुद्ध भोजन बनाने का प्रबन्ध होना चाहिये।

(७) सर्व साधारण के लाभार्थ पवित्र जैन औषधालय पाठशालाएं, धर्मशालाएं, सताव्रत छने पानी की पौ (प्याऊ) आदि खोलना चाहिये, तथा पशुओ के हेतु पींजरा पोल आदि करुणाश्रम बनाना चाहिये !

(८) देश हित के आन्दोलनों मे यथाशक्ति देश का साथ देना चाहिये !

(६) अहिंसा प्रचारार्थ हिंसा से तैयार हुए रेशम ऊन मिलों केवस्त्र, मोरिश खांड, चमड़े के वे हड्डी आदि के उपकरण चिनाई मिट्टी के फर्शों विदेशी रंगों कांच के सामान तथा अन्यान्य विदेशी पदार्थों का यथासंभव उपयोग नहीं करना चाहिये !

(१०) समान जातीय साधर्मी जैनों में खान पानादि बेटी व्यवहार करना ।

(११) जो नवीन जैन बनें उनको उनके गुण कर्म और वर्णानुसार शास्त्रोक्त विधि से दीक्षित करके उनके योग्य जातियां व वर्णों मे मिलाना !

(१२) परस्पर की निंदा–गर्हा छोड कर प्रेम पूर्वक अपने से विरुद्ध विचार वालों से भी मिलाना, और उन्हें समझा कर अपने (योग्य) मार्ग मे लाना ।

(१३) शास्त्रोक्त प्रायश्चित विधि का उपयोग करना ।

(१४) जैन धर्म, भेद भाव रहित सबको बताया और पालने दिया जाय ।

इत्यादि अनेको मार्ग व उपाय इस समय जैन धर्म की सच्ची प्रभावना करने के लिये करना जरूरी है समय और भी अनुकूल है । और समाज में सामर्थ भी है परन्तु केवल आवश्यक्ता है समयानुसार प्रणाली बदलने की ।

यदि जैन संख्या बढ़ जायगी और नवीन २ स्थानोंमें जैनी भाई रहेंगे, तो उनके धर्म साधनार्थ फिर मंदिरों और प्रतिष्ठाओं की आवश्यकता पडेगी तब पुनः मंदिरादि बनाना प्रभावना का मुख्यांग हो जायगा । तात्पर्य प्रत्येक कार्य में मुख्यता व गौणता होती रहती है, इस लिये अभी वर्तमान मंदिरादि धर्मायतनों की पूजार्थ उनके पूजक सच्चे जैनियों के स्थिति करण और वृद्धि की जरूरत है । आशा है समाज ध्यान देकर वीर शासन की उन्नति में तत्पर होगी ।

# सच्ची प्रभावना।

युवकों के ऊपर ही सदा से समाज सुधार का भार रहा है और उनको ही आपत्तियों का सामना करना पड़ता है, इस लिये उनको चाहिये कि नीचे लिखे कार्यों के वास्ते तन मन धन से लग कर सच्ची प्रभावना दिखलावे इसीसे जैन समाज की सच्ची सेवा है।

१—युवकों को अपने अपने गांव मे संगठित रूप कार्य करना चाहिये।

२—शास्त्र स्वाध्याय का प्रचार करना चाहिये।

३—बूढ़े बाबा जो अबलाओं पर छोटी २ कन्याओं से शादी करके हिंसक कसाई का काम करते है तथा जो अपनी कन्याओं को लोभ में बेचकर बूढ़ों के साथ धकेल देते है रोकने की भरसक कोशिश करे और करनेवालों को बहिष्कार की तलवार पर बली करादे।

४—कन्याओं को विद्या पढ़ाने के वास्ते कन्या पाठ शालाओंका प्रयत्न करे।

५—शादी विवाह मे जहांतक बने कम खर्च करने और कराने का प्रयत्न करे।

कुलवन्त राय जैन हरदा सी पी.

# भा० जैन युवक संघ की

## स्थापना और सूचना

जैन नाम मात्र के युवकों को यह सुनकर हर्ष होगा कि अब की वार इटारसी परिषद् के जल्से के समय एक भा० जैन युवक संघ की स्थापना हो गई है। जिसकी कि वर्तमान समय में अत्यन्त आवश्यकता थी क्योंकि वर्तमान समय में जैनियोंमें कोई भी ऐसी संस्था नहीथी जोकि जैनयुवकोंके जोश और उत्साह के मुताबिक उनसे काम ले सके। यह भा० युवक संघ साम्प्रा-

यिकता की विषैली वायु से अलग रहेगा। जैन जाति में जीवन और जाग्रति पैदा करेगा।

अभी इसके संगठन का कार्य आरम्भ किया जायगा। संगठन हो जाने पर जन युवकों के सामने एक प्रोग्राम रखा जायगा जिसके अनुसार कार्य होने पर जाति मे स्फूर्ति पैदा होगी। और शनैः २ कार्य आगे बढ़ाया जायगा। अभी थोड़े दिनों मे एक फार्म छपवाकर प्रकाशित किया जायगा जिसको कि भारत में जहां २ जैन युवक संघ या मंडल स्थापित है वे भर कर भेजेंगे। बाद मे उन्ही सन्घों द्वारा सभासदी फ़ार्म भरवाये जायेंगे। सभासदी फीस कुछ भी नहीं रखी जायगी। संघ का कार्य उदार सहायकों द्वारा संपन्न किया जायगा। अभी कुछ रुपया इकट्ठा होगया है उससे कार्य चालू किया जायगा। पश्चात आवश्यकतानुसार अपील की जायगी।

इसकी एक खास कमेटी रहेगी जिसमें चुने हुए ७ या ११ मेम्बर होंगे उन्ही की सलाह से सब काम होगा। एक प्रबन्ध कारिणी कमेटी रहेगी जोकि ५१ या १०१ सभासदों की होगी। शेष सब सदस्य साधारण सदस्य समझे जावेंगे। भारत के प्रत्येक प्रांत का एक-एक प्रांतिक मंत्री होगा जोकि अपने प्रांत मे युवक संघ स्थापित करावेगा और उनमें प्रचार का कार्य करेगा।

जैनमित्र-सूरत, वीर-मल्हीपुर, जैनजगत-अजमेर, सनातनजैन बुलन्दशहर, जैन दर्शन-अम्बालाकेन्ट। जैनसंसार उर्दू देहली, और जैनयुवक-रत्नमाला हरदा में इस संघ की सूचनायें छपा करेगी संघ के पुष्ट हो जाने पर इसका एक स्वतंत्र पत्र निकाला जायगा।

उपयुक्त स्थान पर इसका सालाना जल्सा हुआ करेगा। नैमित्तिक अधिवेशन भी हुआ करेंगे।

इस संघ संबन्धी पत्र व्यवहार नीचे पते से करना चाहिये।

चन्द्रसेन जैन वैद्य, मन्त्री भा० जैन युवक संघ इटावा।

८

॥ ॐ ॥

# श्री आदिनाथ स्तुती

जिसको—

## लाला भँवरलाल जैन बोहरा ( सांभर-वाला )

जयपुर निवासी ने संग्रह कर

श्री बालचन्द्र इलेकटिक प्रेस जयपुर मे छपवा कर
प्रकाशित किया

प्रथमवार १०००] वि. सं २४६२ सन् १९३६ [मुल्य -)॥ डेढ आना

॥ श्रीमहावीरायनमः ॥

# ॥ श्रीआदि नाथ स्तूति ॥

भक्ति मान देवों के झुके हुऐ मुकटो की जो मणियां हैं उनकी प्रभा को प्रकाशित करने वाले पापरुपी अंधकार को नष्ट करने वाले, और संसार समुद्र में (अर्थात चौथे काल की आदिमें सहारा देनेवाले) श्री जिनदेव के चरण युगलों को भलिभांति प्रणाम करके। संपूर्ण द्वादशांग रुप जिण वाणी का रहस्य जानने से उतपन्न जो बुद्धि उससे प्रवीण ऐसे देव लोक के स्वामी इन्द्रों ने तीन जगत के चिव हरण करने वाले महान स्तोत्रों के द्वारा जिसकी स्तूती की है उसी श्री आदिनाथ तिर्थकर भगवान रिषवदेव स्वामी को मन वचन काय करके नमस्कार करताहूँ देवो ने जिनके सिंहासन की पूजा की है ऐसे हे जिनेन्द्र बुद्धी के बिनाही लज्जा रहित जोमै आपका स्तवन करने को उद्यतमतीहूँ अर्थाव तत्परहूं सोठीक है क्योंकि बालक के सीवाय अन्य कौन मनुष्य ऐसा है जो जलमें दीखाई देने वाले चंन्द्रमाकी छाया को एका यक पकड कर उससे खेल ने की इच्छा करता हैं। हेगुणों के समुद्र तुम्हारे चंद्रमाकी कान्ती जैसे उज्ज्वल गुणों के कहने को बुद्धि से इन्द्र के समान भी कौन पुरुष ऐसा है जो सामर्थ हो क्यों के प्रलय

काल की आंधी में उछलते है मगर मच्छों के समूह जिस में ऐसे समुद्र को भुजाओं से तैरनें को कौन पुरुष सामर्थ हो सकता है अर्थात कोईभी नही तैर सकता है। हेमुनियों के ईश्वर मैं स्तोत्र करने में असमर्थ हूँ तोभी तुम्हारी भक्तिके वश शक्ती रहित भी मै आपका स्तवन करने के लिये पृवृत हुवा हूँ सोठीक ही है क्योकि हरिण प्रीति के वशसे अपने पराक्रम को विना वीचारे ही अपने बच्चे की रक्षा के अर्थ क्या सिंह को नहि प्राप्त होता है ( अर्थात ) उसके सनमुख शक्ति नहोते हुऐ भी लडने को नहि दौडता है जिसने लोकको ढक लिया है और जोभ्रमर के सामन काला है ऐसे रात्री के स्मपूर्ण अंधकार को शीघ्रता से जैसे सूर्य की किरणें नष्ट करदेती है उसी प्रकार हे भगवान तुम्हारे स्तवनसे जीव धारियों का जन्म जरा मरण रूप संसार परंपरा से बंधा हुआ है सो पाप क्षणभर में नाश को प्राप्तहो जाता है। हे नाथ इस प्रकार पाप का नाश करने वाला मान कर थोडी सी बुद्धि वाला हूँ तोभी मेरे द्वारा यह तुम्हारा स्तोत्र आरम्भ कीया है सो तुम्हारे प्रभाव से सज्जन पुरुषों के चित को अवश्यहरण करेगा जैसे की कमलिनि के पतो पर पानी का विन्दु निश्चय मे मुक्ता के फल की शोभा को प्राप्त होता है। जैसे सूर्य तो दूर ही रहो उसकी प्रभाही

तालवो में कमलों को प्रकाशमान कर देती है उसी प्रकार हे जिनेन्द्र अस्त होगये है समस्त दोश जिनके अर्थात् दोश रहीत ऐसे तुम्हारे स्तोत्र तोदूर रहे चरचा ही अथवा तुम्हारी इस भव तथा परभव संबंधी उतम कथाही जगत के जीवों के पापों का नाश कर देती हैं। हे जगत के भूषण रूप भगवान् सत्य तथा समीचीन गुणों करके आपको स्तवन् करने वाले पुरुष आपके ही सामान होते हैं सो इसमें अधिक आश्चर्य नही क्योंकि हे नाथ जो कोई स्वामी अपने आश्रित पुरुष को विभुति करके अपने सामान नहीं करता है उसे उस स्वामी की सेवा से क्या लाभ। हे भगवान अनिमेष अर्थात टिमकार रहित नेत्रों से सदा देखने योग्य आपको देख करके मनुष्यों के नेत्र दूसरो में अर्थात और और देवों में संतोष को नहि प्राप्त होते हैं, सो ठीकही है क्योंकि चंन्द्रमाकी कीरणों के सामन उज्ज्वल है शोभा जिसकी ऐसे मीठे समुद्र के जल को पीकर के ऐसा कोन पुरुष है जो समुद्र के खारी पानी पीने की इच्छा करता है हे तीन लोक के एक शिरोमणि भूषण भूत जिन भावों की छाया रुप परमाणु ओंसे तुम बनाये गयेहो निश्चय करके वे परमाणु भी उतने ही थेक्योंके आपके समान पृथवी पर कोई दूसरा नहीं है। हे नाथ देव मनुष्य और ना-

गों के नेत्रों को हरण करने वाला तथा जीती है तीनलोक के कमल चंद्रमा दर्पण आदि सबही उपमाये जिसने ऐसा कहां वा आपका मुख और कहां चन्द्रमा का कलंक से मलीन रहने वाला मंडल जोकि दिन मे पालश अर्थात् ढाक के पते के समान सफेद हो जाता हैं। हे तीन जगत केई श्वर आपके पूर्णमा के चंन्द्र मंडल की कलाओं सरीखे उज्ज्वल गुण तीन भुवन को उलं घन करते है (अर्थात) तीनो लोकों में व्याप्त है क्यों कि जो गुण एक अर्थात् अद्वि तीय तीन लोक के नाथ को आश्रय करके रहे हैं उन्है स्वेच्छा अनुसार सब जगह् वि चरण करने से कोन पुरुष निवारण कर सक़ता है। हे प्रभो यदि देवाँगनाओं करके तुम्हारा मन किंचित भी विकार मार्ग को नहिं प्राप्त हुआ तो, इसमें क्या आश्चर्य है, क्या कमी कंपित कीये है पर्वत जिसने है ऐसे प्रलय काल के पवन से सुमेरु पर्वत का शिखर चलाया मान होसकता है अर्थात् कभी नहिं हो सकता है। है नाथ तुम धूम वाती रहित तैल के पूर रहित और जो पर्वतों को चलाय मान करने वाले पवन के कदाचित भी गम्य नही है ऐसे जगत के प्रकाशित करने वाले अद्वि तीय दीपक हो क्यों कि आप इस समस्त सप्त तत्व नवपदार्थ रूप तीन जगतको प्रगट करते हैं। आप नतो

कभी अस्तको प्राप्त होते हो न राहू के गम्य हो अर्थात् न आप को राहु ग्रसता है और न बादलों के उदर से आपका महा प्रताप रुकता है और इस समय में सहज ही में तीनो जगत को आप प्रगट करते हो इस प्रकार हे मुनिन्द्र आप तीनलोक में सुर्य की महिमा को भी उलंघन करने वाली महिमा को धारण करने बाले हो।

जो सदा उदय रुप रहता है जो मोह रुपी अंधकार को नाश करता है न राहु के मुखमें गम्य है और न बादलों के गम्य है और जो जगत को प्रकाशित करता है-ऐसे हे भगवान् आपका अधिक कान्ति वाला मुख कमल विलक्षण चन्द्रमा के सामान है शोभित होता है। हे नाथ आपके मुख रुपी चंन्द्रमा करके अथवा दिन मे सूर्य करके क्या जीव लोक में आर्यावृ देश के धान्य के खेतां में पकचुकने पर पानी के भारसे झुके हुये बादलों करके क्या प्रयो जनसिद्ध होता है अर्थात् कुछ नही। हे नाथ कीया है अनंत पर्या- त पालक पादार्थों का प्रकाश जिसने ऐसा केवल ज्ञान जैसा आपमें शोभित होता है वैसा हरी हरा द्विक नाय को में नहिं सो ठीकही है क्कोंकि जिस प्रकाश से प्रकाश स्फू- राय मान मणीयों में गौरव को प्राप्त होता है वैसातो कि-

रणों मैं व्याप्त अर्थात कॉचके टुकडों मै नही होता है।
हे नाथ मैं हरि हरादिक दैवों का देखनाही अच्छा मानहूॅ
जिसके कि देखने से हृदय तुम में संतोष को प्राप्त होता
है और आप के दख ने से क्या जिमसे की पृथ्वी मे कोई
अन्य दैव दूसरे जन्म मेंभी मनहरण नहीं कर सकते हैं।
हे भगवान् स्त्रियें के सैकडों अर्थात् सैकडों स्त्रियॉ सैकडों
पुत्रों को जनती है परन्तु दूसरी माता आप जैसे पुत्रको
उतपन्न नहीं कर सकती हैं सो ठीकही है क्योंके स्मपूर्ण
अर्थात आठों दिशायें नक्षत्रों को धारण करती है परंतु
पूर्व दीशाही दैदिप्य मान किरणों का समूह ऐसे सूर्य को
पैदा करती है। हे मुनिन्द्र मुनिजन तुम्हे परम पुरुष और
अंधकार के आगे मूर्य के स्वरुप तथा निरमल्न मानते है तथा
वे मुनि जन तुम्हे पाकर के भले प्रकार मृत्यु को जीतते
है इस लिये तुम्हारे अतिरिक्त दुसरा कोई कल्याणं कारि
अथवा निरु उपद्रव मोक्ष का मार्ग नहि है। हे प्रभू सन्त
पुरुष तुम्हे अक्षय परम ऐश्वर्य से शोभीत चिन्त वनमें नहीं
आने वाले असंख्य गुणों वाले आदि तीर्थ कर अथवा पच
परमेष्ठी में आदि अरहंत निर्वृत रुप अथवा सकल कर्म रहि
त सर्व दैवों के ईश्वर अथवा कुस कुस अन्त रहित काम
देव के नाश करने के लिये के तुरुप ध्वनियों के प्रभू यम

आदि आठ प्रकार के योगों को जानने वाले गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप जीव द्रव्य की अपेक्षा एक अथवा आद्वितिय केवलज्ञान स्वरूप चिद्रूप और कर्म मल रहित कहते है ।

हे नाथ गणधरों ने अथवा देवो ने तुह्मारे केवल ज्ञान की पूजा की है इस कारण तुह्मी बुद्ध देव हो तीन लोक के जोवों के शं अर्थात् सुख वा कल्याण के करने वाले हो इसिलिये तुह्मी शंकर हो और हे धीर मोक्षमार्ग की रत्नत्रय रूप विधि का विधान करने के लिये कारण तुह्मी हो इसीप्रकार हेभगवान् तुह्मी प्रकट पनेसे अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से पुरुषों में उत्तम होने के कारण पुरुसोतम वा नारायण हो। (हे नाथ तीन लोक की पीड़ा को हरण करने वाले ऐसे तुह्मैं नमस्कार है पृथ्वीतल के एक निर्मल अलंकार रूपतुह्मैं नमस्कार है तीनों जगत के परम प्रभु तुह्मै नमस्कार है और हे जिन संसार समुद्र के सोखने वाल आपको नमस्कार है)। हेमुनियो के ईश्वर यदि सम्पूर्ण गुणों ने सघनता स तुह्मारा भलेप्रकार आश्रय लेलिया तथा प्राप्त कीयेहुऐ अनेक देवादिकों के आश्रय से जिन्है घमण्ड हो रहा है ऐसे दोशों ने स्वप्न में प्रति स्वप्नावस्था में भी कि-

सी समय भी तुझैं नहीं देखा तो इसमें कौनसा आश्चर्य हुआ अर्थात कुछनहीं।

ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय में स्थिर और उपर की और उठी है किरणें जिसकी ऐसा आपका अत्यन्त निर्मल रूप व्यक्तरूप की उपर को फैली है किरणें जिसकी ऐसे अथवा नष्ट किया है अंधकार का समूह जिसने ऐसे बादलो के पास रहने वाले सूर्य के बिंबके समान शोभित होता है। हे भगवान मणियों की कीरणें पंक्तिसे चित्र विचित्र सिंहासन पर तुम्हारा सुवर्ण समान मनोज्ञ शरीर ऊचें उदया चल के शिखर पर अकाश में शाभित होरहा है किरण रुपी लताओं का चंदो वा जिसका ऐसे सूर्य के बिंब की तरह अतिशय शोभित होता है। हे जिनेन्द्र ढुरते हुऐ कुन्द के समान उज्जवल चवरों से मनोहर हो रही है शोभा जिसकी ऐसा सोने सरीखी कान्ती वाला आपका शरीर उदय रूप चंद्रमा के समान निरमल झरनों की जल धारा जिनमें वहरही है ऐसे सुवर्ण मई सुमेरू पर्वत की नाईं शोभित होता है। हेनाथ चंद्रमा के समान रमणीय उपर ठहरे हुऐ तथा निवारण कीया है सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने और मोतीयो के समूह की रचना से बढ़ी

हुई है शोभा जिनकी ऐसे आपके तीन छत्र तीन जगत का परम ईश्वर पना प्रगट करैत हुए शोभित होते हैं। हेजिनेन्द्र गंभीर तथा ऊँचे शब्दो से दीशाओं को पूरित करने वाला तीन लोक के लोगों को शुभ समागम की त्रिभूनी देने में चतुर ऐसा और आपके यश का कहने वाला प्रगट करने वाला दुन्दुभि आकाश में सद्धर्म राज की अर्थात् तिर्थ कर देवकी जय घोषणा को प्रगट करता हुआ गमन करता है। हे नाथ गंधोदक की बूँदों से मंगलीक और मंद मंद वायु मे पतन करने वाली उर्ध्व मुखी और दिव्य मदार सुंदर नमेरु सुपारी जात संतानक आदि कल्प वृक्षो से फूलों की वर्शा आकाश से पडती है अथवा अपके दिव्य वचनो की पंक्ती ही फैलती है।

हे विभो दैदिप्य मान सघन और असंख्य संख्या वाले सूर्यों के तुल्य तुम्हारे शोभायमान मंडल की अतिशय प्रभा तीन लोकों के प्रकाश मान पदार्थों की द्युति को तिरस्कार करती हुई चंद्रमा की नाई सोम्य होने परभी अपनी दिप्ती के द्वारा रात्री कोभी जीतती है। हे जिन देव स्वर्ग और मोक्ष मार्ग को शोधने वाले मुनियों के इष्ट तथा तीन लोक के सभी चीन धर्म के तत्वों को कहने में एक मात्र चतुर

और निर्मल जो अर्थ और उसके भाओं के परिमण रूप जो गुण उन गुणों से जिसकी योजना होती है ऐसी आपकी दिव्य ध्वनी होती है। हे जिनेन्द्र फूले हुऐ सुवर्ण के नवीन कमल के समूह सदृश कांती धारण करने वाले और चारो और उछलती हुई नखों की किरणों के समूह करके सुंदर ऐसे डग रखते है वहां पर देवगण कमलों का परि कल्पित करते हैं अर्थात कमलों की रचना करते हैं। हे जिनेन्द्रे धर्मोपदेश के विधान में अर्थात धर्म का उपदेश देते समय समव शरण में पूर्वोक्त प्रकार से आपकी समृधि जैसी हुई वैसी हरि हरादिक दूसरे देवों की हुई नहिं सो ठीकही है सूर्य की जैसी अंध कार को नष्ट करने वाली प्रभा होती है वैसे तारागणों में कहां से होवे। हे नाथ झरते हुऐ मद से जिसके गन्डस्थल मलीन तथा चंचल हो रहे हैं और उनपर उन्मत होकर भ्रमण करते हुऐ भौंरे अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढा रहे हैं ऐसे ऐरावत हाथी के समान आकार वाले तथा उद्धत अर्थात अंकुशादिको नहीं मानने वाले ऐसे सामने आते हुऐ हाथी को देखकर भी आपके आश्रय में रहने वाले पुरुषों को भय नहि होता है। और हे नाथ विदारे हुए हाथीयों के मस्तकों के रक्त से जो भीगे हुऐ उज्ज्वलमोती पड़ते हैं उसके समूह से जिसने पृथवी

के भाग को शोभित कर दिया है ऐसा अथवा आक्रमण करने के लिये वांधी है चौकडी अथवा ( छलाँग जिसने ) ऐसा सिंहभी पंजे में पडेहुऐ आपके दोनों चरण कमल रुपी पर्वतों का आश्रय लेने वाले पुरुष पर आक्रमण नहिं करता है ।

हे भगवान प्रलय काल के पवन से उत्तेजित हुई जो अग्नि के सदृश तथा उडते हैं उपर को फुल्लिगे जिसमे ऐसी जलती हुई उज्ज्वल और समपूर्ण संसार को नाश करने कि माना जिसकी इच्छा है ऐसी सामने आती हुई दैवाग्नि को भी आपके नाम का कीर्तन रुपी जल शांत करदेना है । हे जगन्नाथ जिस पुरुष के हृदय में तुम्हारे नाम की नाग दमनी जडी है वह पुरुष अपने पैरों सें लाल नेत्र वाले मदोन्मत कोयल के कंठ के समान काले क्रोध से उद्धत हुऐ और उठाया है उपर को फण जिसने ऐसे डसने के लिये झपटते हुऐ सांप को शंका रहित उलंघन करता है अर्थात् पांव देकर उसके उपरसे चला जाता है ।

हे जिनेश्वर संग्राम में आपके नाम का कीर्तन करने से वलवान् राजाओं का युद्धकरते हुऐ घोडे और हाथी

यों की गर्जना से जिसमें भयानक शब्द हो रहे हैं ऐसा सैन्य भी उदय को प्राप्त होते हुए सूर्य की किरणो के अग्र भागसे नष्ट हुऐ अंधकार के समान शिघ्रही भिन्नता को प्राप्त होता है। हे देव बर्छी की नोकों से छिन्न भिन्न हुऐ हाथी-यो के रक्त रुपी जल प्रवाह के वेगमें पडे हुऐ और उसे तै-रने के लिये आतुर हुऐ योद्धाओं से भयानक हो रहा हैं ऐसे युद्ध में आपके चरण कमल रूपी वनका आश्रय लेने वाले पुरुष जीते नहीं जासके ऐसे शत्रु पक्षको जीतते हुऐ विजय को प्राप्त करते हैं। हे जगदाधार आपके स्मरण क-रने से भीषण नक्र चक्र पाठीन और पीठो से तथा विक राल वडवाग्नी करके क्षुभित समुद्र में उछलती हुई तरंगों के शिखरो पर जिनके जहाज ठहरे हुए है ऐसे पुरुष भी आकस्मिक भय के विना चले जाते है अर्थात् पार हो जाते हैं। हे जिनराज उतपन्न हुऐ भयानक जलोदर रोग के भार से जो कुवडे होगये हैं और शोच नीय अवस्था को प्राप्त हो जीने की आशा छोड बैठे हैं ऐसे मनुष्य आपके चरण कमल के रज रुपी अमृत से अपनी देह लिप्त करके काम देव समान रुप वाले होजाते हैं।

जिनके शरीर पांव से लेकर गले तक वडी वडी सांकलों से निरंतर जकड रहे है और वडी वडी बेडियों के कीनारों

से जिनकी जंघायें अत्यंत छिन्नगई हैं ऐसे मनुष्य तुम्हारे नाम रुपी मंत्र का स्मरण करने से अपने आप बंधन के भयसे सर्वथा रहित होते हैं जो बुद्धिमान् इस तुम्हारे स्तोत्र को अध्यन करता है पढता है उसको मस्तहाथी, सिंह अग्नि, सर्प, संग्राम समुद्र, महोदररोग और बंधन, इन आठ कारणों में उतपन्न हुवा जो भय डर कर मानो शिघ्र ही नाश को प्राप्त होता है। हे जिनेन्द्र इस संसार मे मेरे द्वारा भक्ति पूर्वक अनंत ज्ञानादी गुणो करके गूंथी हुई मनोज्ञ अकारादि वर्णों करके यमक श्लेषु अनुसायादि रुप विचित्र फूल वाली और कंठ में पड़ी हुई तुम्हारी इस स्तूति रुपी माला को जो पुरुष सदैव धारण करता है उससमान से ऊंचे अर्थात आदर नीय पुरुष को राज्य स्वर्ग मोक्ष और सत् काव्य रूप लक्ष्मी विवश होकर प्राप्त होती है।

प्रार्थना आदिश्वर भगवान् पद नं २

जगदीश तुम खबर लो कारज को आ सवारो।
श्री आदनाथ स्वामी सागर से पार उतारो॥
चारों दिशा में स्वामी फैल्यों है यश तुम्हारा।
तुमही को पहिले पूजे जिन धर्म है हमारो॥ जग०
माता मरू के तुमही जब आये थे गरभ मे।
जुध्या में रत्न वर्षे जब जन्म तुमने धारो॥ जग०

राजा तुम्हीं कहाय नीती से न्याय करके।
फिर धर्महेतु स्वामी घर ग्रहस्त सब विसारो ॥ जग०
तप जा किया बनों में हुवा ज्ञान तुमको केवल।
उपदेश कर जगत में जिन धर्म को उभारो ॥ जग०
तुमही ने ज्ञान देकर सब नीतियां बताई।
भूलों को स्वामी तुमने अंधकूप से निकारो ॥ जग०
कैलाश गिर पे जाकर फिर मोक्ष पद लिया है।
जैनी भँवर को स्वामी है आसरो तिहारो ॥ जग०

पद नं २ चाल सरोता कहां भूलआये ०

आदिनाथ स्वामी ने दर्श दिखाये। अदनाथ०
सबसे पहिले आदि तिर्थंकर जन्म अजुध्या पाये जी
नाम किया है नाभ राय का तुमरे पिता कहाये जी
हो दरश दिखाये०
मात मरु देवी ने स्वामी तुमको गोद खिलाये जी
बाल अवस्था में कर यागन तुम गुनवान कहाये जी
दरश दिखाये०
जैन पंथ के मारग जग मे तुमने आप चलाये जी
कार बार सारे बतलाये ज्ञान हृदे में छाये जी
हो दरश दिखाये०

सागन कर के नगन मूरती तुम नगरी से धाँये जी
जा तप किया बनों के अन्दर अन्तर ध्यान लगाये जी
हो दरश दिखाये०
एक साल तप करके बन में भोजन की ठहराये जी
जहां गये अंत्राय पडे तुमने छः मांस बिताये जी
हो दरश दिखाये०
हस्तनापुर की सुरत लगाई जब ये मते उपाये जी
तुमने ही श्रियांस के जाके गन्ने के रस पाये जी
हो दरश दिखाये०
हाथ जोड सब करें अस्तुती दरशन करने आये जी
भवरलाल भी खडा शरण मे तुमको शीश झुकाये जी
हो दरश दिखाये०

## विनती भूधर दास—

अहो जगत गुरु देवजीन सुनिये अर्ज हमारी ।
तुम प्रभू दीन दयालु मै दुखिया संसारी ॥
इस भववन के माही काल अनादि गंवायो ।
भ्रमत चतुर्गति माहिं सुख नहि दुख बहु पायो ॥
कर्ममहा रिपुजोर एकन कान करेजी ।
मन माने दुख देई काहु सों नाही डरैजी ॥

कबहूँ इतर निगोद कबहुँ कि नर्क दीखावे।
सुरनर पशु गति माहिं वहु विधी नाचनचावे॥
प्रभू इनको पर संग भवभव माहि बुरोजी।
जो दुख देखे देव तुमसो. नाहि दुरेजी॥
एक जन्मकी वात कहि न सकू सब स्वामी।
तुम अनंत पार्याय जानत अंतर यामी॥
मैंतो एक अनाथ य मिलि दुष्ट घनेरे।
कीयो बहुत वेहाल सुनियो साहिब मेरे॥
ज्ञान महा निधि लूट रंक निबल कर डारयो।
इनही मो तुम मांहीं हे जिन अतंर पारयो॥
पाप पुन्य मिल दोय पायन वडी डारी।
तन कारा गृह माहिं मुंद मोहि दीयो दुख भारी॥
इन को नेक विगार में कुछ नाहिं करोजी।
विन कारण जग वधु वहु विधि वैर धरोजी॥
अब आयो तुम पास सुन कर शुयश तुम्हारो।
तुम निती नीपुण महाराज कीजे न्याय हमारो॥
दुष्टन देहु निकार साधुन को रख लीजे।
विनवै भूधर दास हे प्रभू ढील न कीजे॥

पुस्तक मिलने का पता—

# श्री महावीर जैन पुस्तक भंडार

## प्रो० लाला भँवरलाल ताराचंद बोहरा जैन

## ( सांभरवाला ) जैपुर सिटी (राजपूताना )

नोट—इस के अलावा हमारे पुस्तक भंडार में और भी अनेक प्रकार की धार्मिक व अन्य प्रकार की पुस्तकें तैयार मिलती हैं।

निवेदक—

ला० भँवरलाल जैन ( सांभर वाला )

जयपुर सिटी

सलूनों पूजन
प्रकाशक—
श्री वर्द्धमान जैन पुस्तकालय,
नई सड़क देहली
१॥ आना

तिनकी पूजा रचूँ भाव अरु भक्ति से।
दिवस सलूना भयो इसी यह यूक्त से॥
आह्वाननस्थापन सन्निधिकर्ण जी।
तिष्ठ गुरू इत आय करूँ पद सेवजी॥३॥

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्यादि सप्त शत् मुनिभ्यो अत्र अवतर अवतर सवौ षट् इत्याऽह्वाननम्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः प्रतिस्थापनम्। अत्र मम सन्निहतो भव भव वषट् सन्निधोकरणम्।

## ॥ अथाष्टकम् ॥

❀ चाल जोगी रासा की ❀

सीतल प्रासुक उज्वल जल ले कञ्चन झारी लाऊँ। जन्म जरामृत नाश करन को तुमरे चर्ण चढाऊँ॥ श्री अकम्पन गुरू आदि दे मुनी सप्त से जानो। तिन की पूज रचूँ सुखकारी भव भव के अघ हानो॥१॥

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्यादि सप्त शत् मुनिभ्यो नमः। जन्म जरामृत्यु विनाशाय। जलम्।

चन्दन केशर मिश्रित कर के नीको चन्दन लाऊँ। भव आताप जु दूर करन को गुरु के चर्ण चढाऊँ॥ श्री अकम्पन०

ॐ ह्रीं अकम्पनाचार्य्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नम भव आताप विनाशाय चन्दनं।

चन्द किरन सम उज्जवल अक्षित भाव भक्ति से लीन्हें। पुञ्ज मनोहर श्री गुरु सन्मुख सरधा कर जु करीने॥ श्री अकम्पन०

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्य्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नमः। अक्षय पद प्राप्ताय अक्षतम्। ३।

बेल चमेली श्री गुलाव के ताजे पुष्प सु लाऊँ। काम बाण के नाश करन को श्रीगुरु चर्ण चढाऊँ॥ श्री अकम्पन०

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनचार्य्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नमः। कामवाण विध्वंशनाय पुष्पं: ४।

गुंझा फेनी मोदक लाडू ताजे तुरत बनाऊँ। श्री गुरुवर के चर्ण चढा कर हर्ष

हर्ष गुन गाऊँ ।

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्य्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नमः । क्षुधारोग विनाशाय नैवेद्यम् । ५ ।

घृत कपूर की उत्तम जोति सु स्वर्ण कटोरी धारूँ । श्री मुनिवर की करूँ आरती मोह कर्म को जारूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नमः । मोहान्धकार विनाशाय दीपम् । ६ ।

धूप सुगन्ध सुवासित लेकर धूपायन में खेऊँ । अष्ट कर्म के नाश करन को आनन्द मंगल देऊँ ॥

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्य्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नमः । अष्ट कर्म दहनाय धूपम् । ६ ।

लौंग इलायची श्रीफल पिस्ता अरु बादाम मगाऊँ । सेव सन्तरा खट्टा मिट्टा श्री गुरू चरण चढाऊँ ॥

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्य्यादि सप्त शत मुनिभ्यो

नमः । मोक्ष फल प्राप्ताय फलम् । ८ ।

जल फल आठों द्रव्य मिलाकर भावभक्ति से लाया । हे गुरु हम को भव से तारो ताते चरण चढ़ाया ॥

ॐ ह्रीं श्री अकम्पनाचार्यादि सप्त शत मुनिभ्यो नमः । अनर्घ फल प्राप्ताय अर्घम् । ९ ।

---

## जयमाला

❋ दोहा ❋

अकंपन मुनि आदि सब सप्त सैकड़ा जान ।
तिनकी यह जयमाल सुन भाषा करूं बखान ।

❋ चौपाई ❋

जीव दया पालें गुरु स्वामी । दें धर्मोपदेश बहु नामी । १ । छहों काय की रक्षा पालें । तप कर आठ कर्म को टालें । २ । झूठ न रञ्च मात्र मुख बोलें । जो मन होय बचन सो खोलें । ३ । महासत्य व्रत के मुनि धारी । तिनके पायन धोक हमारी । ३ । तृण जल भी अदत्त नहीं लेवें । धन कञ्चन सब तृण सम जेवें । महा अचौर्य व्रत के गुरु धारी । तिनके पायन धोक

हमारी । ४ । अठारह सहस शील के भेदा । निर्भय धारत हो सुखवेदा । शील महा व्रत के मुनि धारी । तिनके पायन धोक हमारी । ५ । चौविस भेद परिग्रह गाये । सर्व त्याग वनवास कराये । परिग्रह त्याग महा व्रत धारी तिनके पायन धोक हमारी । ६ ।

### ❀ पद्धडी छन्द ❀

सुभावत भावन बारह नित्त । विचारत धर्म्म सदा पवित्त । जय ग्यारह अंग सु पढत पाठ । संसार भोग का त्याग ठाठ । ७ । पञ्चेन्द्रिय दमन करें महान । मन वचन काय कर शुद्ध ध्यान । जय मुनिवर वंदू शांति चित्त । संसार देह भोगनि विरक्त । ८ । जय मौन धार मुनि तप करंत । तव कर्म काठ सव ही जरंत । जय आनंद कंद विधान रूप । जय ध्यावत गुरु आतम स्वरूप । ९ । संसार कष्ठ काटो मुनीन्द्र । तुम चरण नमे सब देव इन्द । जय मुनिवर वंदू कर्म कोट । शिव नारि वरन का करत ठाठ । १० । मैं अल्प मती अज्ञान बुद्ध । प्रभु क्षमा करो जो हो अशुद्ध । रघुवर सुत वन्दत शीश नाय । श्री गुरु के गुण गाये बनाय । ११ ।

### ❀ घत्ता ❀

मुनि सब गुनधारं जगे उपकारं कर भव पारं सुख

कारं । कर कर्म जु नाशा आतम शासो सुख परकाशा दातारं । १२ ।

ॐ ह्रीं अकम्पनादि सप्त शत् मुनिभ्यो महार्घम्

❀ दोहा ❀

भक्ति भाव मन लाय कर पूजे बांचे जोय ।
बाबूलाल जु स्वर्गपद निश्चय ताको होय ॥

❀❀❀❀❀

## ॥ सलूनोत्पत्ति कथा ॥

श्री चौबीस जिनेश के, चर्ण नमूं मन लाय ।
प्रचलित भाषा में कहू, कथा सलूना भाय ॥

इसी भरत क्षेत्र मे एक जांगल देश मशहूर है। जिस देश में हथनापुर नामक नगर है। उस नगर मे महापद्म नामक चक्रवर्ती राजा राज्य करते थे। उसके दो पुत्र रत्न पैदा हुए। जिनमें एक का नाम पद्मराय और दूसरे का विष्णु कुमार रक्खा गया। दोनों पुत्र धीरे धीरे दूज के चांद के समान बढने लगे। जब लड़के सयाने हुए तो विष्णु कुमार का मन गृहस्थ में न लगा और वह संसार से विरक्त रहने लगे। समय पाकर महापद्म को; इनके पिता को वैराग्य उत्पन्न

हुआ। उन्हौंने तत्काल ही असार संसार को छोड़कर अपने पुत्र पद्मराय को राज्य भार सौंप कर जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। साथ ही विष्णुकुमार ने भी अपने पिता के साथ दीक्षा ले लीं और पुत्र पिता दोनों ही घोर तप करने लगे।

प्रिय पाठकवृन्दो ? इस कथा को यहीं छोड कर दूसरी तरफ चलिये। मालवा देश में उज्जैनी नाम की नगरी उसमें श्री वरमा नाम का राजा राज्य करता था उस की श्रीमती नामकी स्त्री प्राण प्यारी थी। और उसके मुख्य चार (मन्त्री) वजीर थे। १ वली २ नमुची ३ प्रहलाद ४ वृहस्पति। यह चारों ही मंत्री ब्राह्मण थे और जैन धर्म के विद्वेषी थे।

किसी समय उस नगर के पास जो वन था। उस वन में मुनीश्वरों का संघ आया। जिस संघ के स्वामी श्री परम गुरु अकम्पनाचार्य थे। और इनके सहित सर्व सात सौ मुनीश्वर थे। जब सर्व मुनीश्वर उस वन में स्थित होगये। थोड़ी देर के बाद मालूम हुआ इस राज्य के मत्री जैनियों के बड़े द्रोही हैं तो श्री अकम्पनाचार्य जी ने सर्व मुनीश्वरों से कहा कि यहां के राज्य के मंत्री या राजा कोई वन्दना को आवें तो कोई किसी तरह उनसे बात चीत न करना। और

आशीर्वाद भी मुंह से न निकालना। सर्व मौन ग्रहण करना अन्यथा धर्म की हानि होगी। सब ने गुरु की आज्ञा प्रमाण कर के मौन धारण कर लिया।

नगर के सब लोग बड़ी प्रसन्नता से मुनि वन्दना के निमित्त वन में आने जाने लगे। कोलाहल मचा देख कर राजा ने मन्त्रियों से पूछा कि यह सब लोग वन की तरफ क्यों आते जाते हैं?

मन्त्रियों ने उत्तर दिया कि जैनियों के नंगे गुरु आये हैं। उनकी वन्दना के निमित्त यह लोग वन में आते जाते हैं।

यह सुन कर राजा ने भी उसी समय श्री परम गुरु की वन्दना के लिये वन में जाने की तैयारी की। और तब फिर वह मंत्रियों सहित वह वनमें जा पहुंचा राजा ने एक तरफ से लेकर आखीर तक सर्व मुनियों वन्दना की और स्तोत्र पढ़े। परन्तु किसी भी मुनिराज ने उन्हें आशीर्वाद न दिया। राजा प्रसन्नता पूर्वक वन्दना कर घर लौटने लगे। मंत्री मुनियों की निन्दा करते आवे। सामने से श्री श्रुतकीर्ति नामक मुनीश्वर नगर से आहार लेकर लौट रहे थे और उन्होंने गुरुजी मौन धारण की आज्ञा भी नहीं सुनी थी। मन्त्रियों ने

उन्हें आते देख पास जाकर विवाद ठान दिया। और श्री मुनिराज ने बड़ी शान्ति पूर्वक उसका उत्तर दिया। जब विवाद में कुछ समय व्यतीत हुआ और आखिर में मंत्री जब हार गये तो राजा के आगे उन्हें बहुत ही लज्जित होना पड़ा। इस कारण मन्त्रियों का द्वेष और भी विकट हो उठा।

इधर श्रुतकीर्ति मुनी ने आकर सारा समाचार श्री गुरु को कह सुनाया। तब श्री अकम्पनाचार्य जी ने कहा कि भाई तुमने अच्छा नहीं किया। सर्व संघ को उपसर्ग होगा।

तब श्रुतकीर्ति मुनि ने बड़ी नम्रता से कहा कि महाराज! किस तरह उपसर्ग आने से बच सकते है? जो उपाय आप कहे वही करूँ।

गुरु जी ने कहा कि जहां पर तुम्हारा और उन मंत्रियों का वाद विवाद हुआ था वहीं पर तुम जाकर कायोत्सर्ग करो तो कोई विघ्न नहीं आ सकता।

उसी समय आज्ञा पाकर श्रुतकीर्ति मुनि ने जहां पर मन्त्रियों से उनका वादाविवाद हुआ था वहीं पर जाकर ध्यान लगा दिया।

जब रात का समय आयो तो चारो दुष्ट मन्त्रियों

ने हाथों में नंगी तलवार लेकर मुनि घात करने बन में आये। रास्ते में एक मुनी मिले जो बैठे ध्यान कर रहे थे। मन्त्रियों ने कहा कि यही हमारा बैरी बैठा है। सब मुनियों को क्यों मारते हो! इसी को मारो। औरों ने हमारा क्या बिगाड़ा है।

ऐसा विचार कर एक दम चारों ने मुनि राज पर मारने को तलवार उठाई। उसी समय बनपाल देव ने आकर चारों को वहीं कील दिया। चारों के चारों ऊपर को तलवार ताने हुए पत्थर के समान बन गये।

जब सवेरा हुआ और सब लोग वन्दना करने वन में आये। तब सबने नराधम मन्त्रियों की मूर्खता देख धिक्कार धिक्कार शब्द किया। और राजा ने आज्ञा दी कि इन चारों को सूली पर चढाया जाय।

लेकिन परम दयालु श्री मुनिराज जी ने उन चारों ब्राह्मणों को दण्ड से छुड़वा दिया। अन्त मे राजा ने चारों मन्त्रियों का मुंह काला कर गधे पर चढा कर नगर मे घुमाया और देश से बाहर कर दिया। चारों मन्त्री घूमते घामते हस्तनापुर आये और वहां आकर चारों ही राजा पद्मराय के मन्त्री पद पर काम करने लगे। पद्मराय राजा का आज्ञाकारी राजा सिंहबल

१ पद्मराय की आज्ञा न मानने लगा। इससे राजा पद्मराय को बड़ा दुख हुआ। मंत्रियों ने युक्ति से कुम्भपुर जाकर और राजा सिंहबल को धोखे से बांध कर राजा पद्मराय के पास हथनापुर ले आये। राजा चारों बली आदिक मंत्रियों पर बहुत प्रसन्न हुआ और कहा जो मांगो वही पाओगे।

मन्त्रियों ने कहा महाराज यह वचन भण्डार में जमा रहे। जब हम चाहेंगे तब लेंगे।

राजा पद्मराय ने वह वचन भण्डार में जमा कर कर लिया। तब उज्जैनी नगरी से श्री सातसौ मुनियों का संघ विहार करते २ हथनापुर आये और सम्पूर्ण नगर उनकी वन्दना करने गया। बली आदि इन चारों ही मन्त्रियों ने सोचा कि यही मुनि उज्जैनी नगरी गये थे तब हमारा अपवाद हुआ था। इस कारण आज शुभअवसर हमें मिला। तत्काल राजा के पास जाकर अपना वचन मांगा।

राजा ने कहा बोलो क्या लोगे? मन्त्रियों ने राजा से सात दिन का राज्य मांगा। राजा अपनी प्रतिज्ञानुसार सात दिन का राज्य मन्त्रियों को देकर आप रनवास में रहने लगे।

इधर दुष्ट मन्त्रियों ने जहां बन में मुनिराज विराज रहे थे उसी स्थान पर नर मेदा नामक यज्ञ रचा। और मुनियों के चारों ओर लकड़ियों का तथा अन्य दुर्गन्धमयी पदार्थों को वाढा खिचवा दिया। पीछे से उसमें आग लगादी जिससे चारों ओर महान दुर्गंध छा गई। साथ ही धुए और आग की लपटों से मुनियों का सुकुमार शरीर झुलसने लगा। महा उपसर्ग आया जैन सभी मुनिराज ध्यानारूढ हो गये। क्योंकि उपसर्ग चाहे कैसा ही आवे जैन मुनि उससे अधीर नहीं हुआ करते।

मुनियों का उपसर्ग देख समस्त नगर में हाहाकार मच गयो। और प्रजा ने अन्न जल त्याग दिया। और प्रतिज्ञा की कि जब तक मुनिराजों का उपसर्ग दूर न होगा हम अन्न पानी न छुएँगे।

उसी समय मिथलापुर नगर के बीच बन मे श्री सार चन्द्र आचार्य तप कर रहे थे। उन्होंने श्रवण नक्षत्र कांपते देखो। और अवधि ज्ञान से विचारा आज श्रवण नक्षत्र क्यों कांपता है? तो मालूम हुआ कि हस्तनापुर नगर के बन मे मुनि संघ पर घोर उपसर्ग आया हुआ है। एक दम मुंह से हाहाकार शब्द हुआ और पास मे पुष्पदन्त क्षुल्लक बैठा था। उसने मुनि

से इस हाहाकार का कारण पूछा । तब श्री सारचन्द्र जी आचार्य कहने लगे कि इस समय हथनापुर के वन के बीच मुनि संघ जल रहा है और कोई उनकी रक्षा करने वाला नहीं ।

पष्पदन्त ने पूछा महाराज ! रक्षा किस प्रकार हो सकती है ? तब महाराज ने कहा कि तुमको आकाश गामिनी विद्या सिद्ध है और श्री विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि सिद्धि हुई है । उनके पास जाओ तो रक्षा हो सकती है ।

पुष्पदंत उसी समय आकाशगामिनी विद्या के बल से श्री विष्णुकुमार मुनी के पास पहुचा । और सारा हाल कह सुनाया । विष्णुकुमार को यह ज्ञात न था कि मुझे विक्रिया उपजी है । इस कारण परीक्षा के लिये भुजा उठाई तो वह बडी दूर तक फैल गई ।

उसी समय विष्णुकुमार मुनि वहाँ से आकाशगमन कर हथनापुर आये । और पहिले अपने भाई पद्मराय से मिले और कि हाय तूने यह क्यों निंद्य कर्म यापा हैं । जिस पवित्र कुल में श्री शांतिनाथ कुंथनाथ अरहनाथ तीर्थंकर पैदा हुए उस कुल में तू क्यों सूल पैदा होगया ।

पद्मराय ने हाथ जोडकर नमस्कार किया । फिर

सारी कथा सुनादी। कि यह प्रपञ्च वली आदि मंत्रियों का ही है।

उसी समय श्री विष्णुकुमार मुनि ने वामन का रूप धारणकर लिलक लगा जनेऊ पहन वली के पास जाकर अशीश दिया तो वली बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला महाराज जो मांगो सो पाओ।

तब विष्णुकुमार ने कहा कि भाई ला हमारी डग से तीन पैड-धरती दान करो। उसी समय वलीं ने बड़ी खुशी से ३ पैड धरतीं देने की स्वीकृति दे दी। जब श्री विष्णुकुमार तीन डग जमीन नापने लगे तो विक्रिया कर अपना शरीर बेहद बड़ा दिया। और दो ही डग में सारी पृथ्वी ले ली। अब कहा भई तीसरी डग को और जमीन बतो।

तब बली ने कहा तीसरी डग मेरी पीठ की नाप लो। जब मुनि ने पीठ पर पैर रक्खा तो वली चिल्लाया और क्षमा मांगने लगा। तब विष्णुकुमार ने उसे छोड़ दिया और वनमे जाकर जल की अगाध वर्षा की। वर्षा के वल से अग्नि शान्त हुई। सारे नगर में जयजयकार होने लगा। कष्ट के कारण मुनियों का माथा और सिर धड़क रहा था। इस लिये श्रावकों ने बड़ा नर्म आहार सिमरिया चावल वनवाये जिसको सब

मुनियों ने आहार किया। जहां मुनीश्वर नहीं आये उनो ने द्वार पर आकार खींचकर आहार कराया गया। तब प्रजा ने भोजन किया। मुनियों के उपसर्ग की स्मृति में सबके रक्षा वन्धन ( राखी ) मनाया। तभी से यह सलूनो पूजन की पद्धति चली आ रही है।

सब भाइयों को इसे पुण्य रूप में मानना चाहिये और एलक क्षुल्लक श्रावकों आदि को आहार देकर पीछे आप भोजन करें। और पूर्वोक्त ही पूजन भी करें और जो चित्र हो उसके स्थान पर मुनिराज का चित्र लगाकर नैवेद्य का अष्टक पढकर उनके दोनों हाथों में बड़ी विनय से सिमरियां चावल लगाने चाहिये।

रक्षा वन्धन सब कुटुम्बियों को अपने हाथ से जो घर में मुख्य हो अपने हाथ से करे। इसके वाद श्री विष्णुकुमार मुनि ने फिर दीक्षा ग्रहण की और महा तप किया। राजा पद्मराय ने चारों मँत्रियों को यथो चित दण्ड दिया। आनन्द में सर्व भाइयों की वैय्या वृत्ति का यह दिन श्रावण सुदी १५ बड़ा पवित्र है। इस लिये सब भाइयों को इस दिन धर्म सेवन पूजा जापादिक में विताना चाहिये तथा धर्म रक्षा की भी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। साथ ही यज्ञोपवीत बदलने चाहिये।

इति

॥ अथ ॥

# + श्री विष्णुकुमार महामुनि पूजा +

❀ अडिल्ल छन्द ❀

विष्णु कुमार महा मुनि को रिद्धि भई। नाम विक्रिया तास सकल आनन्द ठई॥ सो मुनि आये हथनापुर के बीच में। मुनि बचाये रक्षा कर वन बीच में ॥१॥ तहाँ भयो आनन्द सर्व जीवन घनो। जिम चिन्तामनि रत्न रंक पायो मनो॥ सब पुर जय जयकार उचरत भये। मुनि को देय अहार आप करते भये॥ २॥

ॐ ह्रीं श्री विष्णु कुमार मुनिभ्यो अत्र अवतर अवतर संवौषट् इत्याह्वाननम्।

अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः प्रति स्थापनम्।

अत्र मम सन्निहतो भव भव वषट् सन्निधीकरणम्।

चाल सोलह कारण अथाष्टक

गंगाजल सम उज्जल नीर । पूजों विष्णकुमार सुधीर ॥ दयानिधि हो जयजगबंधु दयानिधि हो सातसैकड़ा मुनिवरजान रक्षाकरी विष्णुभगवान दयानिधि हो जय जगबंधु दयानिधि हो

ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार मुनि जन्म जरा मृत्यु विनाशना.य जल

मलियागिर चंदनशुभसार पूजों श्री गुरुवर निर्धार दया।निधिहो ० ॐ ह्रीं विष्णूकुमार ० चंदनं

स्वेत अखंडित अक्षतलाय पूजों श्रीमुनिवर केपाय दयानिधि हो ० ॐ ह्रीं श्री विष्णूकुमार ० अक्षतं

कमल केतकी पुष्प चढ़ाय मेटोकामबाण दुखदाय दयानिधि हो ० ॐ ह्रीं श्री विष्णूकुमार पुष्पं

लाडू फैनी घेवर लाय सबमोदक मुनिचर्ण चढाय दयानिधि हो ० ॐ ह्रीं विषणकुमार ० नैवेद्यं

घृतकपूर का दीपकजोय मोहतिमरसबजावे खोय दयानिधि हो ० ॐ ह्रीं श्रीविषणकुमार ० दीपं

अगर कपूर सुधूप बनाय जारैं अस्टकर्मदुखदाय

दयानिधि हो ० ॐ ह्रीं श्रीविषणकुमार धूपं

लौंग इलायची श्रीफलसार पूजौंश्रीमुनिसुखदातार

दयानिधि हो ० ॐ ह्रीं श्रीविषणकुमार फलं

जलफल आठौंदर्वसंजोय श्रीमुनिवरपूजौंपददोय

दयानिधि हो ० श्रीविषणकुमार ० अर्घं

अथजयमाला ॥ दोहा ॥

श्रावणसुदी सुपुर्णिमा । मुनीरक्षा दिनजान ॥

रक्षक विषणकुमार मुनि । तिन जयमाल वखान

चाल भुजंग प्रयात ॥

आहार मुनि नहि आये कोय । निज दरवाजे चित्र सुलोय
इस प्रकार तिन दियो अहार। फिर सब भोजन कियो सम्हा
तब है नाम सलूना सार । जैन धर्म का है त्योहार।
शुद्ध क्रिया कर मानो जीव । जासो धर्म बढे सु अतीव।
धर्म पदारथ जग में सार । धर्म बिना झूठो संसार।
सावन सुदि पूनम जब होय । यह दो पूजन कीजै लोय।
सब श्रावक को दो समझाय । रक्षा बंधन कथा सुनाय।
मुनि का निज घर करो अकार । मुनि समान तिन देउ अहा
सब के रक्षा बंधन बान्ध । जैन मुनिन की रक्षा साधि।
इस विधि से मानो त्योहार । नाम सलूना है संसार :

## पध्दडी छंद

यह पूजन अबौ रचे न कोय । यदि रचे तो मैं देखे न कोय
यातै यह पूजन रचे सार । हो भूल चूक लीजो सम्हार।
श्री विष्णुकुमार के चर्ण दोय । "रघु सुत बाबू" बंदे संजोय।
"जगतै बुजुर्ग" वासी उदास । मुनि चर्ण सेव को करत आश

## घत्ता

मुनि दीन दयाल सब दुख टाला आनंद माला सुखकारी।
"रघुसुत" नित बंदे आनंद कंद दुख करन्दे हितकारी महा"

दोहा-विष्णु कुमार मुनी चरण जो पूजे धर प्रीत।
'रघु सुत' पावै स्वर्ग पद लहै पुन्य नव नीत। इत्याशीव

इति श्री विष्णु कुमार मुनि पूजा समाप्ता।

नमः सिद्धेभ्यः

# संसारदुक्खदर्पण
और
# नरकदुक्खकथन ।

प्रकाशक

श्रीजैन भारतीभवन के मालिक

**बद्रीप्रसाद जैन**

मुद्रक

बजरंगबली गुप्त 'विशारद'

श्रीसीताराम प्रेस, विसेसरगंज, बनारस सिटी ।

महावीर निर्वाण सं० २४५४ सन् १९२७ ईस्वी ।

प्रथमवार }
१०००

{ न्योछावर
{ पाँच पैसा

प्रिय मित्रो !

संसार रूपी गहन बनमें दुःख रूपी अग्नि बड़े ही प्रचण्ड रूप से स्वयं जल रही है और संसारी जीवोंको जला रही है इस अग्नि से तप्तायमान होकर संसारके जीव सर्वथा दुखी, व्याकुल और बेचैन दिखाई दे रहे हैं, ऐसा क्यों होरहा है? इसका कारण है— अज्ञान मिथ्यात्व और मोह।

संसारके अज्ञानी जीव अपने अजानपनके कारण समस्त पदार्थोंका स्वरूप कुछसे कुछ (उलटा) समझ कर और उनके मोहमें लीन होकर अपनी भूलसे स्वयं दुख उठा रहे हैं, यदि वे जरा भी विवेकसे काम लें और पदार्थोंके स्वरूपको वास्तविक रूपसे समझ जाँय, तो बहुत ही सुगमताके साथ मोहके जालके जालको तोड़ कर स्वतन्त्र हो जाँय, बस फिर तो सुख ही सुख है और वह भी कैसा—अविनाशी।

सच्चे सुखका इच्छुक—"ज्योति"

भजन **समझ मन स्वारथका संसार ॥ टेक ॥**

हरे वृक्ष पर पक्षी बैठा, गावै रंग मल्हार। सूखा वृक्ष, गया उड़ पंछी, तजकर दममेंप्यार ॥१॥ ताल पालपै डेरा कीना, सारस नीर निहार, सूखा नीर तालको तजगये, उड़ गये पंखपसार ॥२॥ बैल वहो मालिक घर यावत, तावत बाँधो द्वार। वृद्ध भयो तब नेह न कीनो, दीनो तुरत विसार॥३॥ पुत्र कमाऊ सब घर चाहै, पानी पीवैं वार। भयो निखट्टू दुर दुर पर पर, होवत बारम्बार॥४॥ जबतक स्वारथ सधै तभी तक, बने फिरै हैं यार। स्वारथ साध बात नहीं पूछें, सब बिछुड़ै संग छार॥५॥ स्वारथतज निजगहपरमारथ, किया जग-उपकार। "ज्योती" ऐसे गुरुदेवके, गुण चिन्तै हर वार॥६॥

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

# संसार दुःख दर्पण ।

दोहा ।

वीर जिनेश्वर पद नमूं, जगजीवन सुखदाय ।
कहूं दशा संसारकी, सुनो भविक मन लाय ॥१॥

जोगी रासा ।

या जगमें नहिं दीखत कोई, जीव सुखी संसारी ।
दुखिया सब जग जीव दिखाई, देत अनेक प्रकारी ॥
कबहूं जियने जाय नरक गति, सागर लों थिति पाई ।
मारन छेदन ताड़न पीड़न, कष्ट लहे अधिकाई ॥२॥
छूवत भूमि हुई इमि पीड़ा, बिच्छू सहस डसाना ।
भूख लगी तिहुं जगका खाऊँ, अन्न मिला नहिं दाना ॥
होय तृषातुर चहों सिंधु जल, बूंद एक नहिं पाई ।
रक्त राधसे पूरित नदियाँ, बहती हैं दुखदाई ॥३॥
असि सम तीक्ष्ण पत्र वृक्षके, जो तन चीर विदारैं ।
टूटे फल ज्यों पत्थर बरसैं, खण्ड खण्ड कर डारैं ॥
गरमी सरदी कष्ट दायनी, है अँधियार भयाना ।
पृथ्वीकी रज अति दुर्गन्धा, व्याकुल करत महाना ॥४॥

कष्ट नरकके जाँय न वरने, जो बहुकाल सहे हैं।
पशुगति पाई फिर दुख दाई, कष्ट अनेक लहे हैं॥
भार वहन अरु छेदन भेदन, भूख प्यास दुखकारी।
जलचर नभचर थलचर पशुको, मारत आन शिकारी॥५॥
पिंजड़े पड़ कर, खूंटे बंध कर, वन्धनके दुख पावैं।
चाबुक पैनी डंडा, लाठी, मार सबीसे खावैं॥
पापी हृदये धार दुष्टता, पंचेन्द्री पशु मारैं।
देवी पर बलिदान नामसे, असिके घाट उतारैं॥६॥
है पशुगति अति कष्टदायनी, पाय लहै दुख प्रानी।
जो भोगै दुख, वह जिय जानै, या प्रभु केवल ज्ञानी॥
कुछ शुभ भावन कर या जियने, सुरगति सुन्दर पाई।
पर मन इच्छित सुख नहि पायो, दुख पायो अधिकाई॥७॥
रंक भयो, लख सम्पत परकी, झुर झुर बदन भिरायो।
देख देख सुख भोग पराये, कर चिन्ता दुख पायो॥
बहु दुख माना, चिन्ता कीनी, रुदन कियो दुखदाई।
जब मृतुसे छह मास जु पहिले, गलमाला मुरझाई॥८॥
हा हा! यह सुख भोग छुटैंगे, अब होगी थिति पूरी।
इच्छा मनकी पूरी नाहीं, रह गई हाय अधूरी॥
कोई पुन्य उदय जब आयो, तब मानुष गति पाई।
कर्म उदय कर या गति मांही, कष्ट अनेक लहाई॥९॥
पुत्र विना दुखिया नर कोई, चिन्तत मनमें ऐसे।

मम धन संपति कौन भोगवै, नाम चलेगा कैसे ॥
होय पुत्र मर जाय दुखी तब, यह कह रुदन मचावै ।
जो ना होता तो अच्छा था, कष्ट सहा नहिं जावै ॥१०॥
जीयो पुत्र भयो दुर्व्यसनी, धन सम्पति सब खोयो ।
अब दुख मानत मातपिता सब, कुलका नाम डुबोयो ॥
मित्र स्वारथी स्वारथ साधन, कर आँखें दिखलावै ।
वैरी बनकर धन यश प्राणनका, ग्राहक बन जावै ॥११॥
कुलटा नारी कलह कारणी, कर्कश वचन उचारै ।
दोऊ कुलकी लाज गंमावै, पतिको विष दे मारै ॥
वेश्या गामी, परतिय लम्पट, ज्वारी मांसाहारी ।
मद मतवाले पतिसे दुखिया, है पति-वरता नारी ॥१२॥
पुत्र पिता पर अरि सम टूटै, चाहै यह मर जावै ।
पिता पुत्र पर रुष्ट होय कर, घरसे दूर करावै ॥
भाई भाई लड़त स्वान सम, हैं प्राणन के लेवा ।
धार कषाय उपाधि मचावै, हैं दोऊ दुख देवा ॥१३॥
विधवा नारी पति बिन दुखिया, बिना नारि पति कोई ।
कोई बाला वृद्ध पती था, दुखित अती मन होई ॥
इष्ट मित्रका होय विछोहा, शोक करन तन छीजे ।
बाल अनाथ न कोउ सहाई, किसका आश्रय लीजे ॥१४॥
कुल कुटुम्बके लोग स्वार्थी, स्वारथ वश दुख देवैं ।
दाव लगे पर धन संपति क्या, प्राणन तक हर लेवैं ॥

नृप अन्यायी सब धन छीनै, अत्याचार करै है।
वन्दी गृहमें डार मार कर, सम्पति सर्व हरै है।१५॥
धर्म नाम पर लड़त अयाने, धन लूटैं अघतापी।
मार छेद कर प्राण लेत हर, रक्त बहावै पापी॥
न्यायासन पर बैठ करै अन्याय, घूस कोई लेवै।
दोषीको निर्दोष बतावै, दण्ड सुजनको देवै॥१६॥
मारैं लूटैं चोर लुटेरे, स्याल व्याल डरपावैं।
नीर डुबावै अगनि जलावै, सिंहादिक हन खावै॥
मरी रोग दुर्भिक्ष सतावै, विजुरी तनको जारै।
काल भयानक नित डरपावत, आन अचानक मारै॥१७॥
क्रोध मान माया अरु तृष्णा, या वश हो अघ कीनो।
मार, किया अपमान, कपटकर, धन सम्पति सब छीनो॥
पर धन धरनी तियको हर कर, संकट आप उपाया।
कारागृहमें कष्ट उठाये, कुलकों लांछन लायो॥१८॥
पायो निर्बल तन अति रोगी, या विड़ रूप भयाना।
अंगहीन लंगड़ा या लूला, हुआ अंध या काना॥
कानन सुनत, न बोलत मुखसे, देखत नाहीं आपा।
कुष्ट रोगसे गलित भयो तन, तब दारुण दुख व्यापा॥१९॥
वृद्धावस्था अर्ध मृतक सम, पाय महा दुख मानै।
जाहि मृत्युसे जग भय खावै, ताहि निकट अब जानै॥
कोई भिखारी दर दर याचत, दुर दुर वचन कहावै।

रूखे सूखे झूंठे टुकड़े, पाकर भूख मिटावे ॥२०॥
बिन धन निर्धन जन, निज मनमें, कल्पै अरु दुख मानै।
देख धनी जनको दुख पावै, ईर्षादिक रुप ठानै ॥
धनी पुरुष मन, तोष न रंचक, तृष्णा वश दुख पावै।
लोभ पापका बाप, धरै मन, या से कष्ट उठावै ॥२१॥
धनको लूटैं, चोर लुटेरे, अगनि जलै नस जावै।
तब देखो धनवान पुरुषको, सोच सोच मर जावै ॥
काहू के व्यवहार वणिजमें, टोटा आय गयो है।
टोटा खोटा दुखका कारण, यासे दुखित भयो है ॥२२॥
तृष्णाके वश धनपति भूपति, नरपति हैं सब कोई।
संतोषामृत पान कियो नहिं, फिर कैसे सुख होई ॥
इन्द्रिय पाँचो कर विषयनरत, वहु विधि नाच नचावै।
मनकी गति अति चंचलपनको, लेय विषयमें धावै ॥२३॥
रूप रङ्ग रस गंध राग पर, जग जिय मन ललचावैं।
हो आसक्त दुखित अति होवैं, अपने प्राण गँमावैं ॥
विषसम विषय विनासै धनवल, यश, वुधिअरु शुचिताई।
प्राणजाँय विषखाय विषय पर, भवभवमें दुखदाई ॥२४॥
जो माने सुख या जग माहीं, विषयादिक विष खाके।
वह नर स्वान समान सुखी है, सूखा हाड़ चवाके ॥
है असार संसार दुखोंका द्वार, विपतिका घर है।
क्षण २ दुखकी हो वढ़वारी, आधि व्याधिका डर है ॥२५॥

मोहि मोहमें अंध होयकर, जग वस्तू थिर मानै।
मेरा घर दर धन जन धरनी, बन्धु मित्र निज जानै॥
हाड़ मांस अरु रक्त राधकी, देह अशुचि घिणकारी।
रूप रङ्ग पर वाके मोहित, होत मनुष अविचारी॥२६॥
जानत नाहीं रूप ढरै यह, ज्यों तरुवरकी छाया।
बालू भीत समान नसै है, कंचन जैसी काया॥
स्वारथके सब सगे संघाती, इष्ट मित्र जन प्यारे।
निज स्वारथको साधन करके, पलमें होवें न्यारे॥२७॥
और किसीकी बात कहा यह, देह संग नहिं जावै।
जाको पोखै नित संतोखै, बहुविधि चैन करावै॥
या संसार महावन भीतर, सार वस्तु नहिं कोई।
कौन पदारथ ऐसा कहिये, नास न जाको होई॥२८॥
जल बुद बुदवत जीवन जगमें, आस नहीं इक छिनकी।
काल बली, मुख खोलत जोहै, बाट एक पल छिनकी॥
फिर जगमें, किससे मोह कीजे, कौन वस्तु निज कहिये।
ऐसे जग जंजाल जालमें, फँसकर बहु दुख लहिये॥२९॥

कूए भांग पड़ीसो पीकर
उत्तम नरभव क्षेत्र पाकर
धर्म साध परहित नहिं कीन
मूढ़ पुरुषने रत्न अमोलक.
दुख चाहत भी सुख नहिं पा
यामें कारण, मोह घना.

जो चाहे सुख, जिय संसारी, आपा परको जानै।
हित अनहित, अरु पाप पुन्यका, सभी भेद पहिचानै ॥३१॥
विश्व प्रेम हृदये विच धारै, पर उपकारी होवै।
पाप पंक आतम पर लागो, संजम जलसे धोवै॥
दर्शन, ज्ञान, सु चारित्र पालै, इच्छा भाव घटावै।
पंच महाव्रत धारण करके, जगसे मोह हटावै ॥३२॥
यह जग वस्तु समस्त विनासैं, इनसै ममता त्यागै।
आत्म चिंतवन कर निज मनमें, आतम हितमें लागै॥
मैं आतम परमांतम चिद्घ, आनन्द रूप सुख रूपी।
अजर अमर, गुण ज्ञान, शान्तिमय हूँ आनन्दस्वरूपी ॥३३॥
यह तन रूप स्वरूप न मेरो, मैं चेतन अविनाशी।
ज्ञाता दृष्टा सुख अनन्तमय, हूँ शिवपुरका वासी॥
मेरी केवल ज्ञान ज्योतिसे, भरम तिमर नस जावे।
मैं ऐसा शुद्धात्म चिदानन्द, जब यह जीव लखावे ॥३४॥
तब ही कर्म कलंक विनासैं, जीव अमर पद पावै।
मिलै निराकुल सुख अविनाशी, परमातम कहलावै॥
आवे कब वह शुभ दिन जब मम, ज्ञान "ज्योति" जगजावे।
सत्य अमर आतमको पाकर, मम जियरा सुख पावै ॥३५॥

दोहा।

मेरी है यह भावना, सुख पावे संसार।
मिले निराकुलता मुझे, हो आनन्द अपार ॥३६॥

* शुभम् *

ॐ

# नरक दुःख कथन ।

पार्श्वपुराणसे उद्धृत—

दोहा ।

जनम थान सब नरकमें, अंध अधोमुख जौन ।
घंटाकार घिनावनी, दुसह वास दुख भौन[1] ॥१॥
तिनमें उपजें नारकी, तल शिर ऊपर पाँय ।
विषम वज्र कंटक मई, परैं भूमि पर आय ॥२॥
जो विषैल बीछू सहस, लगैं देह दुख होय ।
नरक धरा[3]के परश तैं, सरस वेदना सोय ॥३॥
तहाँ परत परवान अति, हा! हा! करते एम ।
ऊँचे उछले नारकी, तए तवा तिल जेम ॥४॥

सोरठा ।

नरक सातवें माहि, उछलन योजन पांच सौ ।
और जिनागम माहि, यथायोग सब जानियो ॥५॥

दोहा ।

फेरि आन भूपर परैं, और कहां उठि जाहिं ।
छिन्न भिन्न तन अति दुखित, लोट लोट बिललाहिं ॥६॥
सब दिशि देखि अपूर्व थल, चकित चित्त भयवान ।
मन सोचै मैं कौन हूँ, परो कहां मैं आन ॥७॥

---

१ मकान । २ ऊँची नीची । ३ पृथ्वी ।

कौन भयानक भूमि यह, सब दुख थानक निन्द ।
रुद्ररूप ये कौन हैं, निठुर नारकी वृन्द ॥८॥
काले वरण कराल मुख, गुंजालोचन धार ।
हुंडक डील डरावने, करैं मार ही मार ॥९॥
सुजन न कोई दिठ परे, शरन न सेवक कोय ।
ह्यां सो कछु सूझै नहीं, जासों छण सुख होय ॥१०॥
होत विभंगा अवधि तव, निज पर को दुखकार ।
नरककूपमें आपको, परो जान निरधार ॥११॥
पूरव पाप कलाप सब, आप जाप कर लेय ।
तब विलापकी ताप तप, पश्चाताप करेय ॥१२॥
मैं मानुष पर्याय धरि, धन यौवन मद लीन ।
अधम काज ऐसे किये, नरकवास जिन दीन ॥१३॥
सरसों सम सुख हेत तब, भयो लंपटी जान ।
ताहीको अब फल लगो, यह दुख मेरु समान ॥१४॥
कंदमूल मद मांस मधु, और अभक्ष अनेक ।
अक्षण वश भक्षण किये, अटक न मानी एक ॥१५॥
जल थल नभ चारी विविध, बिलवासी बहु जीव ।
मैं पापी अपराध विन, मारे दीन अतीव ॥१६॥
नगर दाह कीनो निठुर, गांव जलाये जान ।
अटवीमे दीनी अगिनि, हिंसा कर सुखमान ॥१७॥

१ लाल नेत्र । २ याद । ३ इंद्रियों के । ४ जंगल ।

अपने इन्द्री लोभको, बोल्यो मृषा अलीन ।
कलपित ग्रन्थ वनायके, वहकाये वहुदीन ॥१८॥
दाव घात परपंच सों, परलक्ष्मी हरिलीन ।
छलवल हठवल द्रव्यवल, परबनिता वश कीन ॥१९॥
वढ़ी परिग्रह पोट शिर, घटी न घटकी चाह ।
ज्यों ईंधनके योगतैं, अगिनि करै अति दाह ॥२०॥
विनछान्यो पानी पियौ, निशिभुंज्यो अविचार ।
देव द्रव्य खायो सही, रुद्रध्यान उरधार ॥२१॥
कीनीं सेव कुदेवकी, कुगुरुनको गुरु मानि ।
तिनहींके उपदेशसों, पशु होंमे हित जानि ॥२२॥
दियो न उत्तम दान मैं, लियो न संयम भार ।
पियो मूढ़ मिथ्यात मद, कियो न तप जगसार ॥२३॥
जो धरमी जन दया करि, दीनी सीख निहोर ।
मैं तिनसों रुषकरि अधम, भाषे वचन कठोर ॥२४॥
करी कमाई पूर्व भव, सो आई मुझ तीर ।
हा! हा! अब कैसे धरों, नरक धरामें धीर ॥२५॥
दुर्लभ नरभव पायकें, कोई पुरुष प्रधान ।
तप कर साधैं स्वर्ग शिव, मैं अभाग यह थान ॥२६॥
पूरव संतन यों कही, करनी चालै लार ।
सो अब आँखिन देखिये, तब न करी निरधार ॥२७॥

१ भूंठ ।

जिस कुटुंवके हेत मैं, कीने वहुविध पाप।
ते सव साथी वीछुरे, परो नरकमें आप ॥२८॥
मेरी लछिमी खान कूं, सीरी हुए अनेक।
अव इस विपति विलापमें, कोउ न दीखे एक ॥२९॥
सारस सरवर तजि गये, सूखो नीर निराट।
फल विन वृक्ष विलोकिके, पक्षी लागे वाट ॥३०॥
पंच करण पोषण अरथ, अनरथ किये अपार।
ते रिपु तो न्यारे भये, मोहि नरकमें डार ॥३१॥
तव तिलभर दुख सहनको, हुओ अधीरज भाव।
अव यह कैसे दुसह दुख, भरिहों दीरघ आव ॥३२॥
अंघ वैरीके वस परो, कहा करों कित जाउं।
सुनै कौन पूछौं किसै, शरण कौन इस ठाउं ॥३३॥
यहां कछू दुख हतनकों, युक्ति उपाय न मूर।
थितिविन विपति समुद्र यह, कव तिरिहों तट दूर ॥३४॥
ऐसी चिंता करत तहँ, वढ़े वेदना एम।
घीव तेल के योगतैं, पावक प्रजुले जेम ॥३५॥
सो०—इस विध पूरव पाप, प्रथम नारकी सुधि करैं।
दुख उपजावन जाप, होय विभंगा अवधितै ॥३६॥
दो०—तवही नारकि निर्दई, नयो नारकी देख।
धाय धाय मारन उठै, महादुष्ट दुरभेख ॥३७॥

१ इंद्री। २ पाप।

सब क्रोधी कलही सकल, सबके नेत्र फुलिंग।
दुक्ख देनको अति निपुण, निठुर नपुंसक लिंग ॥३८॥
कुंत कृपाण कमान शर, सकती मुगदर दंड।
इत्यादिक आयुध[1] विविध, लिये हाथ परचंड ॥३९॥
कहि कठोर दुरवचन बहु, तिल तिल खंडै काय।
सो तबही ततकाल तन, पारेवत मिल जाय ॥४०॥
काँटे कर छेदैं चरन, भेदैं मर्म विचार।
अस्थिजाल चूरन करैं, कुचलैं चाम उतार ॥४१॥
चीरैं करवत[2] काठ ज्यों, फारैं पकरि कुठार।
तोड़ैं अंतरमालिका[3], अंतर उदर विदार ॥४२॥
पेलैं कोल्हू मेलिकैं, पीसैं चक्की घाल।
तावैं ताते तेलमैं, दाहैं दहन[4] मजाल ॥४३॥
पकरि पांय पटकैं पुहमि, झटकि परस्पर लेहिं।
कंटक सेज सुवावहीं, शूली पर धरि देहिं ॥४४॥
घसैं सकंटक रूखसों, वैतरनी ले जाहिं।
घायल घेरि घसीटते, किंचित करुणा नाहिं ॥४५॥
कोई रक्त चुवात तन, विहवल भाजैं ताम।
परवत अंतर जायकैं, वैठि करैं विश्राम ॥४६॥
तहां भयानक नारकी, धारि विक्रिया भेष।
बाघ सिंह अहि रूपसों, दारैं देह विशेष ॥४७॥

१ हथियार। २ आरा। ३ अँतड़ियोंका समूह। ४ अगिनि।

केई करसों पांय गहि, गिरिसों देहिं गिराय ।
परैं आनि दुर्भूमिपर, खंड खंड होजाय ॥४८॥
दुखसों कायर चित्त कर, ढूंढें शरन सहाय ।
वे अति निर्दय घातकी, यह अति दीन घिघांय ॥४९॥
व्रणवेदन नीकी करैं, ऐसें करि विश्वास ।
सींचे खारे नीरसों, ज्यों अति उपजे त्रास ॥५०॥
केई जकड़ जंजीरसों, खैंचि खंभ तैं बांधि ।
सुधि कराय अब मारिये, नाना आयुध साधि ॥५१॥
जिन उद्धत अभिमान सों, कीने परभव पाप ।
तपत लोह आसन विषै, त्रास दिखावैं थाप ॥५२॥
ताती पुतली लोहकी, लाय लगावैं अंग ।
प्रीति करी जिन पूर्व भव, पर कामिनिके संग ॥५३॥
लोचन दोषी जानि कैं, लोचन लेहिं निकाल ।
मदिरा पानी पुरुषकों, प्यावैं तांबो गाल ॥५४॥
जिन अंगन सों अघ किये, तेई छेदे जाहिं ।
पलभक्षणके पापतें, तोड़ि तोड़ि तन खाहिं ॥५५॥
केई पूरव वैरकों, याद दिवावैं नाम ।
कहि दुरवचन अनेक विध, करैं कोप संग्राम ॥५६॥
भये विक्रिया देहसों, बहुविध आयुध जात ।
तिन हीं सों अति रिस भरे, करैं परस्पर घात ॥५७॥

१ घाव । २ मांस ।

शिथिल होय चिर युद्धतैं, दीन नारकी जाम।
हिसानंदी असुर दुठ, आनि भिड़ावैं ताम ॥५८॥

सोरठा।–तृतिय नरक परयंत, असुरादिक दुख देत है।
भाख्यो जैन सिद्धन्त, असुर गमन आगें नही ॥५९॥

दोहा।–इस विध नरक निवासमैं, चैन एकपल नाहिं।
तपैं निरन्तर नारकी, दुख दावानल[1] माहिं ॥६०॥

मार मार सुनियें सदा, छेत्र महा दुर्गंध।
वहै वात[2] असुहावनी, अशुभ छेत्र संबंध ॥६१॥

तीन लोकको नाज सब, जो भक्षण करलेय।
तौ भी भूंख न उपशमै, कौन एक कण देय ॥६२॥

सागरके जलसों जहां, पीवत प्यास न जाय।
लहै न पानी बूंद सम, दहै निरन्तर काय ॥६३॥

वात पित्त कफ जनित जे, रोगजात जावंत।
तिन सबहीको नरकमें, उदै कह्यो भगवंत ॥६४॥

कटुतूंबी सो कटुक रस, करवत कीसी फांस।
जिनकी मृतक मॅझार सों, अधिक देह दुरवास ॥६५॥

जोजन लाख प्रमाण जहँ, लोह पिंड गलजाय।
ऐसी ही अति उष्णता, ऐसी शीत सुभाय ॥६६॥

सोरठा।–पंकप्रभा पर्जंत, उष्णता जिन कही।
धूम्रप्रभामे शीत, उष्ण दोनों सही ॥

१ वनमें लगी हुई अगिनि। २ पवन।

छठी सातमीं भूमिन केवल शीत है ।
ताकी उपमा नाहिं महा विपरीत ॥६७॥
श्वान स्याल मंजारकी, परी कलेवर रास ।
मास वसा अरु रुधिरकी, कादो जहां कुवास ॥६८॥
ठाम ठाम असुहावने, सेंवर तरुवर भूर ।
पैने दुख देने कठिन, कंटक कलित कुशूर ॥६९॥
और जहां असिपत्र वन, भीम तरोवर खेत ।
जिनके दल तरवारसे, लगत घाव कर देत ॥७०॥
वैतरनी सरिता समल, लोहित लहर भयान ।
वहैं छार श्रोणित भरी, मांस कीच घिन थान ॥७१॥
पक्षी वायस गीधगण, लोह तुंडसे जेह ।
मरम विदारें दुख करें, चूंटैं चहुँदिशि देह ॥७२॥
पंचेंद्री मनको महा, जे दुखदायक जोग ।
ते सव नरक निकेतमें, एक पिंड अमनोग ॥७३॥
कथा अपार कलेशकी, कहै कहाँ लो कोय ।
कोटि जीभ सों वरनिये, तवहुं न पूरी होय ॥७४॥
सागर वंध प्रमाण थिति, क्षण क्षण तीक्षण त्रास ।
ये दुख देखें नारकी, परवश पत्यो निरास ॥७५॥
जैसी परवश वेदना, सहै जीव वहु भाय ।
स्ववश सहै जो अंश भी, तौ भवदधि तिरजाय ॥७६॥
इति ।

१ आमकी अनी ।

# श्रीसमोशरण पूजन विधान भाषा।

ऐसा कौन प्राणी जैन समाजमें होगा जो कि समोशरणके माहात्म्यसे अनभिज्ञ होगा अर्थात् सवही जैनी समोशरण महिमा से परिचित हैं जिन तीर्थंकर देवने घातिया कर्मोंका नाशकर डाला है उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होय है तव इन्द्र आज्ञासे कुवेर समोशरणकी रचना करै है तिसका वर्णन इस प्रकार है प्रथम कोटके चारि द्वारन पर चार मानस्थम्भ होय हैं जिनको देखकर मानी जनोंका मान जाता रहे है अर्थात् भगवानकी पुण्य प्रकृतिका ऐसा उदय है कि जिनके अतिसय कर नम्री भूत होय हैं और जब भीतर जायकर समवशरणस्थ विभूतिको देखैं हैं तब तौ प्राणियो के अनेक विकल्प दूरिभागि जाँय हैं जैसे प्रभूके प्रभामण्डल झलके है उसमें प्राणियोंके सात २ भव दिखाई परैं हैं अर्थात् तीन जन्म पहिलेके और एक वर्तमान तीन जन्म जो अगाड़ी होवैंगे ऐसी २ आश्चर्य्य कारी अनेक वातोंको देखकर क्रोध ही है स्वभाव जिनका जैसे मूसाको-देखने से बिलावको, सर्पके देखनेसे नकुलको, तथा हिरणको देखकर सिंहको होता है ऐसे २ जाति विरोधी जीव भी शाँति स्वभावी होय एक स्थानमें तिष्टैं है और धर्मोपदेश सुनकर अपना २ कल्यान करैं हैं इत्यादि समोशरणकी महिमा कहाँ तक लिखी जाय कोई मन्द बुद्धि सागरको गागरिमें भरनेका उद्योग करै परंतु वृथा है अब उसी समोशरणका पाठ भाषा लालजीकृत छपाया है सो पाठकोंसे विनय करता हूँ कि स्वयं पुस्तक मगा कर पढ़िये और संतुष्ट हूजिये न्योछावर १॥) मात्र।

१८५

# अर्हंतपासा केवली

और

# सम्मेदशिखर माहात्म्य

प्रकाशकः—

## दुलीचन्द पन्नालाल परवार

मालिक—

### जिनवाणी प्रचारक कार्यालय

बड़ाबाजार कलकत्ता।
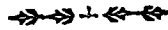
दीपावली २४५२ ]  [ न्योछावर तीन आना

हनुमान प्रेस—३, माधव सेठ लेन कलकत्ता।

काशीनिवासी कविवर बृन्दावनविरचित

# अरहंतपासाकेवली ।

दोहा—श्रीमत वीरजिनेशपद, बंदो शीस नवाय । गुरु गौतमके चरन नमि, नमो शारदा माय ॥ १ ॥ श्रेणिक नृपके पुण्यते, भाषी गणधरदेव । जगतहेत अरहंत यह, नाम 'केवली' सेव ॥ २ ॥ चंदनके पासाविषै, चारो ओर सुजान । एक एक अक्षर लिखौ, श्री 'अरहंत' विधान ॥ ३ ॥ तीन वार डारो नवै, करि वर मंत्र उचार । जो अक्षर पांसा कहै, ताकौ करौ विचार ॥ ४ ॥ तीन मंत्र हैं तासुके, सात सात ही वार । थिर ह्वै पांसा ढारियो, करिकै शुद्ध उच्चार ॥ ५ ॥ जानि शुभाशुभ तासुतैं, फल निज उदय-नियोग । मन प्रसन्न ह्वै सुमरियो, प्रभुपद सेवहु जोग ॥ ६ ॥

प्रथममंत्र—ओं ह्रीं श्रीं बाहुबलि लंबबाहु ओ क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षः ऊर्द्ध भुजा कुरु कुरु शुभाशुभं कथय कथय भूतभविष्यति-वर्तमानं दर्शय दर्शय सत्यं ब्रूहि सत्यं ब्रूहि स्वाहा ।

( प्रथम मंत्र सात वार जपना )

दूसरा मत्र—ओं ह्रः ओ सः ओं क्षः सत्यं वद सत्यं वद स्वाहा ।

( सात वार जपना * )

तीसरा मंत्र ओ ह्रीं श्री विश्वमालिनि विश्वप्रकाशिनि अमोघ-वादिनि सत्यं ब्रूहि सत्यं ब्रूहि राह्यहि राह्यहि विश्वमालिनि स्वाहा।

---

* मन एकत्र करि विनयसहित अपना अभिप्राय विचारकरि श्री अरहंत भगवान के नामाक्षरका पांसा तीन बेर डालना । जो जो वरन पड़ै तिसा वरनका भेद पाके फलका निश्चय करना । जिन मार्गमें यह यंत्र निमित्त है । इसे हमने लिखा है कि अपना वा पराया उपकार होय । वृन्दावन ।

(यह मंत्र भी सात वार जपना)

## अथ अकरादि प्रथम प्रकरण।

अअअ। जो परे तीन अकार। तो जानि सुखविस्तार। कल्याणमंगल होय। सम्मान वाढ़ै सोय ॥ १ ॥ लक्ष्मी वसै नित धाम। व्यापारमें वहु दाम। परदेशमें धनलाभ। संग्राममे जय-लाभ ॥ २ ॥ नृपद्वारमे सम्मान। संकष्ट कटै प्रमान। सव रोग अरु दुर्भागि। ततकाल जावैं भागि ॥ ३ ॥ प्रगटै सकल कल्यान यामें न संशय जान। यह महा उत्तम अंक। फल अटल जासु निसंक ॥ ४ ॥

चौपाई छंद।

अअर। दोअकारपर परै रकार। मध्यम फल है सुनो वि-चार। जो कारज चिंतो मनमाहिं। सो तौ शीघ्र होनको नाहि॥५॥ पूरव पाप उदय है जानि। सोई करत काजको हानि। ताते इष्टदेव आराधि। कुलदेवीको पूजि सुसाधि ॥ ६ ॥ तासु जजन आराधन किये। किंचित् होय काज सुनि हिये। मध्यम प्रश्न पस्यौ है येह। मति मानो यामें संदेह ॥ ७ ॥

पद्धड़ी छद।

अअहं। जहँ दो अकारके अत माहिं। हंकार परै सो शुभ कहाहिं। धन धान्य समागम लाभ होय। परदेश गयो जो वहै सोय ॥८॥ तो मनवांछितकी सिद्धि जान। अरु मित्र वंधुसो प्रीति मान। तत्काल शत्रुको होय नास। सव विघ्न मिटै अनयास तास ॥ ९ ॥ घरमे प्रगटै मंगलविभूति। तव पुण्यप्रभाव प्रवल अकूत। यह उत्तम प्रश्न सुनो पुमान। यो कहत केवली गुननिधान ॥ १०॥

**अअत** । जहं दुइ अकार पर ह्वै तकार। तहं शुभ फल जानो हे उदार। बहु मित्र मिलें भू वस्त्र ताहि। अरु पुत्र पौत्र ह्वै सदनमाहिं ॥११॥ रोगीको रोग विनाश होय क्रूरग्रहको निग्रह भि होय। जो मित्र बंधु परदेश होय, घर आवै अति मन मुदित सोय ॥ १२ ॥ कुलवृद्धि तथा सज्जन महान। तिनसो नित प्रीति बढ़ै सयान। दिन दिन अति लाभ मिलै पुनीत। यह प्रश्न केवली कहत प्रीति ॥ १३ ॥

**अरअ** । दुइ अकारके मध्य रकार। पासा परै ताखु सुवि-चार। उत्तम फलकारी यह होत। नित नव मंगल होत उदोत ॥१४॥ पूरब जो धन गयो नसाय। सो सब तोहि मिलैगो आय। राजा करहिं बहुत सनमान। बसन भूमि हय देवहिं दान ॥१५॥ भ्राता मित्र समागम होहि। सब विधि सदनमहोच्छव तोहि। सकल पापको होय विनाश। धर्मवृद्धि नित करै प्रकाश ॥ १६ ॥

**अरर** । जो अरर प्रगटै वरन। तो सकल मंगल करन। धन लाभ सूचत येह। दशदिश विमल जस तेह॥१७॥जहं जाय वह मतिवत। तहं लहै पूजा संत। ह्वै इष्टबंधुमिलाप। उद्यमविषै श्री आप ॥ १८ ॥ जल चोर पावक मरी। ये सकहिं नहिं कछु करी। सब शत्रु कीजै हान। प्रगटै सकल कल्यान ॥ १९ ॥ जिनधरमके परभाव। यह जान ह्वै सद्भाव। उत्तम कहत फल अंक। उत्तम गहो निःशंक ॥ २० ॥

**अरहं** । अरहं परै जो वरन। सौभाग्यसंपतिकरन। तो जो मनोरथ होइ। अनयास पूजै सोय ॥२१॥ कछु क्लेश ह्वै घरमाहिं

नसु रंच ही भय नाहिं । निज इष्ट पूजहु जाय । सब विघन जांय नसाय ॥ २२ ॥ मन सोच तजि थिर होहि । आनन्द मङ्गल तोहि । सब सिद्धि ह्वै है काज । अरहं कहत महाराज ॥ २३ ॥

**अरत** । जब अरत पांसा ढरै । तब सकल सुख विस्तरै । नोहि तिया प्रापति होय । सुत होय पोत्रपि होय ॥२४॥ कुलगोत सब सोभंत । तव भाल तिलक लसंत । जहँ जाहुगे तुम मीत । तहँ लहहु पूजा नीत ॥२५॥ जनमध्य हो तुम केम । ताराविषे शशि जेम । यह रुचिर प्रश्न सुजान । मनमें धरो प्रभुध्यान ॥२६॥

**अर्हंअ** । जो अहंअ छवि देय । तो सुनहु पूछक भेय । पहिले कछुक दुख होइ । फिर नाश ह्वै है सोय॥२७॥धनलाभ दिन दिन बढ़ै । अरु सुजनसंगम चढ़ै । जो काम चिंतहु वृद्ध । सो सकल ह्वै है सिद्ध ॥ २८ ॥

**अर्हंर** । जब अहंर सु दरसाय । तब अरथलाभ कराय । जसलाभ पृथिवीलाभ । यह देख परत सुसाभ (?) ॥२९॥ राजादि बंधूवर्ग । सब करहिं आदर सर्ग । भ्रातादि इष्टमिलाप । धन-धान्य आगम व्याप ॥३०॥ व्यवहार अरु परदेस । सब ओर उत्तम तेस । सब सोच संशय हरहु । शुभ तुमहिं धीरज धरहु ॥३१॥

**अर्हंहं** ।जो अहंहं है अंक । सो कहत है फल वंक । दीखै न कारज सिद्ध । यह काज तोर सुबुद्ध॥३२॥धन नाश ह्वै हैं तोहि । तन क्लेस पीड़ा होहि । व्यापारमें धनहान । परदेश सिद्धि न जान ॥३३॥ तिहिहेत कर भविजीव । जिन जजन भजन सदीव । जप दान होम समाज । तब होइ कछु इक काज ॥३४॥

**अहंत** । अक्षर अहंत परै । तब सकल शुभ विस्तरै । कल्याणमंगल धाम । सुत भ्रात मिलहि सुदाम॥३५॥ उद्यमविषै धनधान्य । संपतिसमागम मान्य । रनकेविषैं सब जीत । तोहि लाभ निश्चय मीत ॥ ३६ ॥ अरु होय वंदीमोच्छ। निरबाध है यह पच्छ। ध्रुव ह्वै मनोरथ सिद्ध । मति मान संशय वृद्ध ॥ ३७ ॥

**अतअ** । यह अतअ भाषत वरन । कल्याणमंगलकरन । उद्यममे श्रीविस्तरन । सब विघ्नग्रहभयहरन ॥ ३८ ॥ सुतपौत्रलाभ निहार । वांछित मिलै मनिहार । दिन आठये कछु तोहि । कछु श्रेष्ट भावो होइ ॥ ३९ ॥

**अतर** । जो अतर अक्षर ढरै । तो सकल मंगल करै । वाजित्र सदन सुनाय । घरमाहिं अनंद बधाय ॥ ४० ॥ प्रियवंधुचिंता होहि । तसु मोद मंगल होहि । धनधान्यसंजुत होय । घर शीघ्र आवे सोय ॥ ४१ ॥ गजवाजि रथआरूढ़ । भूषन वसनजुत मूढ़ । संजुत अमित कल्यान । निरभै मिलै भयभान ॥४२॥

**अहंस** । अतह ढरै जो अंक । सो अशुभ कहत निशंक । नहिं लाभ दीखत भाय । धन हाथहूको जाय ॥ ४३ ॥ ह्वै इष्टबंधुवियोग । तियतनयसंपतियोग । राजादि चोररु मरो । ह्वै शत्रु सबही घरो ॥ ४४ ॥ निहि विघननाशन हेत । कर देवजजन सुचेत । तिहि पुण्यके परभाव । घर होइ मंगलचाव ॥४५॥

**अतत** । जइं अतत आवै वरन । धनलाभ तहं बुधि वरन । संपदा सुखविस्तरन । सब सिद्धि वांछित करन ॥ ४६ ॥ प्रिय इष्ट बंधू मिलन । सब लाभ दिन प्रति दिनन । उद्यम तथा रनथान

तुव ध्रुव विजय बुधिवान ॥ ४७ ॥ वादानुवादमंझार । तुव जीत होय उदार । यामे न संशय करहु । शुभ जानि धीरज धरहु ॥४८॥

## अथ रकारादि द्वितीय प्रकरण ।

**रअअ** । आदिरकार अकार दुइ, जब ये प्रगटैं वर्न । तब धनसंपतिलाभ बहु, सुजनसमागम कर्न ॥ ४६ ॥ सोना रूपा ताम्र बहु, वसनाभरन सुरत्न । प्राप्त होय निश्चय सकल, चिंतित त्रिन जुतजत्न ॥ ५० ॥ अन्तरैन दीखै सुपन, माला सुमन सुजान । हय-गजरथ आरूढ़ अरु, देवागमन विमान ॥ ५१ ॥

**रअर** । आदि रकार अकार पुनि, तापर परै रकार । सुनि पूछक तैं तासु फल, है अभिमतदातार ॥ ५२ ॥ देश प्रजाको लाभ है, खेती वर व्यापार । धन पावै परदेशमें, घरमें सब सुखसार ॥५३॥ संगर संकट घोरमें, कुलदेवी सुखदाय । करै सहाय प्रसाद तसु, सब विधि सिद्धि लहाय ॥ ५४ ॥

**रअहं** । आदि रकार अकार पर, हं प्रगटै जब आय । भय-कारी धनहानि यह, क्लेश अशेष कराय ॥५५॥ यह कारज कर्तव्य नहिं, लाभ नाहिं या माहिं । बांधवमित्र वियोगता, अस यह सगुन कहाहिं ॥ ५६ ॥ जहं कहु जाहु विदेश तहं सिद्ध न होवै काज । तातैं थिर ह्वै कछुक दिन, सुमिरहु श्रीजिनराज ॥ ५७ ॥

**रअत** । रअत परै पाँसा कहै, मग धन लूटहिं चोर । द्रव्यहानि होवहि बहुत, अशुभ फलहि चहुं ओर ॥ ५८ ॥ नाव बुझै पावक लगै, रोगरु कष्ट कुजोग । कियो काज विनशै सकल, अशुभ करमके भोग ॥५९॥ तातै शोक न कीजिये, भावीगति बल-वान । थिर ह्वै निशदिन सुमिरिये, कृपासिंधुभगवान ॥ ६० ॥

ररअ । ररअ अंक आवै जहां तव ऐसो फल जान । नव चित चंचल चपल अति, सुनि प्रेच्छक मतिमान ॥ ६१ ॥ तै चाहत अर्थागमन,मूलनाश तसु होइ । राजदण्ड चौराग्निभय,तनदुख तोहि चहोइ ॥६२॥ तनय तिया बांधवनिसों ह्वै है तोहि वियोग । अवतैं निसरे वरसमहं, कटहिं सकलदुखभोग ॥ ६३ ॥

ररर । तिहु रकारको फल सुनो, मनवांछित फलदाय । धरा धान्य धनलाभ तोहि,मिलहि वस्तु सब आय॥६४॥तिया तनय सुत बधू धन, इष्टबंधुसंजोग । कृत उत्तम कल्याण तोहि, मिलैं सकल संभोग ॥ ६५ ॥ महालाभ उद्यमविषै, सदन तथा परदेश । सुफल काज तुव होय नित, यामे भ्रम नहिं लेश ॥६६॥

ररहं । दुइ रकारपर हं परै, तव मनवांछित होय । शोभनीक सुखसंपदा,सहज मिलावै सोय॥६७॥मंगल दुंदुभि होइ धुनि, अरथलाभ बहु तोहि मिलि है वसुधा देश पुर, यह प्रतिभासत मोहि ॥६८॥ जौन काज तुम चित धरउ, तुरित होइ है तौन भूपति अति आनन्द करै, तिन प्रति मंगलभौन ॥६९॥

ररत । ररत वरन यह कहत हैं, सुन पूछक चित लाय । परतियकी अभिलाषतैं; किये अनर्थ उपाय ॥ ७० ॥ अरथनाश तातैं भयो, अरु विग्रह घरमाहिं । राजदंड तैंने सहे, यामे संशय नाहिं ॥ ७१ ॥ तातैं परतिय परिहरहु, शुभमारग पग देहु । ब्रह्मचरजजुत प्रभु भजो, नरभवको फल लेहु ॥ ७२ ॥

रहंअ । रहंअकार आवै जहां, तहं उत्तम फल जान । वनितापुत्रधनागमन, बंधुसमागम मान ॥७३॥ अरथलाभ जसलाभ

पुनि. धरमलाभ है तोहि। रत विदेश व्यापारमें. विजय तुरंतहि होहि ॥ ७४ ॥

रहंर । रहर आवै जबहिं तब. विरम काज जिय जान। उद्यम सुफल न होय कछु. घर बाहर हैरान ॥७५॥ शत्रु बहुत सुख कतहुं नहिं. तातैं तजि यह काज। जग सुख निष्फल जानि जिय. भजो सदा जिनराज ॥ ७६ ॥

रहंहं । हंजुग आदिरकार कह. सुनिये पूछनहार। अशुभ उदय फल अशुभ है,जानहु निज उर धार॥७७॥ मत विश्वास करो हिये मित्र बंधु जिय जानि। शत्रु होय ये परिनवहिं करहिं वित्तकी हानि ॥ ७८ ॥ धनचिन्ता नित करत हौ, सो सुपनेहु नहि होइ। धरम चिन्ति कुल देव जजि, तातैं कछु सुख जोइ ॥ ७९ ॥

रहंत । रहं तासुपर प्रगट त:सुनि फल पूछनहार। याको फल मैं कहा कहो: सब सुखको दातार ॥ ८० ॥ विद्या लाभ कविता; सुफल लाभ व्यवहार। वनिता सुतको लाभ है, द्रव्यलाभ व्यापार ॥ ८१ ॥ मित्रबंधु वसनाभरण, सहित समागम होइ। बहु सुखित परिवार सों, कुलदेवीकृत जोइ ॥८२॥

रतअ । रत अ बरन पांसा कहत, तुव सम्मुख सौभाग। अरथागम कल्याणकर, असन सुखद अनुराग ॥ ८३ ॥ मंत्रजंत्र औषधविषै, सकल सिद्ध ध्रुव होइ। चित चिन्तित पुत्रादि सुख निश्चय पैहै सोइ ॥ ८४ ॥

रतर । रतर बरन पासा कहत, सुनि पूछक गहि मौन। उद्यममे लक्ष्मी बसै, ज्यो पंखेमें पौन॥८५॥ तातें उद्यम करहु तुम,

अरथलाभ तहं होइ। तनय धरनि धरनो मिलै, नृप सनमाने सोय ॥ ८६ ॥ वसन मिलै घोड़ा मिलै, अनायास ह्वै काज। शुभमंग्गल तोहि सर्वदा, सेयै श्रीजिनराज ॥ ८७ ॥

रतहं। रतहं कहत प्रचारिकै, सुनि पूछक दे कान। पहिले कष्ट बहुत सहे, सो अब गये सुजान॥८८॥धनकी चिंता रहतचित, सो सब पूरन होहि। वनिता सुत वसनाभरन निश्चल मिलिहै तोहि ॥८९॥ आधिव्याधि दुख नसहिं सब, चिंता करहु न कोय। देवधर्म परसादसो, काज सफल सब होय ॥९०॥

रतत। रतत वरन सुनि पूछक,सकल सुफल तुव काम। मनवांछित धनसंपदा, पै हौ अति अभिराम ॥९१॥ जो कारज चितवत रहौ, अनायास सो होय। मनमे मति संशय करो, धर्मवृद्धि फल जोय ॥९२॥ शिवहित चाहत तप धरन, तामहं ह्वै है सिद्धि। गहो जिनेश्वर कथित तप ज्यों होवै सुखवृंद्ध ॥९३॥

## अथ हंकारादि तृतीय प्रकरण।

हं अअ। ह अअ वर्न परै जहँ आई। तासु सुनो फल हैं दुचिताई। सूचत कष्टरु चित्त विनाशं। लोकविषै निरआदरभासं॥९४॥ संगरमैं नहि जीत दिखावै। उद्यममे नहिं लाभ लहावै। जाहु जहां कछु कारज हेती। सिद्ध न होय तहां तुम सेती ॥९५॥ त्याग करो यह कारज यातें। सेवहु श्रीजिनधर्मसुधा तैं। धर्म विना सुरको नहिं लेखा। श्रीभगवान कहैं जिन देखा ॥९६॥ रोग निवार अरोग शरीरं। पुष्ट महा वलपौरुष धीरं। चाहत हो परदेश सिधारो होय मिलाप तहां शुभ सारो ॥९७॥

**हंअर** । हंअर आयन है सुव सारा । होय मनोरथ सिद्ध तुमारा । अर्थ लिया सुदमंगलदाई । आनंदसंजुत यांधव भाई । ॥९८॥ उद्यममें धन प्रापति जानो । देशविदेश जहां मनमानो । रोगीको रुज जाय नसाई । बांधवमित्र मिलै सब आई ॥९९॥ देव अराधहु भाव लगाई । सो मनवांछित सिद्ध कराई । ज्यों जिनमूल पादपै जानो । त्यों जिनधर्म न आनंद पानो ॥१००॥

**हंअहं** । हं अरुहंमधि जब अकारं । तो सुनि पूछनहार विचारं । कोमल चित्त तुमार दिखाई । शत्रु सुमित्र गिनो समनाई ॥ १०१ ॥ तासहितैं धन आप गंवायौ । कालसुभाव नहीं लव पायो । है कलिकालकराल वियारे । तैं अति साधु सुभाव सुधारे ॥१०२॥ जो कछु पूर्व भयौ धन हान । सो सव तोहि मिले सुखदान है तुमको नित प्रापति आगे । निश्चय जान अर्थ अनुरागे ॥१०३॥

**हंअत** । हं अत आय जनावत तातैं । मंगल मंजु समाजसुयातैं । पुत्र सुमित्र समागम होई । देशाराधन लाभ वड़ोई ॥१०४॥ धनकी चिन्ता करत हौ, शीघ्रहि पैहो सोय । द्रव्य पुत्र वनिता वसन, सकल प्रापतो होय ॥ १०५ ॥ क्लेशव्याधि अब मिट गई, देव धरम परसाद । सुफल काज निज जानि जिय, भजहु जिनेसुरपाद ॥ १०६ ॥

**हरअ** । हंरअ आय दिखावत ऐसो । चिंतित काज सरै तुव तैसो ॥धान्यधनादिक लाभ दिखाई । कोरन देश दिशांतर जाई । ॥ १०७ ॥ भूर करै सन्मान तुम्हारा । देश धरा धन देइ उदारा ॥ प्रीति करै तुमसों सब कोई । यामहं संशय रंच न होई ॥ १०८ ॥

**हंरर** । हंरर अक्षर भाषत सांचा। तो मनमे उद्वेग उमाचा। चित्त कछू अव छीजइ भाई। पीछे होय सुखी अधिकाई ॥१०६॥ संपत संतत मित्र पियारे। होहि सदा तोहि मंगलकारे॥ अर्थ बढ़ै घरमें सुखदाई। कीरति देशदिशंतर जाई॥११०॥ श्री-जिन धर्मप्रभाव विचारो। है सव कारज सिद्ध तुमारो॥ यामे संशय रंच न मानो। सेवहु श्रीजिनराज सयानो॥ १११॥

**हंरहं** । मध्यरकार जहां छवि देई। हं जुग आदिरु अन्त परेई॥ उत्तम लाभ लसै फल ताको। पुत्र विवाह भविष्यति जाको ॥ ११२ ॥ नारि मिलै घर संपत आवै। वैर मिटै हित प्रीति जनावै॥ संगर बाद विवादमंझारी। होय विजय तुव आनटकारी ॥ ११३ ॥ दीखत है शुभभाग तिहारो। यामें संशय रञ्च न धारो॥ श्री जिनचन्द्पदाम्बुज ध्यावो। नाकरि पूरण पुन्य कमावो॥११४॥

**हंरत** । हंरत वर्न वखानत ऐसे। कारज सिद्ध लसै सव जैसे। उद्यममे लछमी चिरलाभं जुद्धरुजूत विजै तुम साजं॥११५॥ लाभ लसैं सव ठौर तुमारे। हानि हमे नहिं दीखत प्यारे। किंचिन सोच बसै मनमाही। तासु हमे कछु संशय नाहीं॥११६॥ शीघ्र मिटै वह शोच तुमारा। है घर मङ्गल मंजुल सारा। श्रीजिनधर्म अराधहु जाई। संजम दान करो सुखदाई॥११७॥

**हंहंअ** । हं जुग अन्त अकार उचारो। कारज सिद्ध समस्त तुमारो॥ धामविषै धन है अधिकाई। पुत्र सुपौत्र बढ़ैं सुखदाई ॥११८॥ बांधवमित्रसमागम सूचै। जो परदेश विषै अविचूचै (?)। संवत एकमंझार पियारे। है लछिलाभ तुमें अधिकारे।११९॥ जर

पदांबुज सेवहु जाई । सर्व मनोरथ सिद्ध कराई ॥ मङ्गल प्रश्न हिये रखि लीजै । श्रीजिनवैनसुधारस पीजे ॥ १२० ॥

**हंहंर** । हं जुग अन्त रकार पुकारै । मंगल मोद समस्त तुह्मारै ॥ पुत्रविवाह अवश्यक होऊ । जज्ञ विधान बनै कछु सोऊ ॥ १२१ ॥ तासु प्रसाद सु संपति भूरी । है धन धान्य वस्त्र परचूरी ॥ मङ्गलधाम बढ़ै अधिकाई । जाहु जहां तहं लाभ लहाई ॥ १२२ ॥ देव जजौ जपि दान करीजै । संजम होम सबै विधि कीजै ॥ पुन्य किये सुख संपति नाना । बालगुपाल सबै यह जाना ॥ १२३ ॥

**हंहंहं** । हं तिहु आय परै जब पासा । है तहं मङ्गलमय खासा ॥ सर्व मनोरथ सिद्धि प्रकासो । अर्थ सुलाभ प्रजाजुत भासै ॥ १२४ ॥ भूमि मिलै रनमे जय पावै । उद्यममें बहु लच्छि कमावै ॥ बांधव मित्रनसो अति नेहं । रोपत है वरधर्म सुगेहं ॥ १२५ ॥ आनन्द सर्व भविष्यति तोही । यो प्र तभासत है सुनि मोही ॥ कारज सिद्धि समस्त तुमारा । सेवहु धर्म लहो भव पारा ॥ १२६ ॥

**हंहंत** । हं जुग अन्ततकार दिखाई । उत्तम लाभ सबै तसु भाई ॥ चाहत हो परदेश पधारे । है तहं सिद्धि मनोरथ प्यारे ॥ १२७ ॥ खेतो वानिजमे सब ठाई । सर्व फलो मनवांछित भाई ॥ श्रीधनधान्य सुकंचन आदी । जे सुख संपति अर्थ अनादी ॥१२८॥ ते सब तोहि मिलैं मनमाने । देव गुरूदभक्ति विधाने ॥ यों सुनि चित्तविषे थिर होई । श्रीजिनराज भजो भ्रम खोई ॥ १२९ ॥

**हंतअ** । हंतअ वरन परै जब पासा । तो सुनि अर्थ प्रतच्छ प्रकासा ॥ तैं चितमे परसंपति चाहै । लोभ बढ्यो तोहि देखत का है ॥१३०॥ तोष कियैं धन प्रापति होई, वेद पुरान पुकारत योई ॥ लोभ निवारि करो सब चिंतं । भावि जु होय सो होवहि मिंतं ॥ ॥ १३१ ॥ जाय वितीतै जब कछु काला । अर्थ सुलाभ तबै तुव भाला ॥ यामैं संशय रंच न आनो । भाषत श्रीअरहंत प्रमानो ॥

**हंतर** । हंतर यो दरशावत आई । तो मनमें परवित्त बसाई ॥ चिंतत है सोइ प्रापति होई । ताकरि संपति आनि मिलोई ॥१३३॥ अर्थ समागम कीर्ति अनिद्या । प्रापति ह्वै तोहि सुन्दर विद्या ॥ जो कछु पूरब द्रव्य गंवायौ । सो सब आनि मिलै मन भायौ ॥ ॥ १३४ ॥ जो तुम कारज चेतहु प्यारे । सो सब होई सिद्धि तुमारे ॥ यों जिय जानि तजो दुचिताई । सेवहु श्रीपरमातम जाई ॥ १३५ ॥

**हंतहं** । हं जुगके मधि होइ तकारं । तासु सुनो फल पूछन हारं ॥ तो मनमे विपरीत लसो है । चोरि जूथकी ताप वसी है ॥ ॥ १३६ ॥ ता करिके दुःख पाप सहै हो । लोकविषैं अपकीर्ति लहै हो ॥ नास भयो जसरास तुमारो । यो लघु सीख सुनो उर धारो ॥ १३७ ॥ अन्य कछू करतव्य विचारो । तामहं वांछित सिद्ध तुमारो ॥ अर्थ बढ़ै धन धर्म वढ़ाई । यो दरसावत श्रीगुरु भाई ॥ १३८ ॥

**हंतत** । हंतत भाषत उत्तम तोही । जो मन वाछहु होवहि सोही ॥ मंगल धाम मिलै धन धान्यं । जाहु विदेश तहां बहु

मान्यं ॥ १३९ ॥ मंत्र सु जंत्ररु भेष जताई । सैन्य सुथंभन मोहन भाई ॥ और जिती जगमे वर विद्या । तोहि मिलै भ्रम त्याग निषिद्या ॥ १४० ॥

## अथ तकारादि चतुर्थ प्रकरण ।

**तअअ** । जहं तअअ वरन पासा ढरंत । तहं सुनि पूछक जो फल कहंत ॥ जो करहु देव पूजा पुनीत । तो पैहो अभिमत फल विनीत ॥ १४१ ॥ सुत पौत्र सुखद धन धान्य लाहु । यह मिलै तोहि वांछित उछाहु ॥ व्यापारमाहि बहु मिलै द्रव । अरु जूत विजय तैं लहै सर्व ॥ १४२ ॥ यामें मति चिन्ता मानु मित्त । निज इष्ट देव पद भजहु नित्त ॥ विन पुन्य नहीं सुख जगत माहिं । जिमि बीज विना नहिं तरु लगाहि ॥ १४३ ॥

**तअर** । जब तअर प्रगट होवे सुजान । तब मध्यम फल जानो निदान ॥ चित चाहहु वनिता पुरुष आदि । सो आस तजहु सुनि भेदवादि ॥ १४४ ॥ निजभावीवश ये मिलहि सर्व । परिवार कुटुं-वादिक सुदर्व ॥ पहिले जो कछु धन भयो हान । सोऊ न मिलै अब ही सयान ॥ १४५ ॥ कछु काल व्यतीत भये समस्त । है अथ लाभ तुमको प्रशस्त ॥ यह जान हिये निरधारवीर । भजि श्रीपति पद सब हरै पीर ॥ १४६ ॥

**तअहं** । तत्ता अकार हंकार आय । हे पूछक तोसो इमि कहाय । दिनरात तोहि धनहेत चाह । मनमें यह चनेत है कि नाह ॥१४७॥ सो पुन्य विना कछु केम होय । है दिन तेरे अति नष्ट जोय ॥ कछु दिवस विनीत भये प्रमान । धनलाभ होय नीको निदान ॥१४८॥

तातैं जो सुख चाहहु विनीत। तो पुन्यहेत कर जतन मीत ॥
जिनराजपदाम्बुजभृंग होय। अनअन्य शरण ह्वै सेव सोय ॥

**तअत**—यह तअत कहत फल प्रगट आय। सुनि पूछक तैं मन मुदित काय ॥ मन वांछित हौ सो होय सिद्ध। परदेशतीर्थ-यात्रा प्रसिद्ध ॥१५०॥ इक मास व्यतीत भये प्रमान। तोहि अर्थ परापत ह्वै सुजान। अरु तन निरोगजुत पुष्ट होय। आनंद लहै संशय न कोय ॥ १५१ ॥

**तरअ**—यह तरअ कहत डंका वजाय। धनचिन्ता तेरे मन वसाय। तैं कौन चहत परदेश गौन। यह जातहि कारज सिद्ध तौन ॥ १५२ ॥ वहु वस्त्र आभरन अर्थ आद। तिय तनय लाभ ह्वै है अवाद ॥ पितु मातु बन्धुसो मिलन होय। यह गुरुसेवा फल जान सोय ॥ १५३ ॥ तातैं नित प्रति हे चतुर जीव। सुखकारन सेवो प्रभु सदीव। कल्यानखान भगवान एक। तिनको सुमिरो तजि कुमति टेक ॥ १५४ ॥

**तरर**—यह तरर प्रकाशत प्रगट मित्त। सुनि पूछक तुव चित दुखित नित्त ॥ तुव घर दरिद्र अति ही दिखाय। तातैं नित चाहत धन उपाय ॥ १५५ ॥ निशिवासर चिन्ता यही तोहि। किहि भांति होहि धनलाभ मोहि। वह तीन वरष जव वीत जाय। तव सव सुन्दरफल तोहि मिलाय ॥१५६॥ जो और काज मद धरहु तौन। है लाभ तासुमहं सुजसभौन। तातें जो सुखकी धरहु चाह। तो नाहि जिनेसुर सो निवाह॥ १५७ ॥

**तरहं**—तरहं अक्षर भाषत प्रतच्छ। कल्याणसंपदा स्वच्छ

लच्छ ॥ सब विघ्न निघ्न पलमाहिं होय। जिन धर्म प्रभाव सुजान सोय ॥ १५८ ॥ अरथागम अरु वर पुत्र होय। रनमहं तोहि जीति सकै न कोय। बांधवसह प्रीति बढ़ै अपार। घरमें नहिं कछु विग्रह लगार ॥ १५९ ॥ सब पापताप तेरो विलाय। नित धर्म बढ़ै आनंददाय। तातैं सुखहित हे चतुरजीव। भगवान चरन सेवो सदीव ॥ १६० ॥

तरत—यह तरन कहत फल सुन विनीत। तुव मन धनकारन दुखित मीत। बहु दिनतैं सोच रहत शरीर। मन समाधान अब करहु बीर ॥१६१॥ मङ्गलमुदजुत धनलाभ होय। प्रियवधुसमागम सहज सोय। परदेशगमन जो करहु तत्र। धनलाभ होहि सुखदाय जत्र ॥१६२॥ वादानुवादमें विजय जान। ह्वै सभ्यशिर-मणिशशि समान। यह मङ्गलीक शुभ सगुनराज। तैं जपि नित श्रीजिनमहाराज ॥१६३॥

तहंअ—त वरनपर ह ं तापर अकार। जब प्रगटै तब सुनिये विचार। सब विघ्नमूल सङ्कट नशाय। जहं जाहु तहां वांछित मिलाय ॥१६४॥ धन धान्य वसन गो महिषि घोट। सब मिलहि तोहि हितहेत जोट। जात्रा तीरथ परदेश सार। रनरङ्ग शैल अरु उदधिपार ॥१६५॥ जहं जाहु तहां सब सुफलकाज। मनमें संदेह न करहु आज। यह पुन्यकल्पतरु-फल सुजान। भजि चरणकमल करुनानिधान ॥१६६॥

तहंर—त वरनपर ह ं तापर रकार। ताको फल कटुक सुनो विचार। ह्वै दुःखक्लेश पुनि अर्थहानि। भयरोगव्याधि उपजै

निदान ॥१६७॥ सुत मित्र वियोग अशुभनियोग। पुनि जैहो कहु नह' विपतभोग। तुव सदनमाहिं बरतत कलेश। कलिहारी नारी कुटिलभेश ॥१६८॥ यह पाप तोहि दुख देत आय। अब तोष गहो मनवचनकाय। अरहन्तदेवसों करहु प्रीति। जिमि मिले सकल सुख सहजरीति ॥१६९॥

**तहंहं**—तत्तापर हं हं ढरै आय। तब सुनि पूछक फल चित्त लाय। रनजूतविवादविषैं कदाप। मति जाहु केवली कहत आप ॥ १७० ॥ तह' गये हानि है विजय नाहिं। है क्लेशकठिन निहचै कहाहिं। यह दैवीदोष लसै सुजान। धर्मार्थवस्तुकी करत हान ॥ १७१ ॥ उद्वेग कलह तुव सदनमाहिं। सुत बंधु मित्र अरि सम लखाहिं। सब पाप उदय यह जानि लेहु। दुख हेत धरमसों करहु नेहु ॥१७२॥

**तहंत**—तत मध्य परै हंकार पास। तब मध्यम प्रश्न करै प्रकाश। जो मनमे वाछा करहु मित्त। नहिं सिद्ध होइ सो कुदिन कित्त ॥ १७३ ॥ मति खेद करो अघउदय जान। भावीगत अमिट प्रबल प्रमान। मति मरन चेत जड़बुद्धि त्याग। सुख चहसि तु करि प्रभुसो सुराग ॥१७४॥

**ततअ**—जब ततअ बरन प्रगटै अकोप। तब शुभफल कहत निशान रोप। तोहि महा सौख्यको लाभ होय। धनधान्यसमागम मिले सोय ॥१७५॥ राजा दे वसनाभरन घोट। व्यापारमाहिं धन लाभ पोट। दुहिता विवाह सुतजनम संग। मङ्गल सब तोकह' है अभङ्ग ॥१७६॥

**ततर**—यह ततर वरन पासा अनंत। आनन्द सदा ध्रुव तोहि सन्त। सुत बंधु धरा धनधान्यलाह। परदेश जाहु तहं अति उछाह ॥१७७॥ वहु मित्रवन्धुसों होय प्रीति। भय शत्रुजनित सब ह्वै व्रितीत। गो महिष अश्व द्वारे वन्धाय। यामे न मोहि संशय दिखाय ॥१७८॥

**ततहं**। ततहं अक्षर तोहि कहत एहु। भो पूछक तू उद्यम करेहु। तहं होहि लाभ तोको प्रसिद्धि। चितचिन्तित सब विधि होय वृद्धि ॥ १७९ ॥ तीरथ हिण्डन पूजन विधान। सब ह्वै है तेरे मनसमान। रोगीको रोग विनाश होय। भोगीको भोग मिलै सु जोय ॥१८०॥ मनमे मति खेद करो पुमान। तोहि होय सकल कल्याणखान। नित देवधर्म गुरु ग्रन्थ सेव। मनवांछित सुखसंपदा लेव ॥१८१॥

**ततत**। तीनों तकार जब उदय होय। तव अकल सकल फल कहत सोय। मनवांछित कारज सिद्ध जानि। कल्याणकारनी प्रश्न मानि॥१८२॥घर पुत्र पौत्रको जनम होय। धन आगम सुखद विवाह सोय। पहिले जो अरथ गयो विनास। सो आन मिलै अनयास पास ॥ १८३ ॥ वैरीको वैर मिटै समस्त। तोहि मिलहिं मित्र बांधव प्रशस्त। नित धर्मवृद्धि ह्वै है सयान। सर्वथा जान संशय न आन ॥१८४॥

## कविनामकुलनामादि।

दोहा—**लालविनोदीने** रची, सस्कृतवानीमाह।

**वृन्दावन** भाषा लिखी, कछु इक ताकी छाहं ॥१८५॥

भूल चूक उर छिमा करि, लीजो पण्डित शोध।
　　बालबुद्धि मोहि जानिकै, मति कीजो उर क्रोध ॥१८६॥
श्रीमतवीरजिनेशपद, वंदो वारम्बार।
　　विघ्नहरन मंगलकरन, अशरन शरन उदार ॥१८७॥
**धरमचंद** के नन्दको, **बृन्दावन** है नाम।
　　अग्रवाल गोती जगत, गोइल है सरनाम ॥१८८॥
काशीवासी तासुने, भाषा भाषी एह।
　　जिनमतके अनुसार करि, श्रीजिनवरपदनेह ॥१८९॥
सम्वतसर विक्रमविगत, चन्द रन्ध्र दिग चन्द।
　　माघकृष्ण आठे गुरू, पूरन जयतिजिनंद ॥१९०॥　　॥ इति ॥

# श्रीसम्मेदशिखरमाहात्म्य

## दोहा।

स्वयंसिद्ध परमातमा, सहजसिद्ध हैं सार।
तिनको बंदों भावसों, निश्चय करि निरधार ॥१॥
बैरभाव सब छोड़करि, निजस्व-भावमें लीन।
होय होय मुकती गये, समझ देख परवीन ॥२॥
सब तीर्थनमें सार है, श्रीसमेदगिरिराज।
बीस जिनेश्वर और बहु, मोक्ष गये मुनिराज ॥३॥
ताकी कथनी वारता, जिन आगम अनुसार।
कहता हूं कुछ बचनसों, सुनहु भविकजन सार ॥

इस मध्यलोकमे एक लाख योजनका जम्बूद्वीप है, उसके बीचमे एक सुदर्शन मेरु है, उसकी दक्षिण दिशामें एक भरतनामक क्षेत्र है, उसमें छह खंड हैं उनमें यह आर्यखण्ड अधिक प्रसिद्ध है, मगधदेशकी राजगृह नगरीमें एक श्रेणिक नामका राजा अपनी रानी चेलना सहित राज्य करता था।

राजगृही नगरीके पास विपुलाचल, उदयगिरि, सोनागिरि, रत्नागिरि और विहारगिरि नामके पांच पर्वत हैं, विपुलाचल पर्वतपर श्री १००८ महावीर भगवानका समवसरण आया, वनमालीने राजाके समीप जाकर निवेदन किया कि, महाराज! विपुलाचलपर त्रिलोकीनाथ वर्द्धमान भगवानका समवसरण आया है, सुनकर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने शरीरपरके सर्व आभूषण उतारकर मालीको दे दिये, और सिंहासनसे उतरकर सात पैंड़ (कदम) परवतकी ओर चलकर साष्टांग नमस्कार किया और शहरमें घोषणा करा दी कि, महावीर भगवानका समवसरण आया है इसलिये सब लोग दर्शन पूजनके लिये चलो और आप स्वयं भी हाथीपर आरूढ होकर वन्दनाके निमित्त चला, दूरहींसे समवसरण देख हाथीसे उतर पड़ा पश्चात समीप जाकर भावपूर्वक वन्दना की मनुष्योंके कोठेमें वैठकर भगवान्‌की दिव्यध्वनि द्वारा धर्मामृतका पान किया, तत्पश्चात् अवसर पाकर हाथ जोड़ खड़ा होकर पूछा, भगवन्! श्रीऋषभदेव, अजितनाथ आदि तीर्थङ्कर किस क्षेत्रसे मोक्षको प्राप्त हुए हैं और आपका निर्वाण कहांसे होगा? इसके सिवाय पूर्वकालमें जो अनन्तानन्त चौवीसी मोक्ष गई हैं, सो किन २ क्षेत्रोंसे गई हैं, भविष्यमें अनन्तानन्त

तीर्थङ्कर मोक्ष जावेंगे, सो किस क्षेत्रसे जावेगे ? सो उन तीर्थङ्करोंके मध्यवर्ती समयमे कौन २ मुक्ति गये हैं, चौवीस तीर्थङ्कर जिस क्षेत्रसे मोक्ष जाते है, उस क्षेत्रके दर्शनसे क्या फल होता है और आगे ऐसी यात्रा किस २ ने की है, तथा उन्हे क्या २ फल मिले हैं, इन सब प्रश्नोंके उत्तर आप कृपा करके विस्तार पूर्बक कहिये। यह सुनकर भगवान्की दिव्यध्वनि हुई कि, राजा श्रेणिक ! तुमने वहुत अच्छे प्रश्न किये अव तुम उनका उत्तर चित्तको समाधान करके सुनो।

पूर्वकालमे अनन्तानन्त चौवीस तीर्थङ्कर श्रीसम्मेदशिखरपर्वतपरसे मोक्षको प्राप्त हुए है और आगे ( भविष्यमे ) भी जो अनंतानन्त चौवोस तीर्थङ्कर होगे, वे श्रीसम्मेदशिखरसे ही मोक्ष जावेगे। इसी प्रकार चौवीसो तीर्थङ्करोका जन्म भी श्रीअयोध्यानगरीमे होता है, और होवेगा परन्तु वर्तमानकालमे केवल २० ही तीर्थङ्कर इस सम्मेदशिखरसे मोक्ष गये हैं, क्योकि श्रीऋषभदेव कैलास पर्वतसे. वांसुपूज्य चम्पापुरसे तथा नेमिनाथ गिरनारसे मोक्ष जा चुके हैं, और हम पावापुरीसे मोक्ष जावेगे, शेष बीस तीर्थङ्कर सम्मेदशिखरजीसे निर्वाण प्राप्त हुए है इसी प्रकारसे वर्तमानकालमें अयोध्यानगरीमे केवल ५ तीर्थङ्करोका जन्म हुआ है शेष १६ का अन्यान्य नगरियोमे हुआ है।

**यह सुनकर राजा श्रेणिकने पूछा भगवन् !** ऐसा होनेका क्या कारण है एक ही स्थानमे जन्म और एक ही स्थानमे मोक्ष होनेका जो नियम है, उसका भङ्ग क्यों हुआ ?

भगवान्ने उत्तर दिया, कि—राजन्! यह एक कालका दोष है अनन्तानन्त कोड़ाकोड़ी उत्सर्पिणीकाल व्यतीत होनेपर कोई एक ऐसा ही काल आ जाता है, जिसमे इस नियमका उल्लंघन हो जाता है अर्थात् उसके प्रभावसे अनेक तीर्थङ्करोंका जन्म और निर्वाण अन्य २ स्थानोंसे हो जाता है। ऐसे कालको हुंडावसर्पिणी कहते हैं, इस विषयमे तुम कुछ सन्देह मत करो यथार्थमें चौबीसों तीर्थङ्करोंकी जन्मभूमि अयोध्या है और निर्वाणभूमि श्रीसम्मेदशिखरजी ही है।

राजा श्रेणिक—भगवन्! आपने जिस प्रकार कहा, वही सत्यार्थ है, अब कृपा करके यह बतलाइये कि, श्रीऋषभदेवसे लगाकर आप तकके निर्वाण क्षेत्रोंकी वन्दनाका फल क्या है, और शिखरजीकी यात्रा करके आगे किस २ को क्या २ फल मिले तथा आगे क्या २ मिलेंगे?

वीरभगवान्—हे राजन्! कैलास पर्वतसे दस हजार मुनि मोक्षको प्राप्त हुए हैं, और श्रीसम्मेदशिखरजीपर बीस टोंकें हैं उनमेंसे **सिद्धवरकूटसे** श्रीअजितनाथ तीर्थंकर एकअरब अस्सीकरोड़ चोवनलाख एक हजार मुनियोंसहित मोक्ष गये हैं, इस टोंककी वन्दनाका फल बत्तीस करोड़ उपवासके बराबर है, दूसरे **धवलदत्त** कूटसे संभवनाथ तीर्थंकर नौ कोड़ाकोड़ी बहत्तरलाख ब्यालीस हजार पांचसौ मुनियोंकेसहित मोक्ष पधारे हैं, इसकूटके दर्शन करनेका फल ब्यालीस लाख उपवास करनेके बराबर है, तीसरे **आनन्द कूटसे** श्रीअभिनन्दन मोक्ष

नीस कोड़ाकोड़ी सत्तर करोड़ सत्तर लाख बियालीस हजार सात सौ मुनियोंकेसहित निर्वाण प्राप्त हुए है, इस कूटके दर्शन करनेका फल एक लाख उपवासके फलके तुल्य है। चौथे **अविचलकूटसे** सुमतिनाथ तीर्थकर एक कोड़ाकोड़ी चौरासी करोड़ बहत्तरलाख इक्यासी हजार सात सौ मुनियोसहित मोक्ष पधारे हैं। इस कूटके दर्शन करनेका फल एक करोड़ उपवास करनेके समान है। पांचवे **मोहनकूटसे** पद्मप्रभ तीर्थंकर निन्यानवै कोड़ाकोड़ी सत्तानवै करोड़ सत्तासी लाख बियालीस हजार सातसौ मुनिसहित मोक्ष प्राप्त हुए हैं। इस कूटके दर्शनका फल एक करोड़ उपवास करनेके तुल्य है। छठे **प्रभास** कूटसे सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर चौरासी कोड़ाकोड़ी चौरासी करोड़ बहत्तर लाख सात हजार सात सौ ब्यालीस मुनिसहित मुक्ति गये हैं। इस कूटके दर्शन करनेका फल बत्तीस कोड़ाकोड़ो उपवासके बराबर है। सातवे **ललितकूटसे** चन्द्रप्रभ तीर्थंकर हजार मुनिसहित मोक्ष प्राप्त हुए हैं। इनके सिवाय वहांसे चौरासी अरब बहत्तर करोड़ अस्सीलाख चोरासी हजार पांच सौ पचपन मुनि और भी मुक्ति गये हैं। इस कूटके दर्शन करनेका फल सोलहलाख उपवासके तुल्य है। आठवे **सुप्रभ** कूटसे श्रीपुष्पदन्त तीर्थंकर हजार मुनिसहित मुक्ति पधारे हैं तथा निन्यानवे करोड़ नव्वेलाख सात हजार चार सौ अस्सी मुनि और भी वहांसे मुक्ति गये हैं। इस कूटके दर्शन करनेका फल एक करोड़ उपवासके बराबर है। नवमें

**विद्युतवर** कूटसे शीतलनाथ तीर्थंकर एक हजार मुनिसहित मोक्ष गये हैं औरभी वहांसे अठारह कोड़ाकड़ी वियालीस करोड़ वत्तीस लाख वियालीस हजार नौसे पांच मुनियोंने मुक्ति पाई है। इस कूटके दर्शनका फल भी एक करोड़ उपवास करनेके वरावर है। दशवे **संकुल** कूटसे श्रेयांसनाथ तीर्थंकर एक हजार मुनिसहित मोक्ष गये हैं और तथा छयानवे कोड़ाकोड़ी छयानवें करोड़ छयानवे लाख नवहजार पांचसौ वियालीस मुनियोंने और भी वहांसे मुक्ति पाई है। इसकूटके दर्शन करनेका फल भी एक करोड़ उपवास करनेके वरावर है।

**चंपापुरसे** वासुपूज्य तीर्थंकर हजार मुनिसहित मोक्ष पधारे हैं। सम्मेदशिखरके ग्यारहवे **वरिसंवल** कूटसे विमलनाथतीर्थंकर हजार मुनिसहित मोक्ष गये हैं। और छह हजार छहसौ तथा सत्तर कोड़ाकोड़ी साठ लाख छह हजार सात सौ वियालीस मुनि औरभी मुक्ति गये हैं। इसकूटके दर्शनका फल एक करोड़ उपवास करनेके वरावर है। वारहवे **स्वयंभू** कूटसे अनंतनाथ तीर्थंकर हजार मुनिसहित मोक्ष गये हैं। इनके सिवाय पचहत्तर हजार, सातसौ तथा छयानवे कोड़ाकोड़ी सत्तर लाख सत्तरहजार सात सौ मुनि और भी मोक्ष गये हैं। इस कूटके दर्शनका फल एक करोड़ उपवास करनेके तुल्य है। तेरहवे **सुदत्तवर** कूटसे धर्मनाथ तीर्थंकर आठसौ एक मुनिसहित मोक्ष प्राप्त हुए हैं। तथा इसी कूटसे उन्नीस कोड़ाकोड़ी उन्नीस करोड़ नौ लाख नौ हजार सात सौ पंचानवै मुनि और भी मुक

हुए हैं, दर्शन करनेका फल एक करोड़ उपवास करनेके बराबर है, चौदहवें **शान्तिप्रभ** कूटसे श्रीशांतिनाथ तीर्थंकर नौ सौ मुनिसहित मुक्तिग्रामको गये हैं, तथा इसी कूटसे नौ सौ कोड़ाकोड़ी छयानवे करोड़ बत्तीस लाख छयानवैं हजार सात सौ त्रियालीस मुनियोंने और भी पंचमगति पाई है। इसके दर्शन करनेका फल एक करोड़ उपवास करनेके बराबर है। पन्द्रहवे **ज्ञानधर** कूटसे कुंथुनाथ तीर्थंकर हजार मुनिसहित मोक्ष पधारे है। तथा छयानवे कोड़ाकोड़ी छयानवै करोड़ बत्तीसलाख छयानवै हजार सात सौ ब्यालीस मुनि और भी मोक्षधामको गये है। दर्शनकरनेका फल एक करोड़ उपवास करनेके बराबर हैं। सोलहवे **नाटक** कूटसे अरनाथ तीर्थंकर हजार मुनिसहित मोक्ष गये है. तथा निन्यानवै करोड़ निन्यानवै लाख निन्यानवे हजार मुनियोंने और भी मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त की है। इस कूटके दर्शन करनेका फल छयानवै करोड़ उपवास करनेके बराबर है। सत्रहवें **संवलकूटसे** श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर पांच सौ मुनियोके सहित मुक्ति गये हैं। तथा छयानवैं करोड़ मुनि औरभी वहांसे परमपदको प्राप्त हुए हैं। इसका दर्शन करना एक करोड़ उपवास करनेके बराबर है. अठारहवे **निर्जर** कूटसे मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर हजार मुनि सहित मुक्त हुए हैं तथा निन्यानवे कोड़ाकोड़ी, सत्तानवे करोड़ नो लाख नौ सौ निन्यावे मुनि औरभी वहांसे मुक्त धामको गये हैं। इस टोकके दर्शनका फल एक करोड़ उपवास करनेके समान है। उन्नीसवे

**मित्रधर** कूटसे नमिनाथ तीर्थंकर हजार मुनिसहित निर्वाण प्राप्त हुए हैं, तथा नौ सौ कोड़ाकोडी पैंतालिस लाख सात हजार नौ सौ बियालीस मुनि औरभीं कर्मोंसे छूटे हैं। इस टोंकके दर्शनका फल एक करोड़ उपवास करनेके बराबर है।

गिरनार पर्वतसे श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर पांच सौ छत्तीस मुनि सहित मोक्ष प्राप्त हुए हैं। तथा बहत्तर करोड़ सात सौ मुनि और भी गिरनार पर्वतसे मुक्त हुए हैं।

सम्मेदशिखरके बीसवें सुवर्ण भद्रकूटसे श्रीपार्श्वनाथ तीर्थं-कर पांच सौ छत्तीस मुनिसहित परमधामको सिधारे हैं। तथा चौरासी लाख मुनि और भी वहांसे मुक्त गयेहैं। इस कूटके दर्शन करनेका फल एक करोड़ उपवास करनेके बराबर है।

इसके पश्चात् श्रीगौतमगणधर बोले, हे राजन्! ये महावीर भगवान् पावापुरीके पद्मसरोवरमेंसे छत्तीस मुनियोंके सहित मोक्ष जावेंगे। तथा शिखरजीकी जिन्होंने पूर्वकालमें यात्रा की है, उन-मेंसे थोड़ेसे नाम मैं कहता हूं। सगर, सागर, मघवा, सनत्कु-मार, आनन्द, प्रभसेन, ललितदंत, कुंदसेन, सेनादत्त, वरदत्त, सोमप्रभ, चारुसेन, आदि इनके सिवाय और भी हजारो राजाओंने यात्राकी है, परन्तु उनमेंसे दर्शन केवल उन्हींको हुए हैं, जो भव्य थे, अभव्योंको दर्शन नहीं मिलते।

**श्रेणिक**—हे भगवन्! शिखरजीकी यात्रा करनेका फल जो कुछ आपने कहा, सो तो यथार्थ है परन्तु उससे अधिक तथा सम्पूर्ण फल और क्या है, वह कृपा करके कहो।

**गौतमस्वामी**—हे राजन्! शिखरजीकी यात्रा करनेवाला फिर संसारमें अधिक नही भटकता। उनचास भव लेकर वह जीव पचासवें भव अवश्य ही सिद्धस्थानमे जाकर अजर अमर अखंड सदा जागती जोत होकर अचल रहता है, यह नियम है। इसके सिवाय यात्रा करनेवाला नरक तिर्यंच गतिमे तथा स्त्रीपर्यायमे भी जन्म नहीं लेता।

**श्रेणिक**—यदि ऐसा है, तो भगवन् रावणने शिखरजीकी यात्रा की थी, फिर उसे नरकगति क्यो प्राप्त हुई?

**गौतम०**—रावण शिखरजीकी यात्रा करनेके लिये नहीं किन्तु त्रैलोक्यमंडल हाथीको पकड़नेके लिये मधुवन गया था। इसलिये वह यात्राके फलका भागी न हो सका।

**श्रेणिक**—भगवन्! यदि कोई बिना भावसे शिखरजीकी यात्रा करै, तो उसकी नरक तिर्यंच गति छूटै कि नही?

**गौतम०**—राजन्! जिस प्रकारसे विना भावसे खाई हुई मिश्री मीठी लगती है, और दवाई रोगको शांत करती है, उसी प्रकारसे बिना भावसे की हुई यात्रा भी ऐसा नही है कि, फलवती न हो।

**श्रेणिक**—भगवन्! आपने कहा कि, भव्यको यात्रा होती है, परन्तु अभव्यको नहीं होती, सो यह बतलाइये कि, खास शिखरजीमे भीलादिक तथा पृथ्वी जल वनस्पति एकेन्द्रियादिक जीव राशि हैं, वे सब भव्य हैं अथवा अभव्य?

**गौतम**०-सम्मेदशिखरपर जितने जीवराशि हैं, वे सब भव्यराशि हैं।

**श्रेणिक**-भव्य किसे कहते हैं?

**गौतम**०-जिस जीवको जिनेन्द्रके वचनोंमे भ्रम उत्पन्न न हो, उसे भव्य कहते हैं।

इस प्रकार राजा श्रेणिक श्रीसम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्रका माहात्म्य सुनकर वहुत आनन्दित हुआ और अपनी रानी चेलना सहित यात्राके लिये चला परन्तु ज्यों ही पर्वतके निकट पहुचा। त्यो ही वहांके निवासी दशलाख व्यन्तर देवोंने चारों ओर घोर अन्धकार कर दिया। धूलवृष्टि, मेघ गर्जन, पाषाणवृष्टि आदि अनेक प्रकारके और भी विघ्न किये तव रानी चेलणाने समझाया नाथ! आपको यात्रा नहीं होवेगी क्योंकि जिस समय आपने दिगम्बरमुनिराजके गलेमें मरा हुआ सर्प डाला था, उसी समय आपको नरक गतिका वध्र पड़ चुका है। इसलिये इस पर्यायमें तीर्थराजके दर्शन होना असम्भव है। यह सुनकर राजा अपने कर्मों की गति जानकर अपने नगरको लौट गया।

दोहा—सिद्ध क्षेत्र सुप्रसिद्ध है. जिन आगममे सार।
धर्मदास क्षुल्लक कहै, श्रीसमेदगिरि पार॥ १॥
ताकी कथनी वारता, कह गये श्रीमुनिराज।
अव नाहीकी वचनिका, यह कीनी निज काज॥ २॥

## मोहरस स्वरूप।

भव वन भटकत पथिकजन, हाथी काल कराल। पीछे लागो

हा दुःखित, पड़ो कूप विकराल ॥ पकड़ शाख वट वृक्षकी, लटको मुंह फैलाय ॥ ऊपर मधु छत्ता लगा, पड़ो वूंद मुंह आय ॥ निश दिन दो चूहे लगे, काटत आयू डाल ॥ नीचे अजगर फाड़मुख है निगोद भव जाल ॥ चार सर्प चारो गती, चारो ओर निहार ॥ है कुटुम्ब माखी अधिक, चाटत तन हर वार ॥ श्री गुरु विद्याधर मिले, देख दुःखी भव जीव ॥ हो दयाल टेरत उसे, मत सह दु.ख अतीव ॥ बून्द मधू है विषय सुख, ताके लालच काज । मानत नहिं उपदेशको, कर रह्यो आतम अकाज ॥ आयु डाल कुछ कालमे कट जावेगी हाय । नीचे पा बहु काल लो, भुगते फल दुःख दाय ॥

## लेश्या स्वरुप

माया क्रोधरु लोभ मद है कषाय दुःखदाय, तिनसे रंजित भाव जो, लेश्या नाम कहाय ॥ षट लेश्या जिनवर कही, कृष्णनील कापोत ॥ तेज पद्म छट्टी शुकल, परिणामहिं ते होत । कठियारे षट भाव धर लेन काष्टको भार । वन चाले भूखे हुए, जामन वृक्ष निहार ॥ कृष्ण वृक्ष काटन चहे, नील जु काटन डाल, लघु डाली कापोत उर, पीत सवे फल डाल ।प द्म चहे फल पक्वको, तोड़ं खाऊं सार शुक्ल चहे धरती गिरे, लूं पक्के निरधार ॥ जैसी जिसकी लेश्या, तैसा बांधे कर्म, श्रीसद्गुरु संगति मिले, मनका जावे भर्म ॥

## कुदेवादिकी भक्तिका फल

अन्तर वाहर ग्रन्थ नहिं, ज्ञान ध्यान तप लीन । सुगुरू विन कुगुरू नमें पड़े नर्क हो दीन ॥ दोप रहित सर्वज्ञ प्रभु, हित उपदेशी नाथ । श्री अरहन्त सुदेव हैं, तिनक नमिये माथ ॥ राग टोप

मल कर दुःखी, हैं कुदेव जग रूप, तिनकी वन्दन जो करे, पड़े नर्क भव कूप ॥ आतम ज्ञान वैराग्य सुख, दया क्षमा सत शील। भाव नित्य उज्ज्वल करै, है सुशास्त्र भव कील ॥ राग द्वेष इन्द्री विषय, प्रेरक सर्व कुशास्त्र. तिनको जो वन्दन करे। लहे नर्क विट गात्र ॥

## भोजनोंकी प्रार्थनायें

( प्रात.कालके समय )

परमेष्ठी सुमरण कर हम सव वालक गण नित उठा करे-स्वस्थ होय फिर देव धर्म गुरु, की स्तुति सव क्रिया करे। करना हमे आज क्या क्या है। यह विचार निज काज करें। कायिक शुद्धि क्रिया करके फिर जिन दर्शन स्वाध्याय करे। मौन धार कर तोषित मनसे क्षुधा वेदना उपशम हित, विघ्न कर्मके क्षयोपशमसे, भोजन प्राप्त करें परिमित। हे जिन हो हित कर यह भोजन तन मन हमरे स्वस्थ रहे। आलस तज कर दीप उमंगसे निज पर हित मे मगन रहे ॥

( सन्ध्या समय )

जय श्री महावीर प्रभुको कह, अरु निज कर्त्तव पूरण कर, सध्या प्रथम मौन धारण कर भोजन करे शांत मन कर। परमित भोजन करें ताकि नहिं आलश अरु दुःस्वप्न दिखे ॥ दीप समय पर प्रभु सुमरण कर सोवे जगे स्व कार्य लखें ॥

## शिक्षित माताका पुत्रीको उपदेश

आज हुई मेरी वेटी पराई, सास ससुर घर जाना होगा। टेक।

सास ससुर परिजनकी सेवा, पति पूजा चित लाना होगा। आज हुई० ॥ १ ॥ धर्म करमका साधन निशदिन, नारो धर्म्म निभाना होगा। आज हुई० ॥ २ ॥ पहिले उठना, पीछे सोना, दिन भर हाथ हिलाना होगा। आज हुई ॥ ३ ॥ भोजनकी विधि सोच समझ कर, पानी छान वरतना होगा। आज हुई० ॥ ४ ॥ लोभ, मान अरु माया; ममता क्रोधकी आग बुझाना होगा। आज हुई० ॥५॥ कुछ मर्य्यादा नहिं विसरना, लाज शरम मन भाना होगा। आज हुई० ॥ ६ ॥ धन दौलतका गर्व गमाकर, अन धन दान दिलाना होगा। आज हुई० ॥ ७ ॥ वस्त्र-भूषण गहना गांठा, इनका हठ नही करना होगा। आज हुई० ॥ ८ ॥ आमदसे खर्च उठाकर, दुःख निवारण करना होगा। आज हुई० ॥ ९ ॥ शील रतनको घटमे धरकर पंचाणुव्रत धरना होगा। आज हुई० ॥१०॥ क्रोधित होय पती जो कदाचित्, भाव विनीत बताना होगा। आज हुई० ॥ ११ ॥ विद्या पढ़कर निज हित करना, देव धर्म गुरु लखना होगा। आज हुई० ॥ १२ ॥ धर्म नारिका ग्रन्थनमे, जो ताही धर शिव पाना होगा। आज हुई० ॥ १३ ॥ वालक को शिक्षा मन धर कर, घर घर मंगल गाना होगा। आज हुई मेरी बेटी पराई सास ससुर घर जाना होगा ॥ १४ ॥

## किसका जन्म सफल है ?

(न छेड़ो हमें हम सताये... ..)

चाल गजल ( न छेड़ो हमें हम सताये... .. )
वो फल जिन्दगीका जो जिनराजसे प्रीति लाये हुये हैं। निरखते जो मूरत परम वीतरागी। वो उठाये हुये हैं॥ टेर॥

वैराग्यता दिलमे लाये हुये है ॥ १ ॥ समझते हैं संसारको झूंठा सपना। जो जिनदेवसे लो लगाये हुये हैं ॥ २ ॥ न यां पर खतर है न आगेका डर है। जो निज रूपमे रूप लाये हुये हैं ॥ ३ ॥ जिनेश्वरकी भक्ती हो जिस दिलमें हरदम। वह मुक्तीकी डिगरी लिखाये हुये हैं ॥ ४ ॥ मनुष्य जन्म "बालक" सफल है उन्हींका। जिनागमकी श्रद्धा जो लाये हुये हैं ॥ ५ ॥

## जीव प्रति उपदेश।

चाल—( लीजो लीजो खबरिया ..... )

जिया भक्ती तू कर ले जिनवरकी तेरी करनो सफल हो भव भव की ॥ टेर ॥ करनेसे घोर पाप आय नरकमे पड़े। शीत उष्ण भूख प्यास रोगसे सड़े ॥ जिया भक्ती० ॥ १ ॥ प्रपञ्चके रचे तिर्यंच योनिको धरे। नाक कानको छिदा बन्धनमे पड़ मरे ॥ जिया भक्ती० ॥ २ ॥ शुभ कर्मके प्रसाद, स्वर्ग मांहि सुर हुवा। परके विभवको देख आप झूरता मुवा ॥ जिया भक्ती० ॥ ३ ॥ अति-पुण्यके प्रभावसे, नरभव रतन लहा। विषयोंके मांहि मत गवाँ तू मानले कहा ॥ जिया भक्ती० ॥ ४ ॥ निज रूपको विचारके नरभव-सफल करो। "बालक" प्रभूकी सीखधार मुक्तिको वरो ॥ ५ ॥ जिया भक्ती तू करले जिनवरकी तेरी करनी सफल हो भव भव की ॥

॥ समाप्त ॥

छप गया ! छप गया !!

# जिनवाणी संग्रह

→: या :←

## बृहत् जैन सिद्धान्त संग्रह

नित्य स्वाध्याय करने योग्य २१३ पाठोंका संग्रह ।

१६ चित्रोंसे विभूषित किया गया है।

मूल्य २।) २॥) रेशमी जिल्द २॥।)

इस पत्रके इसीअंकका क्रोडपत्र।

ॐ ३१८

श्रीवीतरागाय नमः।

# निश्चयधर्मका मनन।

संपादक—


श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

अनुभवानंद, स्वसमरानंद, समयसार टीका, इष्टोपदेश टीका, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, गृहस्थ धर्म, जैन शतक टीका, सामायिक-पाठ टीका आदि २ ग्रंथोंके रचयिता व "जैनमित्र" के भूतपूर्व सम्पादक।



प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दि० जैन पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

प्रथमावृत्ति ] वीर सं० २४५५ [ प्रति ५००

जैनविजय प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

लागतमात्र मूल्य—सवा रुपया।

# भूमिका ।

आत्माको सुख शांतिकी आवश्यक्ता है, वह सुखशांति आत्मामें ही है क्योंकि आत्माका स्वभाव सुख शांतिमय है इसलिये हरएक मानवको सुख शांतिके आस्वादके लिये अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये अथवा उसका वारवार मनन करना चाहिये। यही मानवजन्मका सार है। इसी वातको उपयोगी समझकर '**जैनमित्र**' नामके साप्ताहिक पत्रमें हरएक अंकमें आत्म मननमें उपयोगी ऐसा एक छोटा लेख कई वर्षोंसे दिया जाता है जिसमें **निश्चयधर्मका मनन** नामक शीर्षकसे जैनमित्र वर्ष १८ अंक २ ता० ४-११-१६ से प्रारम्भ किया गया और वर्ष २७ अंक ५२ ता० २८-१-२६ तक पूर्ण किया गया था इतने कालमें ४४३ लेख भिन्न २ चर्चाको लिये हुए प्रकाश किये गए थे। इन लेखोंको अध्यात्म-प्रेमियोंने बहुत ही पसन्द किया। वास्तवमें एक एक लेख एक प्रकारका अमृतका घडा है जिसको पीनेसे आत्मिक आनन्दका स्वाद आता है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषदके प्रमुख व जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ व प्रकाशक श्रीमान् वारिष्टर चम्पतरायजी विद्यावारिधिने यह इच्छा प्रगट की कि इन सब लेखोंका संग्रह पुन: पुस्तकाकार मुद्रणकर प्रकाशित किया जाय। उनकी प्रेरणाको ध्यानमें लेकर उदारचित्त दो जैन महिलाओंसे २००) की सहायता प्राप्त हुई तब जैनमित्रके परोपकारी प्रकाशक सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापडिया द्वारा उक्त संग्रहको बडे परिश्रमसे पुस्तकाकार प्रगट कराया जाता है जिसको हरएक आत्मप्रेमीको शीघ्र ही एक एक प्रति मंगाकर नित्य पाठकर आत्मरस पान करना चाहिये। दाम भी लागतको ही ध्यानमें लेकर अतीव कम रक्खा गया है। इस पुस्तकमें कहीं कोई त्रुटि हो तो विद्वज्जन कृपाकर सूचना करनेका कष्ट उठावेंगे।

अंकलेश्वर ।<br>ता० २८-७-२९

आत्मरसिक—<br>ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद ।

# विषयसूची।

| विषय | पृष्ठ | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|---|

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीकृत-

पूर्वप्रकाशित दो अध्यात्मिक ग्रंथ-

# अनुभवानन्द

इसमें अध्यात्मरस पूर्ण ९६ विषयोंका संग्रह, जैनमित्रसे उद्धृत है। पृष्ठ १२८ व

मूल्य-आठ आने।



# स्वसमरानन्द

अथवा

## चेतन-कर्म-युद्ध।

इसमें आध्यात्मिक २८ विषयोंका संग्रह जैनमित्रसे उद्धृत है। पृष्ठ ८१ लागतमात्र

मूल्य-तीन आने।

श्रीपरमात्मने नमः ।

स्वर्गीय कविवर भूधरदासविरचित

# जैनशतक ।

अर्थात्

हिन्दीके १०० पद्योंका मनोहर संग्रह ।

प्रकाशक

छगनमल बाकलीवाल

मालिक–जैन ग्रन्थ–रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगाव–बम्बई ।

मुद्रक

विनायक बालकृष्ण परांजपे

नेटिव ओपिनियन प्रेस

आंग्रेवाडी, गिरगाव बम्बई ।

सितम्बर १९२८ ई० ।

पंचमावृत्ति ] [ मूल्य चार आने ।

नमः सिद्धेभ्यः ।

कविवर भूधरदासविरचित

# जैनशतक ।

श्रीआदिनाथस्तुति ।

सवैया ( मात्रा ३२ ) ।

ज्ञानजिहाज बैठि गनधरसे, गुनपयोधि जिस नाहिं तरे हैं । अमरसमूह आनि अवनीसौं, घसि घसि सीस प्रनाम करे हैं ॥ किधौं भाल-कुकरमकी रेखा, दूर करनकी बुद्धि धरे हैं । ऐसे आदिनाथके अहनिस[1], हाथ जोरि हम पाँय परे हैं ॥ १ ॥

काउसग्ग[2]मुद्रा धरि वनमैं, ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी । निहचल अंग मेरु है मानौं, दोऊ भुजा छोर जिन दीनी ॥ फँसे अनंत जंतु जग-चहले[3], दुखी देखि करुना चित लीनी । काढ़न काज तिन्हैं समरथ प्रभु, किधौं बाँह ये दीरघ कीनी ॥ २ ॥

---

१ अहर्निशि–रात्रिदिन । कायोत्सर्ग मुद्रा । ३ संसाररूपी कीचडमें ।

* करनौं कछु न करनतैं कारज, तातैं पानि प्रलंब करे हैं । रह्यौ न कछु पाँयनतैं पैवौ[2], ताहीतैं पद नाहिं टरे हैं ॥ निरख चुके नैनन सब यातैं, नैन नासिका अनी[3] धरे हैं । कानन कहा सुनै यौं काँनन, जोगलीन जिनराज खरे हैं ॥ ३ ॥

छप्पय ।

जयौ नाभिभूपालबाल, सुकुमाल सुलच्छन ।
जयौ स्वर्गपातालपाल, गुनमाल प्रतच्छन ॥
दृग विशाल वर भाल, लाल नख चरन विरजहिं[6] ।
रूप रसाल मराल चाल, सुन्दर लखि लज्जहिं ॥
रिपुजालकाल[7] रिसहेश[8] हम, फँसे जन्म-जंबाल[9]-दह ।
यातैं निकाल बेहाल अति, भो दयाल दुख टाल यह ।

---

* इसी आशयका यह श्लोक है ।

नो किञ्चित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किञ्चिद्दृशो
दृश्यं यस्य न कर्णयो. किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न ।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रह.
संप्राप्नोति निराकुलो विजयते ध्यानकैतानो जिनः ॥

१ हाथ । २ चलना । ३ नोक पर । ४ कानोसे । ५ जंगलमें । ६ विराजते है, शोभा देते है । ७ कर्मरूपी शत्रुसमूहके लिये यमराजके समान । ८ हे ऋषभेश, हे आदिनाथ । ९ कीचड़का द्रह ।

श्रीचन्द्रप्रभस्तुति ।

सवैया (मात्रा ३२) ।

चितवत वदन अमल[1] चंद्रोपम, ताजि चिंता चित होय अकामी[2] । त्रिभुवनचंद पापतपचंदन[3], नमत चरन चंद्रादिक नामी ॥ तिहुँ जग छई चंद्रिका-कीरति, चिहँन[4] चंद्र चिंतत शिवगामी । बन्दौं चतुरचकोरचंद्रमा, चंद्रवरन चंद्रप्रभस्वामी ॥ ५ ॥

श्रीशान्तिनाथस्तुति ।

मत्तगयन्द (सवैया) ।

* शांति जिनेश जयौ जगतेश, हरै अघताप निशेशकी नाईं । सेवत पाय सुरासुरराय, नमैं सिर नाय महीतलताईं ॥ मौलि लगे मनिनील दिपैं, प्रभुके चरनौं झलकै वह झाँई । सूँघन पायं-सरोज-सुगंधि, किधौं चलि ये अलिपंकति आई ॥ ६ ॥

---

१ निर्मल चन्द्रमाके समान । २ इच्छा रहित । ३ पापरूपी आतापके लिये चन्दनके समान । ४ चन्द्रमाका है चिह्न जिनके । ५ बुद्धिमान पुरुषरूपी चकोरोंको चन्द्रमाके समान । ६ चन्द्रके समान । ७ मुकुटमें । ८ छाया । ९ चरणकमलोंकी सुगंधी ।

* जयति जगदीशः शान्तिनाथो जिनेन्द्रः ।
स्मृतिमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै ।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्न—
द्युतिचलमधुपालीचुम्बितपादपद्म ॥

### श्रीनेमिजिनस्तुति।

#### कवित्त मनहर (३१ वर्ण)।

शोभित प्रियंग[1] अंग देखैं दुख होय भंग, लाजत अनंग जैसैं दीप भानुभासतैं। बालब्रह्मचारी उग्रसेनकी कुमारी जादौं,-नाथ तैं निकारी जन्मकादौ-दुखरासतैं[2]॥ भीम भवकाननमैं आन न सहाय स्वामी, अहो नेमि नामी तकि आयौ तुम तासतैं। जैसे कृपाकंद वनजीवनकी बंद छोरी, त्यौं ही दासको खलास[3] कीजै भवपासतैं॥ ७॥

### श्रीपार्श्वनाथस्तुति।

#### छप्पय (सिंहावलोकन)।

जनम-जलधि-जलजान[4], जान जनहंस-मानसर[5]।
सरव इंद्र मिलि आन[6] आन[7] जिस धरहिं सीसपर॥
परउपकारी वान[8], वान[9] उत्थपंड[10] कुनय गन[11]। गन[12]-

---

१ प्रियंगुके (कंगनीके) फूलके समान श्यामवर्ण है शरीर जिनका। २ हे यादवनाथ! आपने राजीमतीको दुःखमयी जन्ममरणरूप कीचड़से निकाल दिया। ३ मुक्त—रहित। ४ संसार समुद्र तरनेको जलयान अर्थात जहाजके समान। ५ सत्पुरुषरूपी हंसोंको मानससरोवर। ६ आकरके। ७ आज्ञा। ८ स्वभाव। ९ वाणी। १० उखाड़नेवाली है। ११ कोटिनयोंको—नयाभासोंको। १२ गण (मुनिमंडल) रूपी कमलवनको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य।

सरोजवन-भान, भान[1] मम मोह-तिमिर-घन ॥ घनव-रन देह दुख-दाह-हर, हरखत हेरि मयूर-मन । मनमथ-मतंग-हरि पासजिन[2], जिन[3] विसरहु छिन जगतजन ॥ ८ ॥

श्रीवर्द्धमानजिनस्तुति ।

दोहा ।

दिढ़[4]-कर्माचल-दलन पवि, भवि[5]-सरोज-रविराय । कंचनछवि कर जोर कवि, नमत वीरजिन[6]-पाय ॥९॥

सवैया (मात्रा ३१) ।

रहौ दूर अंतरकी महिमा, बाहिज गुनवरनन बल काँपै । एक हजार आठ लच्छन तन[7],-तेज कोटि-रवि-किरनि-उथापै ॥ सुरपति सहसआँखअंजु-[8]लिसौं, रूपामृत पीवत नहिं धाँपै[9] । तुम विन कौन समर्थ वीरजिन, जगसौं काढ़ि मोखमैं थापै ॥ १० ॥

---

१ नाश करो । २ पार्श्वजिन । ३ मत भूलो । ४ कर्मरूपी मजबूत पर्वतको नष्ट करनेंके लिये वज्रके समान । ५ भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य । ६ वीर भगवानके चरण । ७ बाहिरी गुण वर्णन करनेकी शक्ति भी किसमें है ? ८ शरीरका तेज । ९ हजार नेत्ररूपी अजुलियोंसे । १० तृप्त होता है ।

श्रीसिद्धस्तुति ।

मत्तगयंद ।

ध्यान[1]हुताशनमैं अरि ईंधन, झोक दियौ रिपुरोक[2] निवारी । शोक हर्यो भविलोकनकौ वर, केवलज्ञानमयूख[3] उघारी ॥ लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्मजरामृतपंक[4] पखारी । सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक[5] त्रिकाल हमारी ॥ ११ ॥

तीरथनाथ प्रनाम करैं, तिनके गुनवर्ननमैं बुधि हारी । मोम गयौ गलि मूसमझार[6], रह्यौ तहँ व्योम[7] तदाकृतधारी । लोक-गहीर-नदीपति-नीर[8], गये तिर तीर भये अविकारी । सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी ॥ १२ ॥

साधुस्तुति ।

कवित्त मनहर ।

शीतरितु-जोरैं[9] अंग सब ही सकोरैं[10] तहां, तनको न मोरैं[11] नदीधोरैं[12] धीर जे खरे । जेठकी झकोरैं[13] जहां अंडा चील छोरैं[14] पशु, पंछी छांह लोरैं[15] गिरि कोरैं[16]

---

१ ध्यानरूपी अग्निमें । २ कर्म शत्रुओंकी रुकावटको निवारण किया । ३ किरण । ४ कीचड़ । ५ पांवाढोक—प्रणाम । ६ साचेमें । ७ आकाश । ८ संसाररूप गंभीर समुद्रके पानीको तिरके । ९ जोरसे । १० सुकड़ाते हैं । ११ नहीं मोड़ते । १२ नदीके किनारे । १३ लुएँ—झकोरें । १४ चीलपक्षी गर्मीके मारे अंडा छोड़ देते हैं । १५ चाहते हैं । १६ पर्वतके शिखरोंपर ।

तप वे धरे ॥ घोर घन घोरैं[1] घटा चहूं ओर डोरैं[2] ज्यौं ज्यौं, चलत हिलोरैं[3] त्यौं त्यौं फोरैं[4] बल ये अरे। देहनेह तोरैं परमारथसौं प्रीति जोरैं, ऐसे गुरु ओरैं हम हाथ-अंजुली करे ॥ १३ ॥

जिनवाणीस्तुति ।

मत्तगयंद (सवैया)।

वीरहिमाचलतैं निकसी, गुरु गौतमके मुखकुंड ढरी है। मोह[6]महाचल भेद चली, जगकी जड़[7]तातप दूर करी है ॥ ज्ञानपयोनिधिमाहिं रली, बहु भंग-तरंगनिसौं उछरी है। ता शुचि शारद गंगनदी-प्रति, मैं अंजुरी निज सीस धरी है ॥ १४ ॥

या जगमंदिरमैं अनिवार[8], अज्ञान अँधेर छयौ अति भारी। श्रीजिनकी धुनि दीपशिखा सम, जो नहिं होती प्रकाशनहारी ॥ तो किहँभाँति पदारथ[9]-पाँति, कहां लहते रहते अविचारी। या विधि संत कहैं धन हैं, धन हैं जिनवैन बड़े उपगारी ॥ १५ ॥

इति मंगलाचरण।

---

१ गरजते है। २ डोलैं—डोलते है। ३ झंझा पवनके झोके। ४ स्फुरायमान करके। ५ अड़े—डँटे। ६ मोहरूपी महापर्वत—हिमालयको। ७ जड़ता या मूर्खतारूपी गर्मी। ८ जिसका निवारण न हो सके। ९ पदार्थोंकी—तत्त्वोंकी पंक्ति।

## जिनवाणी और मिथ्यावाणी ।

### कवित्त मनहर ।

कैसेकरि केतकी कनेर एक कहि जाय, आँकदूध[1] गायदूध अंतर घनेर है। पीरी होत रीरी[2] पै न रीसँ[3] करै कंचनकी, कहां काग-वानी कहां कोयलकी टेर है॥ कहां भानु भारौ कहां आँगिया[4] विचारौ कहां, पूनौको उजारौ कहां मॉवसअँधेर[5] है। पच्छ छोरि पारखी निहारौ[6] नेक नीके करि, जैन वैन औरवैनँ[7] इतनौं ही फेर है॥ १६॥

### वैराग्यकामना ।

कब गृहवाससौं उदास होय बन सेऊं, वेऊँ[8] निजरूप गति रोकूं मन-करीकी[9]। रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग, सहि हौं परीसा शीत-घाम-मेघ झरीकी॥ सारँग[10]समाज खाँज[11] कबधौं खुजै है आनि, ध्यान-दल-जोर जीतूं सेना मोहअरीकी। एकलविहारी जथाजात[12] लिंगधारी कब, होऊं इच्छा-चारी वलिहारी हौं वा घरीकी॥ १७॥

---

१ "आक दूध सुरहीकौं" ऐसा भी पाठ है। २ पीतल। ३ हिर्स—बराबरी। ४ खद्योत, पटबीजना। ५ अमावस्याका अँधेरा। ६ "निहार देखो नीकेकरि" ऐसा भी पाठ है। ७ दूसरे धर्म-वालोंके वचनोंमें। ८ जानूं—अनुभवूं। ९ मनरूपी हाथीकी। १० मृगोंके समूह। ११ खुजली—कंडू। १२ नग्नमुद्रा धारण करनेवाला।

राग और वैराग्यका अन्तर।

रागउदै भोगभाव लागत सुहावनेसे, विनाराग ऐसे लागैं जैसैं नाग कारे हैं। रागहीसौं पाग रहे तनमैं सदीव जीव, राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥ रागसौं जगतरीति झूठी सब सांची जानै, राग मिटैं सूझत असार खेल सारे हैं। रागी विन-रागी[1]के विचारमैं बड़ौ ई भेद, जैसैं "भंटा[2] पच काहू काहूको बयारे हैं" ॥ १८॥

भोगनिषेध।

मत्तगयंद (सवैया)।

तू नित चाहत भोग नए नर, पूरवपुन्य विना किम पैहै। कर्मसँजोग मिलै कहिं जोग, गहै तब रोग न भोग सकै है॥ जो दिन चारकौ ब्योंत बन्यौ कहुँ, तौ परि दुर्गतिमैं पछितैहै। यौं हित यार सलाह यही कि, "गई कर जाहु" निवाह न ह्वै है॥ १९॥

देहस्वरूप।

मातपिता-रज-वीरजसौं, उपजी सब सात कुधात भरी है। माँखिनके[3] पर माफिक बाहर, चामके

---

१ 'वीतरागी' ऐसा भी एक पाठ है। २ भटा अर्थात् बेंगन किसीको पथ्य होते है और किसीको वादी (वायुको बढ़ानेवाले) होते है। ३ मक्खियोंके पंखो जैसे पतले चमडेके बेठनमे (वेष्टनमें) घिरी हुई।

वेठन वेढ़ धरी है। नाहिं तौ आय लगैं अब ही, [1]वंक [2]वायस जीव बचै न घरी है। देहदशा यह दीखत भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥ २०॥

संसारस्वरूप और समयकी बहुमूल्यता।

कवित्त मनहर।

काहूघर पुत्र जायौ काहूके वियोग आयौ, काहू रागरंग काहू रोआ रोई करी है। जहां भान ऊगत [3]उछाह गीत गान देखे, सांझसमै ताही थान हाय हाय परी है॥ ऐसी जगरीतको न देखि भयभीत होय, हा हा नर मूढ़ तेरी मति कौनैं हरी है। मानुषजनम पाय सोवत विहाय जाय, खोवत करोरनकी एक एक घरी है॥ २१॥

सोरठा।

कर कर जिनगुनपाठ, जात अकारथ रे जिया।
आठ पहरमैं साठ, घरीं घनेरे मोलकीं॥ २२॥
[4]कौंनी कै ड़ी काज, कोरनको लिख देत [5]खत।
ऐसे मूरखराज, जगवासी जिय देखिये॥ २३॥

---

१ वगुला। २ कौआ। ३ उत्सव। ४ फूटी कौड़ीके लिये जैसे कोई करोड़ों रुपयेका। ५ तमस्सुक (चिट्ठी) लिख देवे।

दोहा।

कानी कौड़ी विषय सुख, भवदुख करज अपार।
विना दियें नहीं छूटि है, लेश[1]क दाम उधार ॥२४॥

शिक्षा।

छप्पय।

दं[2]श दिन विषयविनोद, फेर बहु विपतिपरंपर।
अशुचिगेह यह देह, नेह जानत न आप जर[3] ॥
मित्र बंधु-सनमंध और, परिजन जे अंगी[4]।
अरे अंध सब धंध, जान स्वारथके संगी ॥
परहित अकाज अपनौ न कर, मूढ़राज अब समझ उर।
ताजि लोकलाज निज काज कर आज दाँव[5] है कहत गुर।

कवित्त मनहर।

जौलौं देह तेरी काहू रोगसौं न घेरी जौलौं, जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है। जौलौं, जम-नामा वैरी देय ना दमा[6]मा जोलौं, मानै कान रामा[7][8] बुद्धि जाइ ना विगरि है॥ तौलौं मित्र मेरे निज कारज सँवार ले रे, पौरुष थकैंगे फेर पीछे कहा करि है। अहो आग आयें जब झोंपरी जरन लागी, कुआके खुदायैं तब कौन काज सरि है ॥ २६ ॥

---

१ लेशमात्र भी। २ 'दिन द्वय' ऐसा भी पाठ है। ३ जड-अचेतन। ४ पुत्र वा नातेदार। ५ मौका। ६ नगाडा। ७ आज्ञा। ८ स्त्री।

*सौ वरष आयु ताका लेखा करि देखा सब, आधी तौ अकारथ ही सोवत विहाय रे । आधीमैं अनेक रोग वालवृद्धदशाभोग, और हु सँजोग केते ऐसे बीत जाँय रे ॥ बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही, कारजकी बात यही नीकै मन लाय रे । खातिरमें[1] आवै तौ खलासी कर इतनेमैं, भावै फँसि फंदवीच दीनौं समुझाय रे ॥ २७ ॥

बुढ़ापा ।

बालपनैं बाल रह्यौ पीछै गृहभार वह्यौ, लोक-लाजकाज बांध्यौ पापनकौ ढेर है । अपनौ अकाज कीनौं लोकनमैं जस लीनौं, परभौ विसार दीनौं विषैवश जेर (?) है ॥ ऐसे ही गई विहाय अलपसी रही आयु[2], नर-परजाय यह "आँधेकी बटेर" है । आये सेत[3] भैया अब काल है अवैया अहो, जानी रे सयानैं तेरे अजौं[4] हू अँधेर है ॥ २८ ॥

---

* आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयो. ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगबुद्बुदसमे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥
[भर्तृहरिः ।]

१ "खातिरमै आवै तौ खलासी कर हाल, नहीं काल घाल परै है अचानक ही आय रे ।" ऐसा भी एक पुस्तकमें पाठ है । २ आयु—उम्र । ३ सफेद वाल । ४ अव तक भी ।

मत्तगयंद (सवैया)।

बालपनै न सँभार सक्यौ कछु, जानत नाहिं हिताहितहीको। यौवन वैस[1] वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमीको॥ यौं पन दोइ[2] विगोइ दये नर, डारत क्यौं नरकै[3] निज जीको। आये हैं सेत[4] अजौं शठ चेत, "गई सुगई अब राख रहीको"॥ २९॥

कवित्त मनहर।

सार नर देह सब कारजकौं जोग येह, यह तौ विख्यात बात वेदनमैं बँचै है। तामैं तरुनाई धर्मसेवनकौ समै भाई, सेये तब विषै जैसैं माखी मधु रचै है॥ मोहमदभोये[5] धनरामाहित रोज रोये, यौंही दिन खोये खाय कोदौं[6] जिम मचै है। अरे सुन बौरे अब आये सीस धौरे[7] अजौं, सावधान हो रे नर नरकसौं बचै है॥ ३०॥

मत्तगयन्द (सवैया)।

वाय लगी कि बलाय[8] लगी, मदमत्त भयौ नर भूलत त्यौं ही। वृद्ध भयें न भजै भगवान, विषै-विष खात अघात न क्यौं ही। सीस भयौ बगुलासम सेत,

---

१ वयस-उम्र। २ दो अवस्थाएँ। ३ नरकमें। ४ सफेद बाल। ५ मोहरूपी मदमें मग्न हुए। ६ कोदों (कोद्रव) को खाकर जिस तरह मत्त हो जाते है। ७ सफेद बाल। ८ प्रेतबाधा।

रह्यो उरअंतर श्याम अजौं ही । मानुषभौ मुकताफलहार, गवाँर तगाहित तोरत यौं ही ॥ ३१ ॥

संसारीजीवका चितवन ।

चाहत हैं धन होय किसी विध, तौ सब काज सरैं जियरा जी । गेह चिनाय करूं गहना कछु, ब्याहि सुता सुत बाँटिये भाजी ॥ चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आनि अचानक देत दगा जी । खेलत खेल खिलारि गये, "रहि जाइ रुपी शतरंजकी बाजी" ॥

तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही । दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही ॥ ऐसे बढ़े तौ कहा भयौ हे नर, छोरि चले उठि अंत छरे ही । धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम डरे रहे ठाम धरे ही ॥ ३२ ॥

अभिमाननिषेध ।

कवित्त मनहर ।

कंचनभंडार भरे मोतिनके पुंज परे, घने लोग द्वार खरे मारग निहारते । जौन चढ़ि डोलत हैं झीने

---

१ सूतके धागेके लिये । २ चिनाकर-बनाकर । ३ विवाह वगैरह उत्सवोंमें जो मिष्टान्न बांटा जाता है, उसे भाजी कहते हैं । ४ जमी हुई । ५ घोडा । ६ हाथी । ७ खुशामद करनेवाले । ८ खजाना । ९ अकेले ही । १० 'गड़े रहे' तथा-'गरे रहे' ऐसा भी पाठ है । ११ यान-सवारी ।

सुर बोलत हैं, काहुकी हू ओर नेक नीके ना चिता-रते ॥ कौलौं[1] धन खांगे कोऊ कहौ यौं न, लांगे तेई, फिरैं पाँय नांगे कांगे परपग झारते । एते पै अयाने[2] गरवाने रहैं विभौ[3] पाय, धिक है समझ ऐसी धर्म ना सँभारते ॥ ३४ ॥

देखो भरजोबनमैं पुत्रको वियोग आयौ, तैसैं ही निहारी निज नारी कालमगमैं । जे जे पुन्यवान जीव दीसँत[4] है यानहीपै, रंक भये फिरैं तेऊ पनहीं न पगमैं ॥ एते पै अभाग[5] धनजीतबसौं धरै राग, होय न विराग जानै रहूंगौ अलग मैं । आंखिन विलोकि अंध सूँसेकी[6] अँधेरी करै, ऐसे राजरोगको इलाज कहा जगमैं ॥ ३५ ॥

दोहा ।

जैनवचन अंजनवटी, आंजैं सुगुरु प्रवीन ।
रागतिमिर तऊ ना मिटै, बड़ो रोग लख लीन॥३६॥

---

१ "कबतक धन खायँगे, बहुत धन है" कोई ऐसा मत कहो, क्योंकि वे ही फिर लांगे होकर अर्थात् भूखे होकर नगे पैर फिरेंगे और कंगले बनकर पराये पैर झाड़कर उदर निर्वाह करेंगे । २ अजान-मूर्ख । ३ सम्पत्ति धन । ४ दीखते थे । ५ अभागा । ६ शशक ( खर्गोश ) अपनी आँखें बंद करके जानता है कि अब सब जगह अँधेरा हो गया, मुझे कोई देखता ही नहीं है ।

मनहर।

जोई दिन कटै सोई आवमैं[1] अवश्य घटै, बूंद बूंद बीतै जैसैं अंजुलीकौ जल है। देह नित छीन होत नैन तेजहीन होत, जोबन मलीन होत छीन होत बल है॥ आवै जरा नेरी[2] तकै अंतक-अहेरी[3] आवै, परभौ नजीक जात नरभौ निफल है। मिलकै मिलापी जन पूँछत कुशल मेरी, ऐसी दशामाहिं मित्र! काहेकी कुशल है?॥ ३७॥

बुढ़ापा।

मत्तगयंद (सवैया)।

दृष्टि घटी पलटी तनकी छवि, बंक[4] भई गति लंक[5] नई[6] है। रूस रही परनी[7] घरनी अति, रंक भयौ परियंक[8] लई है॥ काँपत नार[9] वहै मुख लार, महामति[10] संगति छांरि गई है। अंग उपंग पुराने परे, तिसना[11] उर और नवीन भई है॥ ३८॥

---

१ आयुमें—उम्रमें। २ नजदीक—निकट। ३ जमराजरूपी शिकारी। ४ बांकी—अटपट, कहीं पैर रखते हैं कहीं पड़ता है। ५ कमर। ६ नई अर्थात् झुक गई, टेढ़ी हो गई। ७ विवाही हुई। ८ पलंग—चारपाई। ९ गर्दन। १० बुद्धि छोड़के चली गई—नाठया गई। ११ गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते।

कवित्त मनहर।

रूपको न खोज रह्यौ तरु ज्यौं तुषार दह्यौ, भयौ पतझार किधौं रही डार सूनीसी। कूबरी भई है कटि दूबरी भई है देह, ऊबरी[1] इतेक आयु सेरमाहिं पूंनीसी[2]॥ जोबननैं विदा लीनी जरानैं जुहार कीनी, हानी भई सुधि बुधि सबै बात ऊनीसी[3]। तेज घट्यौ ताव घट्यौ जीतवकौ चाव घट्यौ, और सब घट्यौ एक त्रिस्ना दिन दूनीसी॥ ३९॥

अहो इन आपने अभाग उदै नाहिं जानी, वीत-राग-वानी सार दयारस-भीनी है। जोबनके जोर थिरै[4] जंगम अनेक जीव, जानि जे सताये कछु करुना न कीनी है। तेई अब जीवरास आये पर-लोकपास, लैंगे बैर दैंगे दुख भई ना नवीनी है। उनहीके भयकौ भरोसौ जान-कांपत है, याही डर "डोकेरानैं[5] लाठी हाथ लीनी है"॥ ४०॥

जाकौं इंद्र चाहैं अहमिंद्रसे उमाहैं जासौं, जीव मुक्तिमाहैं जाय भौ-मल बहावै है। ऐसौ नरजन्म पाय विषै-विष खाय खोयौ, जैसे काच साँटैं[6] मूढ़ मानक गमावै है॥ मायानदी बूड़[7] भींजा

१ बाकी। २ सेरभर रूईमे एक पौनीके बराबर बाकी रही। ३ उन्नीसी—कमती। ४ स्थावर जीव, एकेन्द्रिय। ५ बूढ़ेने। ६ बदलेमे। ७ डूबकरके।

कायाबल तेज छीजा, आया पन[1] तीजा अब कहा बनि आवै है । तातैं निज सीस ढोलै[2] नीचे नैन किये डोलै, कहा बढ़ि बोलै वृद्ध वदन[3] दुरावै है ॥ ४१ ॥

मत्तगयंद ( सवैया ) ।

देखहु जोर जरा भटकौ, जमराज महीपतिकौ अगवानी । उज्जल केस निसान धरैं, बहु रोगनकी सँग फौज पलानी ॥ कायपुरी तजि भाजि चल्यौ जिहिं, आवत जोबन-भूप गुमानी । लूट लई नगरी सगरी[4], दिन दोयमैं खोय है नाम निसानी ॥ ४२ ॥

दोहा ।

सुमतिहिं तजि जोबन समय, सेवहु विषय विकार ।
खलसाँटैं[5] नहिं खोइये, जनम-जवाहिर सार ॥ ४३ ॥

कर्तव्यशिक्षा ।

मनहर ।

देवगुरु सांचे मान सांचौ धर्म हिये आन, सांचौ ही बखान[6] सुनि सांचे पंथ आव रे । जीवनकी दया पाल झूठ तजि चोरी टाल, देख ना विरानी-बाल[7] तिसना घटाव रे ॥ अपनी बड़ाई परनिंदा मत कर भाई, यही चतुराई मद मांसकौं बचाव रे । साध[8] खटकर्म साध-

---

१ तीसरापन बुढ़ापा । २ सिर हिलाता है । ३ मुंह छुपाता है । ४ सारी । ५ खलीके बदले । ६ व्याख्यान-शास्त्र । ७ दूसरेकी स्त्री । ८ साधुओंकी, सज्जनोंकी ।

संगतिमैं बैठ वीर, जो है धर्मसाधनकौ तेरे चित चाव[1] रे॥ ४४ ॥

सांचौ देव सोई जामैं दोषकौ न लेश कोई, वहै गुरु जाकैं उर काहुकी न चाह है। सही धर्म वही जहां करुना प्रधान कही, ग्रंथ जहां आदि अंत एकसौ निवाह है॥ ये ही जग रत्न चार इनकौं परख यार, सांचे लेहु झूठे डार नरभौकौ लाह[2] है। मानुष विवेक विना पशुकी समान गिना, तातैं याहि बात ठीक पारनी सलाह है॥ ४५ ॥

सांचे देवका लक्षण।

छप्पय।

जो[3] जगवस्त समस्त, हस्ततल जेम निहारै।
जगजनको संसार, सिंधुके पार उतारै॥
आदि-अंत-अविरोधि, वचन सबको सुखदानी।
गुन अनंत जिहँमाहिं, रोगकी नाहिं निशानी॥
माधव महेश ब्रह्मा किधौं, वर्धमान कै बुद्ध यह।

---

१ इच्छा-उत्कंठा। २ लाभ।

३ यो विश्वं वेद वेद्यं जनन-जलनिधेर्भंगिन. पारदृश्वा
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवंद्यं निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विपन्तं
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥
[ अकलङ्काष्टक ]

ये चिहन जान जाके चरन, नमो नमो मुझ देव वह॥

यज्ञमें हिंसानिषेध ।

कवित्त मनहर ।

*कहै पशु दीन सुन जग्यके करैया मोहि, होमत हुताशनमैं कौनसी बड़ाई है। स्वर्गसुख मैं न चहौं "देहु मुझे" यौं न कहौं, घास खाय रहौं मेरे यही मनभाई है॥ जो तू यह जानत है वेद यौं बखानत है, जग्य जलौ जीव पावै स्वर्गसुखदाई है। डारै क्यौं न वीर यामैं अपने कुटुंबहीकौं, मोहि जिन जारै "जगदीसकी दुहाई है"॥ ४७॥

सातों वारगर्भित षट्कर्मोपदेश ।

छप्पयं[1] ।

[2]अघ-अँधेर-आदित्य, नित्य स्वाध्याय करिज्जै ।
[3]सोमोपम संसार-तापहर, तप करलिज्जै ॥

---

*नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्व मया।
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हन्तुं न युक्तं तव ॥
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो।
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रस्तथा बान्धवैः ॥

( यशस्तिलके )

१ इस छप्पयमें सातों दिनके नाम आये है। २ पापरूपी अंधेरेको मिटानेके लिये स्वाध्याय आदित्य अर्थात् सूर्यके समान है। ३ संसाररूपी तापको हरनेके लिये तप सोम अर्थात् चन्द्रमाके समान है।

जिनवरपूजा नियम करहु, नित मंगल[1]दायानि।
बुध संजम आदरहु, धरहु चित श्रीगुरुपाँयानि ॥
निजवितसमान अभिमान बिन, सुकर[2] सुपत्त[3]हिं दान०
करा।यौं सनि[4] सुधर्म षटकर्म भनि, नरभौ-लाहौ लेहु नर०

दोहा।

ये ही छह विधि कर्म भज, सात विसन तज वीर।
इस ही पैंड़े[5] पहुचिं है, क्रम क्रम भवजलतीर ॥४९॥

सप्तव्यसन।

जूआखेलन मांस मद, वेश्याविसन शिकार।
चोरी पर-रमनी-रमन, सातौं पाप निवार ॥ ५० ॥

जूआ निषेध।

छप्पय।

सकल-पापसंकेत, आपदाहेत कुलच्छन[6]।
कलहखेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छँन[7] ॥
गुनसमेत जस सेत, केत[8] रवि रोकत जैसैं।
औगुन-निकर-निकेत[9], लेत लखि बुधजन ऐसैं ॥
जूआ समान इह लोकमैं, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनरायके खेलकौ, कौतुक हू नहिं देखिये ५१॥

---

१ भगवानकी पूजा मंगल करनेवाली है। २ शुक्रवार वा अच्छे हाथसे। ३ सुपात्रको। ४ शनिवार वा सुधर्म सनि अर्थात सुधर्ममें मग्न होकर। ५ मार्गसे। ६ 'अलच्छन' भी पाठ है। ७ नेत्रोंसे। ८ जैसे सूर्यको केतु ग्रहका विमान रोक देता है। ९ अवगुण समूहका घर।

मांस निषेध ।

जंगम[1] जियकौ नास, होय तब मांस कहावै ।
सपरस आकृति नाम, गन्ध उर घिन उपजावै ॥
नरकजोग निरदई, खाहिं नर नीच अधरमी ।
नाम लेत तज देत, असन[2] उत्तमकुलकरमी ।
यह निपटनिंद्य अपवित्र अति, कृमिकुल-रास-निवास नित । आमिष अभच्छ याको सदा, बरजौ दोष दयालचित ॥ ५२ ॥

मदिरा निषेध ।

दुर्मिल ( सवैया ) ।

कृमिरास कुवास सराँय[3] दहैं, शुचिता सब छीवत जात सही । जिहिं पान कियैं सुधि जात हियैं, जननी जन जानत नार यही । मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुलमैं न गही । धिक है उनकौं वह जीभ जलौ, जिन मूढ़नके मत लीन कही ॥ ५३ ॥

वेश्या निषेध ।

धनकारन पापनि प्रीति करै, नहिं तोरत[4] नेह जथा तिनकौ । लँव[5] चाखत नीचनके मुँहकी, शुचिता सब

---

१ एकेन्द्रीको छोड़कर बाकी सब जीवोंको जंगम जीव कहते है । २ भोजन । ३ सडाकरके । ४ यदि धन नहीं होता है, तो स्नेहको तिनकेके समान तोड देती हैं । ५ लार—लाला ।

जाय छियैं जिनकौं। मद मांस बजारनि खाय सदा, अँधले विसनी न करैं घिनकौं। गनिका सँग जे सठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनकौं * ॥५४॥

आखेट निषेध।

कवित्त मनहर।

काननमैं बसै ऐसौ आन न गरीब जीव, प्राननसौं प्यारौ प्रान पूंजी जिस यहै है। कायर सुभाव धरै काहूँसौं न द्रोह करै, सबहीसौं डरै दांत लियैं तृन रहै है॥ काहूसौं न रोष पुनि काहूपै न पोष चहै, काहूके परोषै परदोष नाहिं कहै है। नेकु स्वाद सारिवेकौं ऐसे मृग मारिवेकौं, हाहा रे कठोर तेरौ कैसैं कर बहै है +

*या खादन्ति पलं पिवन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावच।
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका कुर्वते।
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायाऽपरम्॥ २४॥

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका)

+याः दुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रतृसम्वन्धहीना।
भीतिर्यस्यां स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति।
बध्यालं सापि यस्मिन्ननु मृगवनिता मांसपिण्डप्रलोभा-
दाखेटेस्मिन् रतानामिह किमु न किमन्यत्र नो यद्विरुद्धम्॥

(पद्म० पंच०)

१ जंगलमें। २ परोक्षमें। ३ हाथ चलता है, उठता है।

चोरी निषेध ।

छप्पय ।

चिंता तजै न चोर, रहत चौंकायत[1] सारै ।
पीटै धनी विलोक, लोक निर्दइ मिलि मारै ।
प्रजापाल करि कोप, तोपसौं रोप उड़ावै ।
मरै महा दुख पेखि, अंत नीची गति पावै ।
अति विपतिमूल चोरीविसन, प्रगट त्रास आवै नजर ।
परवित[2] अदत्त[3] अंगार गिन, नीतिनिपुन परसैं न कर॥

परस्त्रीसेवन निषेध ।

कुगतिवहन गुनगहन, दहन दावानलसी है। सुँजसचंद्रघनघटा[4], देहकृशकरन खँई[5] है ॥ धन-सर-सोखन धूप, धँरम-दिन-सांझसमानी[6] । विपतिभुजंगनिवास, वाँवई[7] वेद वखानी ॥ इहिविधि अनेक औगुनभरी, प्रानहरन-फाँसी प्रबल । मत करहु मित्र यह जान जिय, परवनितासौं प्रीति पल ॥ ५७ ॥

परस्त्रीत्याग प्रसंसा ।

दुर्मिल सवैया ।

दिर्वि[8] दीपक-लोय[9] बनी वनिता, जडजीव पतंग जहां परते । दुख पावत प्रान गवाँवत हैं,-बरजे न

---

१ चौकन्ने । २ दूसरेका धन । ३ विना दिया हुआ । ४ सुयशरूपी चन्द्रमाको ढकनेके लिये वादलोंकी घटा । 'घटा' के स्थानमें 'छाहि' भी पाठ है । ५ क्षयरोग । ६ धर्मरूपी दिनका अन्त करनेवाली संध्या । ७ सांपके रहनेकी वल्मीकि या वांबी । ८ दिव्य-प्रकाशमान । ९ दीपककी शिखा ।

रहैं हठसौं जरते ॥ इहि भाँति विचच्छन अच्छनके[1] वश, होय अनीति नहीं करते । परती[2] लखि जे धरती निरखैं, धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते ॥ ५८ ॥

दिढ़शील शिरोमनिकारजमैं, जगमैं जस आरज[3] तेइ लहैं । तिनके जुग लोचन बारज[4] हैं, इहिभांति अचारज आप कहैं ॥ परकामिनको मुखचंद चितै, मुँद जाहिं सदा यह टेव गहैं । धनि जीवन[5] है तिन जीवनको[6], धनि माय[7] उनैं उरमाय[8] वहैं ॥ ५९ ॥

कुशीलनिन्दा ।

मत्तगयंद ( सवैया ) ।

जे परनारि निहारि निलज्ज, हँसैं विगसैं[9] बुधिहीन बड़ेरे । जूठनकी जिमि पातर[10] पेखि, खुशी उर कूकर होत घनेरे ॥ है जिनकी यह टेव[11] वहै[12], तिनको इस भौ अपकीरति है रे । [13] ह्वै परलोकविषैं दृढदंड[14], करै शतखंड सुखाचलकेरे ॥ ६० ॥

---

१ इन्द्रियोंके वश । २ पराई स्त्रीको । ३ आर्य, श्रेष्ठ पुरुष । ४ कमल । ५ जीवितव्य । ६ जीवोंका । ७ माता । ८ हृदयमें धारण करती है । ९ विकसित होवें, खिल उठें । १० पत्तल । ११ आदत । १२ वह आदत इस भवमें बदनामीरूप और परलोकमें वज्रके समान होकर सुखरूपी पर्वतके सैकड़ों टुकडे कर देती है । १३ "ह्वै परलोकविषै विजुरी सु-" ऐसा भी पाठ है । १४ वज्रदंड ।

एक एक व्यसनको सेवन करनेवालेंके नाम ।

छप्पय ।

प्रथम पांडवा भूप, खेलि जूआ सब खोयौ ।
मांस खाय बक[1]-राय, पाय विपदा बहु रोयौ ॥
विन जानैं मदपानजोग, जादौंगन दज्झे[2] ।
चारुदत्त दुख सह्यो, वेसवा-बिसन[3] अरुज्झे ॥
नृप ब्रह्मदत्त आखेटसौं[4], द्विज शिवभूति अदत्तरति ।
पर-रमनि राचि रावन गयौ, सातौं सेवत कौन गति*॥

दोहा ।

पाप नाम नरपति करै, नरक नगरमैं राज ।
तिन पठये पायक[5] विसन, निजपुर वसती[6] काज॥६२॥
जिनकैं जिनके[7] वचनकी, बसी हिये परतीत ।
विसनप्रीति ते नर तजौ, नरकवासभयभीत ॥ ६३ ॥

कुकविनिन्दा ।

मत्तगयन्द ( सवैया ) ।

राग उदै जग अंध भयौ, सहजैं सब लोगन लाज

---

१ बक नामक राजा । २ जले । ३ वेश्याव्यसन । ४ शिकारसे ५ सिपाही । ६ अपना नगर बसानेके लिये । ७ जिनदेवके ।

* द्यूताद्धर्मसुताः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दना-
श्चारु· कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृप· ।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठा-
देकैकव्यसनाद्धता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति ॥ ३१ ॥
[ पद्मनन्दिपंचविंशतिका ]

गवाँई। सीख विना नर सीख रहे, विसेनादिक सेव-नकी सुधराई॥ तापर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई। अंध असुझनकी अँखियानमैं, झोंकत हैं रज रामदुहाई॥ ६४॥

कंचन कुंभनकी उपमा, कह देत उरोजनको कवि बॉरे। ऊपर श्याम विलोकत कै, मनिनीलमकी ढकनी ढँकि छारे॥ यौं सतवैन कहैं न कुपंडित, ये जुग आमिषपिंड उघारे। साधन झार दई मुँह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे॥ ६५॥

ए विधि भूल भई तुमतैं, समुझे न कहां कसतुरी बनाई। दीन कुरंगनके तनमैं, तृन दंत-धरैं करुना किन आई॥ क्यौं न करी तिन जीभनँ जे, रसकाव्य करैं परकौं दुखदाई। साधु-अनुग्रह दुर्जन-दंड, दोऊ सधते विसरी चतुराई॥ ६६॥

---

१ "विषयानके सेवनकी" "विषयादिक सेवनकी" तथा "वनिता सुखसेवनकी" ये भी पाठ है। २ "तापर रीझि रचै रस काव्य, बड़े निरदै कुमती, कवि भाई" ऐसा भी पाठ है। ३ "मेलत हैं" ऐसा भी पाठ है। ४ बालक-मूर्ख। ५ मांसके लौंदे। ६ हरिणोंके शरीरमें कश्तूरी बनाई सो बड़ी भूल की। ७ रसकी क-विता करनेवाले कवियोंकी जीभोंमें कश्तूरीं बनाते, तो अच्छा होता। अभिप्राय यह कि उसके लिये उनकी जीभ नहीं काटी जाती।

मनरूप हाथी ।

छप्पय ।

ज्ञान महावत डारि, सुमति संकल गहि खंडै ।
गुरु अंकुश नहिं गिनै, ब्रह्मव्रत-विरख[1] विहंडै ॥
करि सिधंत सर न्हौन, केलि अघ-रजसौं ठानै ।
करनचपलता[2] धरै, कुमति करनी[3] रति मानै ॥
डोलत सुछंद मदमत्त अति, गुण-पाथिक न आवत उरै[4]।
वैराग्य खंभतैं बाँध नर, मन-मतंग विचरत बुरै ॥६७॥

गुरु उपकार ।

कवित्त मनहर ।

ढईसी सराय काय पंथी जीव वस्यौ आय, रत्न-त्रय निधि जापै मोख जाकौ घर है । मिथ्या निशि कारी जहां मोहअंधकार भारी, कामादिक तस्कर[5] समूहनकौ थर[6] है ॥ सोवै जो अचेत सोई खोवै निज संपदाकौं, तहां गुरु पाहरू[7] पुकारैं दया कर है । गाफिल न हूजै भ्रात ऐसी है अँधेरी रात, "जाग रे बटोही[8] यहां चोरनकौ डर है" ॥ ६८ ॥

---

१ ब्रह्मचर्यरूपी वृक्ष । २ कानोंकी चपलता, अथवा इन्द्रियोंके विषयोंकी चपलता । ३ हथिनी । ४ गुणरूपी मुसाफिर पास भी नहीं आते हैं । ५ चोर । ६ स्थल, थल । ७ पहरेदार । ८ मुसाफिर ।

कषाय जीतनेका उपाय ।

मत्तगयंद ( सवैया )।

छेमनिवास छिमा-धुंवनी[1] विन, क्रोध पिशाच उरै न टरैगौ । कोमलभाव उपाव विना, यह मान महामद कौन हरैगौ ॥ आर्जव-सार-कुठार[2] विना, छलबेल निकंदन कौन करैगौ । तोषशिरोमनि मंत्र[3] पढ़े विन, लोभ फैंणी विष[4] क्यों उतरैगौ ॥ ६९ ॥

मिष्टवचन ।

काहेको बोलत बोल बुरे नर, नाहक क्यौं जस धर्म गमावै । कोमल वैन चँवै[5] किन[6] ऐनँ[7], लगै कछु है न सबै मन भावै ॥ तालु छिदै रसना न भिदै, न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै । जीभ[8] कहैं जिय हानि नहीं, तुझ जी सब जीवनकौ सुख पावै ॥७०॥

धैर्यधारणोपदेश ।

कवित्त मनहर ।

आयौ है अचानक भयानक असाता कर्म, ताके दूर करिवेको बली कौन अह रे। जेजे मन भाये ते कमाये पूर्व पाप आप, तेई अब आये निज उदैकाल लह रे ॥

---

१ क्षमारूपी धूनी । २ आर्जव (सरलता) रूपी फौलादकी कुल्हाडी । ३ संतोशरूपी उत्कृष्ट मंत्र । ४ सर्पका जहर । ५ बोलै । ६ क्यों नहीं । ७ अच्छे । ८ हे जिय! जीभसे कहनेसे तेरी कुछ हानि नहीं, और-सब जीवोंका जी-सुख पाता है ।

एरे मेरे वीर काहे होत है अधीर यामैं, कोऊकौ न सीर[1] तू अकेलौ आप सह रे। भयैं दिलगीर कछू पीर न विनासि जाय, ताहीतैं सयाने तू तमासगीर रह रे ७१

होनहार दुर्निवार।

कैसे कैसे बली भूप भूपर विख्यात भये, वैरीकुल कांपैं नेकु भौंहौंके विकारसौं। लंघे गिरि सायर[3] दिवायरसे[4] दिपैं जिनौं, कायर किये हैं भट कोटिन हुँकारसौं॥ ऐसे महामानी मौत आये हू न हार मानी, क्यौं ही उतरे न कभी मानके पहारसौं। देवसौं न हारे पुनि दौनेसौं[5] न हारे और, काहूसौं न हारे एक हारे होनहारसौं॥ ७२॥

कालसामर्थ्य।

लोहमई कोट केई कोटनकी ओट करौ, काँगुरेन तोप रोपि राखौ पट[6] भेरिकैं। इन्द्र चन्द्र चौंकायत[7] चौकस ह्वै चौकी देहु, चतुरंग चमू चहूं ओर रहौ घेरिकैं॥ तहाँ एक भौंहिरा बनाय बीच बैठो पुनि, बोलौ मति कोऊ जो बुलावै नाम टेरिकैं। ऐसैं परपंच-पाँति रचौ क्यौं न भाँति भाँति, कैसैं हू न छोरैं जम देख्यौ हम हेरिकैं॥ ७३॥

---

१ साझा। २ चिंतित-दुखी। ३ सागर-समुद्र। ४ दिवाकर-सूर्य। ५ दानव-दैत्य। ६ किवाड़ लगाके। ७ चौंककर। ८ मेरु।

मत्तगयंद ( सवैया )।

अन्तकसौं[1] न छुटै निहचै पर, मूरख जीव निरन्तर धूजै[2]। चाहत है चितमैं नित ही सुख, होय न लाभ मनोरथ पूजै॥ तौ पन मूढ़ बँध्यौ भय आस, वृथा बहु दुःखदवानल भूजै। छोड़ विचच्छन ये जड़ लच्छन, धीरज धारि सुखी किन हूजै॥ ७४॥

धैर्यशिक्षा ।

जो धनलाभ लिलार लिख्यौ, लघु दीरघ सुकृतके अनुसारै। सो लहि है कछु फेर नहीं, मरुदेशके ढेरँ[3] सुमेरँ[4] सिधारै॥ घाँटन बाढ़ कहीं वह होय, कहा कर आवत सोच विचारै। कूँप[6] किधौं[7] भर सागरमैं नर, गागर मान मिलै जल सारै॥ ७५॥

आशारूपी नदी ।

मनहर कवित्त ।

मोहसे महान ऊंचे पर्वतसौं ढर आई, तिहूँ जग

---

१ जमराजसे। २ कापै, डरै। ३ मारवाड़के ढेरमें अर्थात् टीबोंमें। ४ सुमेरु पर्वत जो कि सोनेका है। ५ कम और ज्यादा। ६ चाहे कुआमेंसे भर ले चाहे सागरमेंसे भर ले, तेरे घडे भर ही जल मिलेगा। ७ सर्वत्र। ८ उक्तं च,—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोतुंगचिन्तातटी
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥[भर्तृहरि.]

भूतलमैं याहि विसतरी है । विविध मनोरथमै[1] भूरि जल भरी बहै, तिसनातरंगनिसौं आकुलता धरी है ॥ परैं भ्रम भौंर जहां रागसौ मगर तहां, चिंता तट तुंग धर्मवृच्छ ढाय[2] ढरी है । ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध ताकौं, धन्य साधु धीरजजहाज[3] चढ़ि तरी है ॥ ७६ ॥

महामूढ़ वर्णन ।

जीवन कितेक तामैं कहा बीत बाकी रह्यौ, तापै अंध कौन कौन करै हेर फेर ही । आपको चतुर जानै औरनको मूढ़ मानै, सांझ होन आई है विचारत सवेर ही ॥ वामहीके चखनतैं चितवै सकल चाल, उरसौं न चौंवै कर राख्यौ है अंधेर ही । बाँहै[5] बाँन[6] ताँनकै[7] अचानक ही ऐसौ जम, दीस है मसान थान हाड़नकौ ढेर ही ॥ ७७ ॥

केती वार स्वान सिंघ सांबर[8] सियाल सांप, सिंधुर[9] सारंग[10] सूसा[11] सूरी[12] उदरै परचौ । केती वार चील

१ मनोरथमय । २ ढाके-गिरा करके । ३ "धीरजतरट" भी पाठ है । ४ देखे । ५ चलावे । ६ बाण-शर । ७ खींचकरके । ८ बारह सिंगा । ९ हाथी, "सिंधुर सारंग" के स्थानमें "बानर बिलाव" भी पाठ है । १० मृग । ११ खरगोश । १२ सुअरी-सूकरी ।

चमगीदर चकौर चीरौ[1], चक्रवाक चातक चंडूल तन भी धरयौ ॥ केती बार कच्छ मच्छ मेंडक गिंडोला मीन, शंख सीप कौड़ी ह्वै जलूका[2] जलमैं तिरयौ । कोऊ कहै 'जाय रे जनावर!' तो बुरो मानै, यौं न मूढ़ जानै मैं अनेकबार ह्वै मरयौ ॥७८॥

दुष्टकथन ।

छप्पय ।

करि गुण अम्रतपान, दोषविष विषम समप्पै[3] ।
बंकचाल नाहिं तजै, जुगल[4] जिह्वा मुख थप्पै ॥
तकै निरन्तर छिद्र, उदै परदीप[5] न रुच्चै[6] ।
बिन कारण दुख करै, वैर-विष कबहुं न मुंच्चै[7] ॥
वर मौनमंत्रसौं होय वश, संगत कीयैं हान है ।
बहु मिलत बान यातैं सही, दुर्जन सांप समान है ७९

विधातासे तर्क ।

मनहर कवित्त ।

सज्जन जो रचे तौ सुधारससौं कौन काज, दुष्ट जीव किये कालकूटसौं कहा रही । दाता निरमापे फिर थापे क्यों कलपवृच्छ, जाचक विचारे लघु तृण-हूतैं हैं सही ॥ इष्टके संयोतैं न सीरौ[8] घनसार कछू,

---

१ चिडिया । २ जोंक । ३ उगलता है । ४ सापके दो जीभ होती है, दुष्ट द्विजिह्व अर्थात् चुगल होता है । ५ दीपका उदय वा पराई बढती । ६ अच्छा लगे । ७ छोड़ता है । ८ शीतल ।

जगतकौ ख्याल इंद्रजाल सम है वही । ऐसी दोय कोय बात दीखैं विधि एकहीसी, काहेको बनाई मेरे धोखौ मन है यही ॥ ८० ॥

चौवीस तीर्थकरोके चिह्न ।

छप्पय ।

[1]गैऊपुत्र गजराज, बाज बानर मनमोहै ।
कोक कमल साँथिया, सोमें, सफरीपति सोहै ॥
[4]सुरतरु गैंडा महिष, कोलैं पुनि सेही जानौं ।
वज्र हिरन अज मीन, कलश कच्छप उर आनौं ॥
[6]शतपत्र शंख अँहिराज हरि, रिषभदेव जिन आदि ले ।
श्रीवर्द्धमानलौं जानिये, चिहनें चारु चौवीस ये ८१

श्रीऋषभदेवके पूर्वभव ।

कवित्त मनहर ।

आदि जयवर्मा दूजे महाबलभूप तीजे, सुरग-ईशान ललितांग देव थयौ है । चौथे वज्रजंघ एह पांचवैं जुगल देह, सम्यक ले दूजे देवलोक फिर गयौहै ॥ सातवैं सुबुद्धिराय आठवैं अच्युतइंद्र, नववैं नरेंद्र वज्रनाभ नाम भयौ है । दशैं अहमिन्द्र जान ग्यारवैं रिषभ-भानं, नाभिवंश-भूधरके सीसे जन्म लयौ है ॥ ८२ ॥

१ बैल । २ चन्द्रमा । ३ मगर । ४ कल्पवृक्ष । ५ शूकर । ६ रक्तकमल । ७ सर्पराज । ८ सिंह । ९ चिह्न, निशान । १० ऋषभदेवरूपी सूर्यने नाभिराजाके वंशरूपी उदयाचल पर्वतके शिखरपर जन्म लिया । ११ 'भवर' कलिका भी नाम है ।

श्रीचन्द्रप्रभके पूर्वभव।

गीता।

श्रीवर्म भूपति पालि पुहमी[1], स्वर्ग पहले सुर भयौ।
पुनि अजितसेन छखण्डनायक, इंद्र अच्युतमैं थयौ॥
वर परम नाभिनरेश निर्जर, वैजयंति विमानमैं।
चंद्राभ स्वामी सातवैं भव, भये पुरुषपुरानमैं॥८३॥

श्रीशान्तिनाथके पूर्वभव।

कवित्त (३१ मात्रा)

सिरीसेन आरज पुनि स्वर्गी, अमिततेज खेचर-पद पाय। सुर रविचूल स्वर्ग आनतमैं, अपराजित बलभद्र कहाय॥ अच्युतेंद्र वज्रायुध चक्री, फिर अहमिंद्र मेघरथराय। सरवारथसिद्धेश शांताजिन, ये प्रभुकी द्वादश परजाय॥ ८४॥

श्रीनेमिनाथके पूर्वभव।

छप्पय।

पहले भव वन भील, दुतिय अभिकेतु सेठघर।
तीजे सुर सौधर्म, चौमें[2] चिंतागति नभचर॥
पंचम चौथे स्वर्ग, छठैं अपराजित राजा।
अच्युतेंद्र सातयैं, अमरकुलतिलक विराजा॥
सुप्रतिष्ठराय आठम नवैं, जन्म जयन्तविमान धर।
फिर भये नेमि हरिवंशशशि, ये दशभव सुधि करहु नर

---

१ पृथ्वी। २ चौथे भवमें।

श्रीपार्श्वनाथके भवान्तर।

कवित्त (३१ मात्रा)।

विप्रपूत मरुभूत विचच्छन, वज्रघोष गज गहन[1]-मँझार। सुर पुनि सहसरश्मि विद्याधर, अच्युतस्वर्ग अमरि[2]-भरतार। मनुजइंद्र[3] मध्यम ग्रैवेयिक, राजपुत्र आनंदकुमार। आनतेंद्र दशवैं भव जिनवर, भये पासप्रभुके अवतार॥ ८६॥

राजा यशोधरके भवान्तर।

मत्तगयंद सवैया।

राय यशोधर चन्द्रमती, पहले भव मंडल मोर कहाये। जाहक सर्प नदीमध मच्छ, अजा अज भैंस अजा फिर जाये॥ फेरि भये कुकड़ा कुंकड़ी, इन सात भवांतरमैं दुख पाये। चूनमई चरणायुध मारि, कथा सुन संत हियैं नरमाये॥ ८७॥

सुबुद्धिसखीके प्रति वचन।

मनहर कवित्त।

कहै एक सखी स्यानी सुन री सुबुद्धि रानी, तेरा पति दुखी देख लागै उर आर है। महा अपराधी एक पुग्गल है छहौं माहिं, सोई दुख देत दीसै नाना परकार है॥ कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुग्गलकौ, अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है। 'खोटो

---

१ वनमें। २ देवांगनाओंका पति, इन्द्र। ३ राजा। ४ कुत्ता। ५ मुर्गा। ६ मुर्गाको मारके—बलि चढाके। ७ सुन।

दाम आपनो सराफै कहा लगै बीर,' काहूकौ न दोष मेरौ भौंदू भरतार है ॥ ८८ ॥

गुजराती भाषामें शिक्षा ।

करिखा ।

ज्ञानमय रूप [१]रूड़ो सदा सासतौ, [२]ओळखै क्यो न सुखपिंड भोला । [३]बेगळी [४]देहँथी नेह तूं [५]शूं करै, एहनी टेव जो मेह ओला ॥ [६]मेरने मान भवदुक्ख [७]पाम्याँ [८]पछी, चैन [९]लाध्यो [१०]नथी एक तोला । [११]वळी दुख [१२]वृच्छनो बीज [१३]बावै [१४]अने, [१५]आपथी [१६]आपनै आप वोला ॥८९॥

द्रव्यलिंग मुनि ।

मत्तगयंद सवैया ।

शीत सहैं तन धूप दहैं, [१७]तरुहेट रहैं करुना उर आनैं । झूठ कहैं न अदत्त गहैं, वनिता न चहैं [१८]लव लोभ न जानैं ॥ मौन वहैं पढ़ि भेद लहैं, नाहिं नेम [१९]जहैं व्रत रीति पिछानैं । यौं निवहैं पर मोख नहीं, विन ज्ञान यहै जिन वीर वखानैं ॥ ९० ॥

अनुभव प्रशंसा ।

कवित्त मनहर ।

जीवन अलप आयु बुद्धि वल हीन तामैं, आगम

---

१ सुन्दर । २ पहिचाने । ३ पृथक्-जुदी । ४ देहसे । ५ क्या । ६ मेरुके प्रमाण । ७ पाये । ८ पीछे । ९ मिला । १० नहीं । ११ फिर । १२ वृक्षका । १३ बोता है । १४ और । १५ आपने । १६ आपको । १७ वृक्षके नीचे । १८ जरा भी । १९ जोटते ।

अगाधसिंधु कैसैं ताहि डांक[1] है। द्वादशांग मूल एक अनुभौ अपूर्व कला, भैवदाघहारी[2] घनसारकी[3] सलाँक[4] है॥ यह एक सीख लीजै याहीकौ अभ्यास कीजै, याकौ रस पीजै ऐसो वीरजिन-वाँक[5] है। इतनो ही सार येही आतमकौ हितकार, यहीं लौं मदार और आगैं दूकढाक है॥ ९१॥

* भगवत्प्रार्थना।

आगम अभ्यास होहु सेवा सरवग्य तेरी, संगति सदीव मिलौ साधरमी जनकी। सन्तनके गुनकौ बखान यह बान परौ, मैटौ टेव देव पर औगुन कथनकी॥ सबहीसौं ऐन सुखदैन मुख वैन भाखौं, भावना त्रिकाल राखौं आतमीक धनकी। जौलौं कर्म काट खोलौं मोक्षके कपाट तौलौं, ये ही बात हूजौ प्रभु पूजौ आस मनकी॥ ९२॥

---

१ पार पावेगा। २ संसाररूपी उष्णताको हरन करनेवाला। ३ चन्दनकी। ४ शलाका-सलाई। ५ वाक्य है—वचन है।

* शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिसंगतिः सर्वदार्यैः
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहितवचं भावना चात्मतत्त्वे
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥
—निन्दपुगा।

जिनधर्मप्रशंसा।

दोहा।

छये अनादि अज्ञानसौं, जगजीवनके नैन।
सब मत मूठी धूलकी, अंजन है मत जैन ॥ ९३ ॥
मूल नदीके तिरनकौं, और जतन कछु है न।
सब मत घाट कुघाट हैं, राजघाट है जैन ॥ ९४ ॥
तीनभवनमैं भर रहे, थावर जंगम जीव।
सब मत भच्छक देखिये, रच्छक जैन सदीव ॥९५॥
इस अपार जगजलधिमैं, नहिं नहिं और इलाज।
पाहनबाहन[1] धर्म सब, जिनवरधर्म जिहाज ॥ ९६ ॥
मिथ्यामतके मद छके, सब मतेवाले[2] लोय।
सब मतवाले[3] जानिये, जिनमत मत्त न होय ॥ ९७ ॥
मत-गुमानगिरि[4] पर चढ़े, बड़े भये मनमाहिं।
लघु देखैं सब लोककौं, क्यौं हूं उतरत नाहिं ॥९८॥
चामचखनसौं[5] सब मती, चितवत[6] करत निबेर।
ज्ञाननैनसौं जैन ही, जोवत इतनो फेर ॥ ९९ ॥
ज्यौं बजाज ढिगँ राखिकैं, पट परखै परवीन।
त्यौं मतसौं मतकी परख, पावैं पुरुष अमीन ॥१००॥
दोय पक्ष जिनमतविषैं, नय निश्चय व्यवहार।
तिन विन लहै न हंस[8] यह, शिवसरवरकी पार १०१

१ पत्थरकी नावे। २ सब धर्मोंवाले। ३ मदोन्मत्त-पागल। ४ धर्मके अभिमानरूपी पहाड़ पर। ५ चमडेके नेत्रोंसे। ६ देखते है। ७ पास पास रखके कपड़ोंकी जांच करता है। ८ आत्मा।

सीझे सीझैं सीझ हैं, तीन लोक तिहुँकाल ।
जिनमतकौ उपकार सब, जिन[1] भ्रम करहु दयाल ॥
महिमा जिनवर वचनकी, नहीं वचनबल होय ।
भुजबलसौं सागर अगम, तिरै न तरिहिं कोय १०३
अपने अपने पंथको, पोखै सकल जहान ।
तैसैं यह मतपोखना, मति समझौ मतिवान ॥१०४॥
इस असार संसारमैं, और न सरन उपाय ।
जन्म जन्म हूजौ हमैं, जिनवरधर्म सहाय ॥ १०५ ॥

कविका परिचय ।

कवित्त मनहर ।

आगरेमैं बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल, बालकके ख्यालसौं कवित्त कर जानै है । ऐसे[2] ही करत भयौ जैसिंघसवाई सूवा, हाकिम गुलाबचंद आये तिहि थानै है ॥ हरीसिंघ साहके सुवंश धर्मरागी नर, तिनके कहेसौं जोरि कीनी एक ठानै है । फिरि फिरि प्रेरे मेरे आलसकौ अंत भयौ, उनकी सहाय यह मेरौ मन मानै है ॥ १०६ ॥

दोहा ।

सतरहसै इक्यासिया, पोह[3] पाख तमलीन ।
तिथि तेरस रविवारको, सतक समापत कीन १०७

---

१ मत करो । २ ऐसी कविता करते आगरेमें सवाई जयसिंहका सूवा हुआ । ३ पूषके अंधेरे पाखमे ।

इस पत्र के इसी अंक का विशेषांक

---

# समकित ( आत्मबोध ) प्रश्नोत्तर

अर्थात्

# मोक्ष की कुंजी

भाग २

एक जिन-वाणी-भक्त सद्गृहस्थ की ओर से जैनमित्र, जैनप्रकाश आदि पत्रों के ग्राहकों को उपहारस्वरूप भेट.

प्रति २०००

सहाय्यदाता—

श्रीमान् रांकरलालजी बोहरा,

सीचन ( मारवाड़ ).

प्रकाशक—
मन्त्री
आत्मजागृति कार्यालय,
बगड़ी ( मारवाड़ )

मुद्रक—
वैदिक-यन्त्रालय,
अजमेर

लागत मात्र के मूल्य में, पुस्तकें बेची जाय।
कार्य ज्ञान प्रचार फिर, पायें न लाभ लिया जाय॥

## ख़र्चे का ब्यौरा
( १००० प्रति पर )

| | |
|---|---|
| छपाई आदि | २५।) |
| कागज़ | ३५) |
| व्यवस्था आदि | ५०) |
| कुल | ११०।) |

| लागत | मूल्य | प्रचारार्थ |
|---|---|---|
| =)। प्रति | ≡) | =)। |

( अध्ययन प्रेमियों को अमूल्य )

[illegible]

## प्रकाशित पुस्तकें

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ आत्म-जागृति भावना | पृ० | १२० | मू० ≡) |
| २ समकितस्वरूप भावना | ,, | ६० | ,, -) |
| ३ विद्यार्थी व युवक की भावना | ,, | ४० | ,, -) |
| ४ मोक्ष की कुंजी भाग १ | ,, | ४४ | ,, =) |
| ५ बालगति | ,, | ३६ | ,, [illegible] |
| ६ भाव अनुपूर्वी | ,, | ३२ | ,, -) |
| ७ मोक्ष की कुंजी भाग २ | ,, | ८८ | ,, ≡) |
| ८ आत्मबोध ( भाग १, २, ३ ) | पृष्ठ लगभग | ३०० | ,, [illegible] |
| ९ आत्मबोध ( भाग २—३ ) | पृ० | ८८ | ,, ≡) |
| १० आत्मबोध भाग ३ ( [illegible] ) | ,, | ३१ | ,, -) |

११ जैन सीरीज प्रथम भाग ( प्रेस में )
१२ विद्यार्थी सुधार ( शीघ्र छपेगा )

हमेशा स्वाध्याय एक घंटा का करने का नियम लेनेवालों को अमूल्य।

आत्मजागृति पुस्तक-माला पुष्प ७

# समकित ( आत्मबोध ) प्रश्नोत्तर

अर्थात्

# मोक्ष की कुंजी

भाग २

प्रकाशक—

आत्म-जागृति कार्य्यालय

बगड़ी ( मारवाड़ )

वाया सोजतरोड

मुद्रक—

वैदिक यन्त्रालय अजमेर.

# कृतज्ञता ज्ञापन

"समकित प्रश्नोत्तर" के इस संग्रह मे श्री आचारांग सूत्र, श्री उत्तराध्ययन सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री ठाणांग सूत्र आदि सूत्रों के अनुवाद व पुरुषार्थसिद्ध उपाय, समयसार, पंचास्तिकाय, ब्रह्मविलास, प्रवचनसार पुस्तकों से सहायता ली गई है। इसके लिए ग्रन्थ रचयिता, अनुवादक और इसके प्रचार में सहायता देने वाले सभी महानुभावों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इसमें कोई अशुद्धि हो उसके लिए क्षमा करें और प्रकाशक को सूचना करने की कृपा करे।

प्रकाशक,

श्री विमलनाथाय नमः

# सम्यक्त्व-( समदर्शन ) *

[ले०—समकित प्रेमी संशोधक उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराज]

आत्मा मे अनन्त गुण हैं। उन सब में समकित ( आत्म-दर्शन ) गुण श्रेष्ठ है. क्योंकि इस गुण के प्रकट होने पर अन्य सभी गुण विशुद्ध होते हैं। इसके प्रकट हुवे विना सब गुण मलीन रहते हैं।

दर्शन—यह जीवन की अनुभव भूमिका है। इस विषय के द्वारा रस लिया जाता है। दर्शन का सामान्य अर्थ आंख से देखना है। यहां पर सामान्य अर्थ नहीं लेना चाहिये। यहां तो इसका अर्थ अनुभव या साक्षात्कार लगाना चाहिये। दर्शन-शास्त्र साक्षात्कार का शास्त्र है। जितने अंश से अनुभव सत्य का अर्थात् शुद्ध आत्मा का होता है उतने अंश से दर्शन शुद्ध हो सक्ता है। शास्त्र में—“परमथ्थ संथवोत्रा”—परम अर्थात् प्रधान, अर्थ अर्थात् तत्व। प्रधान तत्व जो आत्मा है उसका संस्तव-अनुभव करना समकित का चिह्न बताया है।

दर्शन का फल त्याग है। जैसे गेहूं में कंकर देखकर

---

* पं० सुखलालजी का दर्शन संबन्धी लेख त्यागभूमि में का व श्रीमद् रायचन्द्रजी के पारमार्थिक वचनामृतो मे से कुछ विभाग लिया है इसलिये उक्त दोनो महानुभावों के ऋणी हैं।

शीघ्र निकाल देते हैं, मकान में विषैला प्राणी पाकर उसे शीघ्र दूर करते हैं वैसे ही जहां सत्य दर्शन (समकित) प्रकट होता है वहां सब दोष दूर करने की तीव्र रुचि होती है और यहां जीव थोड़े ही समय में पूर्ण शुद्ध (सिद्ध) होजाता है।

ज्ञानपूर्वक शान्त-रस की प्राप्ति दर्शन-शुद्धि से होती है। जो मनुष्य बंधन को यथार्थ-रूप में जानता है और उसे दूर करना ही स्वतन्त्रता (सुख) का मूल है ऐसी मान्यता रखता है तथा पुरुषार्थ के द्वारा बंधन से मुक्त होता है वह सुखी होता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति शरीरादि स्थूल बंधन और काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सूक्ष्म बंधन से बंधी हुई आत्मा का निश्चय नय (सत्य-स्वरूप विचार) सब बंधनों से भिन्न, ज्ञान-स्वरूप जानता है, अनुभव करता है, निश्चय करता है और मोक्ष मार्ग का आचरण करता है वही मुक्त हो सक्ता है। यानी मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र सभी परम आवश्यक है।

"श्रद्धा परम दुल्लहा"—श्रद्धा (सत्य-निश्चय-समकित) परम दुर्लभ है, ऐसा जो शास्त्र-वचन है वह सत्य है। कारण यह है कि अनादि काल से इस जीव को विषय (भोग), कषाय (क्रोधादि) से गाढ़ परिचय होने से यह अपने निज गुणों को भूल गया है। जैसे कोई राजपुत्र बचपन ही से भीलों के पुत्रों में रहने से अपने आपको भीलपुत्र समझता है और जब कोई सत्पुरुष उसे अपना आपा सुझाता है तब अपने राज्यकार्य को सम्पादन करने के लिए तत्पर होजाता है, ठीक यही हालत जीव की है। और इस जीव ने कभी धर्म पालन किया भी हो तो भी आत्म-धर्म की आराधना न होने

से तत्व-रुचि बहुत कम होती है। विशेषतः इस समय समकित के आराधक जीवों का जन्म प्रायः न्यून है, इसलिये आजकल यथार्थ तत्व के प्रति जीवों की रुचि ही मंद हो रही है।

अपितु—इस काल में समकित धर्म का आराधन हो सकता है परंतु यह उदय-भाव नहीं है कि जिससे आपसे आप प्रेरणा हो। भोगादि क्रिया उदय कर्म से होती है। बालक जन्म से ही दूध पीने लग जाता है, नवयुवक बिना शिक्षा दिये भी विषयों के प्रति उत्तेजित होता है। ये क्रियाएँ उदय-जनित पूर्व-संस्कार से होती हैं। आत्म-ज्ञान, तत्व-ज्ञान, समकित-धर्म क्षयोपशम जनित गुण है। जो पुरुषार्थ करे, सद्-गुरु उपदेश या सत्‌शास्त्र वाञ्चन का रहस्य समझे उसे ही परम सत्य प्राप्त हो सक्ता है। आज अनेक जीव असद्‌गुरु आदि में सत्यपने की बुद्धि करके वही रुक जाते हैं। इसका कारण सद्‌विवेक बुद्धि का कम होना है। कई बार सत्समागम होता है तो बल वीर्य आदि की इतनी शिथिलता होती है कि चिन्तामणि रत्न के सन्मुख आने पर भी उसे नही लेसकते। कई जीव शुष्क ज्ञान प्रधान है तो कई जीव शुष्क क्रिया प्रधान। जहां ज्ञान और क्रिया दोनों का योग होता है वहीं सत्य की प्राप्ति होती है।

शुष्क-ज्ञान—शास्त्र में ज्ञान और क्रिया—विचार और आचार—से सुख की प्राप्ति बताई गई है। जिस स्थान में केवल क्रिया का मोह होता है वहां ज्ञान प्रकट करने की शिक्षा देने का कहा गया है क्योंकि ज्ञान प्राप्त नही करोगे तो सब क्रिया व्यर्थ जावेगी। इन शब्दों को ग्रहण करके शुष्क-ज्ञानी जीव क्रियारहित होकर अपने आपको चारित्रहीन कर देते

हैं। वे ज्ञानी नहीं किन्तु अज्ञानी ही हैं । ज्ञान का फल ही चारित्र है। जहां शुद्ध ज्ञान है वहां शुद्ध चारित्र अवश्य होताहै।

शुष्क-क्रिया—कई जीव क्रिया तो करते हैं परंतु तत्वबोध में पिछड़े हुए रहते हैं। वे शास्त्र मे शुष्क ज्ञान को सुधारने के लिये दी हुई शिक्षा 'बिना क्रिया के ज्ञान, चंदन के भार को उठाने वाले गधे के समान है' इत्यादि वचन पढ़कर अपने आपको ज्ञानवृद्धि में आलसी कर देते हैं। वे भी सत्य को नही पहुच सक्ते। उत्तम जीवों को ज्ञान और क्रिया दोनों गुणों को धारण करके परम सत्य-शुद्ध आत्मस्वरूप, प्रकट करना चाहिये।

जो जीव शुष्क क्रिया प्रधानपने में मोक्ष मार्ग की कल्पना करते हैं उन जीवों को तथा रूप के उपदेश का पोषण भी रहता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये चार प्रकार के मोक्षमार्ग कहे गये हैं तथापि पहिले के दो पद ( ज्ञान और दर्शन ) तो उन्हें प्राय. विस्मरण से होते हैं। चारित्र शब्द का अर्थ वे वेष और बाह्य वृत्तिमात्र ही को समझते हैं। 'तप' का अर्थ केवल उपवासादि व्रत को करना, वह बाह्य संज्ञा से समझने तुल्य होता है। और कभी ज्ञान, दर्शन का कुछ कथन करना पड़े तो स्थूल विषय के विवेचन को ज्ञान, उसकी प्रतीति को दर्शन और कहनेवाले के वचन की प्रतीति में समकित समझते हैं। लकीर के फ़क़ीर बननेवाले नय, प्रमाण, तर्क, न्याय, तुलना और विवेक बुद्धि से आशय को नहीं समझने के कारण शुष्क क्रियावान् जीव है। जो जीव शुष्क आध्यात्मी अर्थात् शुष्क ज्ञानी हैं वे बाह्य क्रिया ( पाँच समिति आदि ) और शुद्ध व्यवहार ( ध्यानादि ) के उठाने (उत्थापन) मे मोक्ष मार्ग समझते है। वे जीव शास्त्रो के वचन को पूरा

नहीं समझते हैं और हृदय में विपरीत अर्थ जमा लेते हैं। शास्त्र मे क्रिया का निषेध उच्च गुण-स्थान-वर्ती जीवों के लिये कहा गया है। ( अर्थात् वे स्वाभाविकता से ही पूर्ण क्रियावान् होजाते हैं, अतः उनको कल्पातीत कहा गया है ) वह प्रमाद दशा के लिए नहीं है। वह है अप्रमत्त दशा के लिए, जब क्रिया की जरूरत ही नहीं रहती। इन भावो को यदि प्रमाद दशा मे पालन किया जावे तो क्रिया-रहित की क्या दशा हो? पक्के तैराके को अवलंबन ( सहारे ) की ज़रूरत नहीं है परंतु अल्प अनुभव वाला यदि समुद्र में कूदे तो विना साधन के प्राण नाश करता है। इसी प्रकार प्रमाद दशा में आत्मरक्षा के लिए जो अवलंबन वताए गए हैं उन्हे स्वीकार नहीं करने वाला पतित होजाता है।

व्यवहार के तीन भेद हैं। एक शुद्ध व्यवहार, दूसरा शुभ व्यवहार और तीसरा साधन व्यवहार।

जो व्यवहार शुद्धता की पूर्णता को प्रकट करता है वह श्रेष्ठ है। उसे शुद्ध व्यवहार कहते हैं। वह आदर करने योग्य है। इसका अवश्य आदर करना चाहिये, यह निश्चय रत्नत्रय है।

दूसरा शुभ व्यवहार वह है जो यथार्थ वस्तु स्वरूप के बोध और निश्चय से रहित है वहांतक पुण्य प्राप्ति का कारण है। जब शुभ में उच्च भावना प्रकट होती है तब वह शुद्ध का साधक होजाता है, यह व्यवहार रत्नत्रय है।

तीसरा व्यवहार साधन व्यवहार है। जैसे-भेष, उपकरण, बाह्य समाचारी आदि जिस देश काल मे जो हितकर हो उसका उपदेश प्रधान आचार्यादि देते हैं। यही साधन व्यवहार है। यह व्यवहार जहांतक इष्ट की सिद्धिशुद्ध और शुभ

की साधना करें, वहाँ तक हितकारी है। देश काल के पलटने पर तीसरा साधन व्यवहार पलटना पड़ता है। बालजीव साधन व्यवहार में सर्वस्व की बुद्धि कर बैठते हैं। धर्मक्रिया की विधि एक ध्येय होने से सदा एकसी रहती है किन्तु वेश उपकरण आदि सदा एक से नहीं होते। अपितु उद्देश्य-साध्य नहीं पलटता परंतु साधन पलटते रहते हैं। जैसे पहिले और अन्तिम भगवान् के काल में मुनि लोग सफेद वस्त्र ही काम में ले सकते हैं जब कि अन्य बाईस भगवान् के समय में किसी भी रंग की मनाई नहीं। इस बात से यह सिद्ध होता है कि राग, द्वेष, विषय, कषाय पर विजय करना ( साध्य ) सब प्रभुओं के काल में समान है परन्तु बाह्य साधन पलटते रहते हैं।

भिन्न २ सम्प्रदायों के आचार्यों ने उपकार बुद्धि से ऐसी कुछ नवीनताएँ की हैं। उनके परस्पर शिष्य उन साधनों में सर्वस्व की बुद्धि करके अत्याग्रह करते हैं तथा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की कल्पना इन्हीं साधनों से करते हैं। यह ज्ञान की खामी है। शास्त्रकारों ने साधन में ममत्व न करने की व शुभ में ही शुद्ध की बुद्धि न करने की शिक्षा देते हुवे इन दोषों को छुड़ाने की और शुद्ध व्यवहार काम में लाने के लिये फरमाया है कि मेरु पर्वत के तुल्य धर्मोपकरण व्यवहार में आये तो भी कुछ नहीं हुआ। इस वचन को ग्रहण करके शुष्कज्ञानी क्रिया का उच्छेद करते हैं। यह उचित नहीं है। इसी प्रकार क्रिया में रुचि रखनेवालों का केवल साधनों में आग्रह और आदर करना अनुचित है। दोनों ही दृष्टि वाले वस्तु स्वरूप को बराबर समझकर यथार्थ विचार (ज्ञान) और आचार (क्रिया) वाले बनें तो सत्य ( समकित ) प्रकट हो सकता है।

( वर्णीनिमित्तम )

# समकित (आत्मबोध) प्रश्नोत्तर

## अर्थात्

# मोक्ष की कुञ्जी

## भाग २

## विषयानुक्रम

विषयों के नाम प्रश्न—पृष्ठ

विषयों के नाम प्रश्न—पृष्ठ

विषयों के नाम — प्रश्न—पृष्ठ



## काव्य विभाग

विषयों के नाम | प्रश्न—पृष्ठ

# संग्रहकर्त्ता के दो बोल

श्री समकित ( आत्मबोध ) प्रश्नोत्तर अर्थात् मोक्ष की कुंजी भाग पहिला तय्यार करने में प्रधान सहाय्य 'श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' ज्ञानार्णव और समयसार छन्द की लीगई है। और भाग दूसरा तय्यार करने मे 'श्री आचारांग सूत्र' 'दर्शन पाहुड़', 'समयसार छन्द' 'ब्रह्मविलास' व 'प्रकीर्ण लेख' आदि की प्रधान सहाय्य ली है। और गौण सहाय्य तो अनेक शास्त्र व ग्रन्थों की है। मैं उन सब के मूलकर्ता, अर्थकर्ता, व प्रकाशको का पूर्ण आभारी हूं। और इन छोटीसी पुस्तकों में जो कोई उत्तमता हो वह सुयश इन्हीं उपकारको को देता हूं। अपूर्णता संग्रहकर्ता की अल्पज्ञता का कारण है। उसके लिये पश्चात्ताप व मिथ्या दुष्कृत लेता हूं। और पूर्णता प्रकट होने की भावना करता हूं।

यह पुस्तक जैन व जैनेतर सब को उपयोगी होवेगी ऐसी पूर्ण आशा है। कारण इस में केवल सत्य के प्रति दृष्टि रक्खी गई है। पक्षपात छोड़कर माध्यस्थ दृष्टि से मन्द प्रयत्न किया है। तथापि सदोषता हो वह प्रकाशक को सूचित करें। संग्रहकर्ता की मातृभाषा गुजराती है इसलिये भाषा की त्रुटि के प्रति दृष्टि नहीं देते, कृपया भावो प्रति दृष्टि देने की नम्र प्रार्थना है।

सर्व सज्जनो को यह पुस्तक हमेशां स्वाध्याय में ( नित्य-नियम में, प्रार्थना में ) रखने योग्य है। ऐसा इसको पढ़कर आत्मार्थी महात्माओं ने फरमाया है, विषयानुक्रमणिका ही सारी पुस्तक का साररूप है उसे हमेशा अवश्य वांचन मनन करें।

संग्रहकर्ता—

समकित प्रेमी,

# निवेदन

जहां सूर्य है वहां प्रकाश है, जहां साहित्य है वहां अज्ञानान्धकार का नाश है। आज संसार में जो काम हवाई-जहाजें, मशीन्गनें, कलें और कारखाने नहीं करते वह छापेखाने में छपे हुए कागज़ के टुकड़े कर सकते हैं। सब चीज़ों का सदुपयोग और दुरुपयोग है। यह नियम साहित्य पर भी लागू है। अगर साहित्य सात्त्विक है तो लोगों के विचारों में आदर्श परिवर्तन ला सकता है। अगर विकारी है तो जनता को पतन के गहरे खड्डे में गिरा सकता है। कार्यालय ने भी निश्चय किया है कि देश में सात्विक साहित्य का खूब प्रचार हो और लोकोपयोगी एवं तात्विक साहित्य कम कीमत में जनता के हाथ में पहुंचे। निश्चय ही नहीं किया है, कार्यारम्भ भी कर दिया है। देखिये कार्यालय की प्रकाशित पुस्तकें —

( १ ) समकित प्रश्नोत्तर भाग १—२ पृष्ठसंख्या लगभग १५० मूल्य ।)

अलग अलग भाग मूल्य दो दो आना।

( २ ) आत्मजागृति भावना पृष्ठ लगभग १०० मूल्य =)
( ३ ) समकितस्वरूप भावना ,, ,, ४० ,, -)
( ४ ) विद्यार्थी व युवक की भावना ,, ४० , -)
( ५ ) बालगीत ,, १६ ,, )॥
( ६ ) भाव अनुपूर्वी ,, ३२ ,, -)

आत्मबोध, काव्यविलास प्रेस में हैं, शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

आशा है भावुक सज्जन इन पुस्तकों को क्रय करके तथा इनकी प्रभावना करके लाभ उठावेंगे।

वीतरागाय नम:

# समकित ( आत्म-बोध ) प्रश्नोत्तर

अर्थात्

# मोक्ष की कुंजी

---

## भाग २

### दोहा

परम निरञ्जन परम गुरु, परम पुरुष परधान ।
वन्दूँ परम समाधिगत, भयभंजन भगवान ॥
जिनवाणी परमाण कर, सुगुरु सीख मन आन ।
कछु सम्यक्त्व स्वरूप को, निर्णय कहौं वखान ॥
मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

अर्थ—मोक्षमार्ग के बताने वाले, कर्म-दल रूपी पहाड़ों को शुद्ध ध्यान रूपी वज्र से चूर्ण करने वाले, जगत् के सकल

तत्वों को यथार्थ पूर्णरूप से जानने वाले महापुरुष को वैसे ही गुण प्रकट करने के लिये वंदन करता हूँ।

पूर्व के प्रथम भाग में समकित ( आत्म-बोध ) सम्बन्धी ८३ प्रश्नोत्तर का संग्रह किया गया है। बाकी प्रश्नों का इस दूसरे भाग में संग्रह कर रहे हैं।

**( ८४ ) प्रश्न—भगवान ने पहिले क्या उपदेश दिया कि जिस वाणी से चार तीर्थ की स्थापना हुई ? ऐसा एक गुण कौनसा प्रकट करना कि संसार-भ्रमण मिट जावे ?**

उत्तर—आत्म-पदार्थ-विचार। मैं कौन हूँ ? मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ? मैं कहां से आया हूँ ? कहां जाऊंगा ? ये सब वस्तु और लोग दीखते हैं सो कौन है ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और मैं क्या कर रहा हूँ, इत्यादि स्वभाव विभाव आदि का विचार करना पहिला उपदेश है। इसी विचार से मनुष्य आत्म-वादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है। ऐसे पुरुषों को चार तीर्थों में प्रवेश की छाप—पात्रता—मिलती है।

इस प्रकार के विचार से हीन आत्मा का कोई

अभ्युदय नहीं हो सकता । वह अपने जीवन को प्रगतिवान नहीं बना सकता । ऐसा मुनि या मनुष्य मनुष्य-स्वरूप होकर भी पशु ही की कोटि में गिना जाता है । पशु के जीवन में और ऐसे सम्यक्-ज्ञान-हीन मनुष्य के जीवन में कोई अन्तर नहीं होता; ऐसा आचार्य महाराज ने कहा है ।

( ८५ ) प्रश्न—आत्मा का उद्धार कौनसा पुरुष कर सकता है ?

उत्तर—जो शुद्ध श्रद्धान समकित की खोज करने वाला है या आत्मा के शुद्ध स्वरूप का जिज्ञासु है, अपने आंतरिक गमनागमन भावों का विचार करता है, आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए भगीरथ प्रयत्न करता है वही अपना उद्धार कर सकता है, यह बात निःसन्देह सच्ची जानो । ऐसे ही विचारवान् मनुष्य को सत्य मोक्षमार्ग मिल सकता है और उसके द्वारा वह इच्छित स्थान को प्राप्त कर सकता है । वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध बन सकता है । निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऐसे आत्मिक विचार करने वाले पुरुष को ही आत्मार्थी-आत्मज्ञ कहते हैं ।

( ८६ ) प्रश्न—चार-वाद का क्रम किस अपेक्षा से निश्चत किया गया है ?

उत्तर—प्रथम आत्मवादी है। कारण आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ तत्व है और वह स्वयं होने से उसका जानना परम आवश्यक है। यदि आत्मा हो तो अन्य तीनों वाद की सफलता है। यदि आत्मा ही नहीं है तो अन्य पदार्थ निष्फल होते हैं। आत्मा को मानने वाला आस्तिक है। जो जीव को ही नहीं मानते उन्हें नास्तिक कहते हैं। वे पुण्य, पाप, क्रिया, कर्म कुछ नहीं मानते हैं। मूल मानने पर शाखा, डाली, पत्ते, फूल, फल सब माने जा सकते हैं। इसलिए पहिले आत्मा को जानना जरूरी है।

दूसरा लोकवाद है, कारण निर्ग्रंथ मत से जो आत्मा ( आत्मवादी ) अपने स्वरूप को जान सकते हैं वेही लोक-वादी अर्थात् जगद् के सत्य स्वरूप को जानने वाले होते हैं क्योंकि जो अपने आन्तरिक स्वरूप को नहीं जान सकता वह बाह्य स्वरूप को भी यथार्थ नहीं जान सकता। यह अन्तर बाह्य ज्ञान परस्पर सापेक्ष है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब को जानलिया।

" जे एगं जाणई। ते सव्वं जाणई। "

इस प्रकार सम्यक् ज्ञानवान् ही लोकवादी होता है। वही कर्मवादी होता है अर्थात् कर्मों का—जगत् के कारण कार्य-भाव का ज्ञाता हो सकता है। इसी तरह कर्म—वादी बन कर फिर क्रिया—वादी अर्थात् सम्यक् और असम्यक् प्रवृत्ति ( कर्तव्याकर्तव्य ) का स्वरूप और रहस्य समझने वाला बन सकता है। क्रिया—वादी आत्मा आत्महित प्रवृत्ति का आचरण कर अंत में कर्म से मुक्त होकर अमर-त्व प्राप्त कर सकता है। प्रभु महावीर उपदिष्ट मोक्षमार्ग का यही यथार्थ क्रम है।

( ८७ ) प्रश्न—श्री आचारंग सूत्र का पहिला अध्ययन "शस्त्र परिज्ञा" नाम का है। और उसका पहिला उद्देश "आत्मतत्त्व विचार" नाम का है। उसमें कहा गया है कि "मैं कौन हूं? कहां से आया? मेरा क्या स्वरूप है?" जो इनको समझे उसे आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी कहते हैं और चारवाद के ज्ञाता ही समकित प्राप्त कर सकते हैं। तो चारवाद का क्या स्वरूप है?

उत्तर—चारवाद का स्वरूप, १ आत्मवाद। वाद यानि स्वरूप—कथन करना। आत्मा के यथार्थ स्वरूप के कथन करने को वाद कहते है। द्रव्य, गुण, पर्याय,

व्यवहार, निश्चय, नय, प्रमाण द्वारा आत्मा के सामान्य और विशेष धर्मों का यथार्थ स्वरूप जानकर आत्मा के निश्चय करने वाले को आत्मवादी कहते हैं।

२ लोकवादी—द्रव्यलोक, षट्द्रव्य, क्षेत्रलोक, चौदराजु-लोक, काल, लोक, अगुरु लघु पर्याय जो हर समय कम ज्यादा होवे; भावलोक, गुणपर्याय, अपनी आत्मा के गुण; अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत अतीन्द्रिय निराकुल आत्मिक सुख और अनंत आत्मवीर्य है। इन गुणों का शुद्ध परिणमन शुद्ध पर्याय है और इन गुणों को मलीन कर के परिणमन होना अशुद्ध पर्याय है, जैसे—मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, इन्द्रियजन्य सुख दुःख, बालवीर्य ( कुपुरुषार्थ ) । अशुद्धपर्याय अशुद्ध लोक है। शुद्धपर्याय शुद्ध लोक है।

दोहा—यह जग वासी यह जगत्, या में तोहिन काज।
तेरे घट में जो बसे, ता में तेरो राज ॥

३ कर्मवाद। कर्म का स्वरूप—द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नौ कर्म के स्वरूप को जानना। द्रव्यकर्म-आठ कर्मों का समूह जो आत्म प्रदेश को चिपका हुआ है। भावकर्म-वह जिसके द्वारा आठ कर्मों की वर्गणाएँ बँधती हैं सो राग द्वेष मोह के परिणाम हैं।

नौ कर्म—कर्म के फल, शरीर, इन्द्रियें, इन्द्रियां के भोग, खान पान, वस्त्र, पात्र, उपाधि, धन, वैभव, स्त्री, पुत्र, परिवार ( चेला, चेली, भक्त लोग ) निंदा, स्तुति, दुःख और सुख के संयोगमात्र नौ कर्म हैं।

जो कर्म का स्वरूप पूरा समझ कर कर्मों से मुक्त होना ही अपना शुद्ध धर्म माने वह कर्मवादी है।

४ क्रियावादी—कर्मों का बंधन अशुद्ध क्रिया से होता है और कर्मों की मुक्ति—कर्मों का क्षय—शुद्ध क्रिया से; ऐसा क्रिया का विस्तार-पूर्वक ज्ञान बराबर करना। क्रिया अर्थात् पुरुषार्थ—वीर्य। जहां तक कुपुरुषार्थ है आत्म-धर्म छोड़ कर परद्रव्य में शुभ या अशुभ पुरुषार्थ करने से शुभ और अशुभ बंधन होते हैं जिन्हें पुण्यप्रकृति तथा पापप्रकृति कहते हैं। परद्रव्य का त्याग कर स्वद्रव्य में स्थिर होना सुपुरुषार्थ। पंडितवीर्य ( उत्तम पुरुषार्थ ) शुद्ध क्रिया है। वह निर्जरा का प्रधान कारण है। क्रिया-कर्मबंधन २७ प्रकार से होता है॥ वर्तमान, भूत और भविष्य काल की अपेक्षा से मन, वचन, काया से करना, कराना, अनुमोदन करना, इस प्रकार क्रिया के स्वरूप का ज्ञाता होता है।

जो आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानता है वह लोक

के भी स्वरूप को जान सकता है अन्यथा स्वलोक परलोक के ज्ञान के अभाव से परलोक में स्वपना मान बैठता है, इसलिये आत्मस्वरूप का ज्ञाता ही परलोक का ज्ञाता कहा गया है। छः काया के लोक को भी षट्काय लोक कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय से चतुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिये इसे भी कषाय लोक कहते हैं। इसलिये परलोक (कषायादि) छोड़ना चाहिये। जो लोक के स्वरूप का ज्ञाता है वही ऐसा समझता है कि आत्मलोक में भटकता है उसका मूल कारण कर्म है। ऐसा जान कर कर्मवादी बन सकता है। और कर्मों का बंधन अशुद्ध क्रिया से होता है। यह बोध कर्मवादी को ही होता है। इसलिये कर्मवादी ही क्रियावादी हो सकता है, ऐसा कहा गया है। कर्म का बंधन–मोक्ष का आधार क्रिया पर है। इसलिये अंत में क्रिया-वाद लिया गया है।

"जो एगं जाणई, सो सव्वं जाणई।
जो सव्वं जाणई, सो एगं जाणई" ॥

जो एक आत्मस्वरूप को जानता है वह सब को जानता है और जो सबको यथार्थ जानता है, निज आत्म-द्रव्य से सकल परद्रव्यों को भिन्न जानता है वही आत्म

स्वरूप को जानता है, इसलिये आत्म-स्वरूप का ज्ञान करना परम आवश्यक है और श्री आचारांग में आदि-वचन में आत्म-पदार्थ विचार, आत्मस्वरूप का कथन इसी लिये फरमाया गया है।

महावीर परमात्मा ने बारह अंग—द्वादशांगी की प्ररूपणा की है। उसमें पहिला श्री आचारांग है। उसमें आदि वचन 'आत्मस्वरूप को पहिचानो' ऐसा उपदेश दिया गया है, इसी से सिद्ध होता है कि द्वादशांगी का सार 'एक आत्म-स्वरूप' का यथार्थ बोध है। सब ज्ञान आत्मा की मोक्ष के लिये है। मोक्ष आत्मा की सत्य स्थिति जानने से हो सकती है। यदि आत्मा को न जाने तो मोक्ष किसकी करे? इसलिये यह बात पूर्वाचार्य महाराज स्पष्ट फरमाते हैं कि द्वादशांगी का ज्ञान दीपक है। उसके ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप रूपी रत्न का शोधन करना है। आत्मरत्न प्राप्त होने पर सब ज्ञान कृतार्थ होता है।

द्वादशांगी श्रुति सिंधु, मथन करि रतन निकास्यौं।
स्वपर-भेद विज्ञान, शुद्ध चारित्र प्रकास्यौं॥

## जिनवाणी महिमा सवैया २३ सा।

राग विरोध कुदेव प्रतीति
विनाश सदा सब लोक प्रमानी,

अर्थ अनेक अभिधेय है एक
चहुं गति, वारण मोख निशानी,
आतम रूप अनूप की प्रापति
कारण रूप जिनेश वखानी,
यातैं नमैं औ वखान करैं मुनि,
सो समयातम श्री जिन-वानी ।

भावार्थ—राग, द्वेष और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म मे प्रतीति रूप दर्शन-मोह का सर्वथा विनाश करने वाली जिनवाणी है । इसका विस्तार बहुत है । इसमें अनेक विषय का स्वरूप है परन्तु कहने की मुख्य बात एक है । वह आत्म-स्वरूप जो अनुपम है उसकी प्राप्ति करना ही है । यह जिनवाणी चार गति के भ्रमण को रोक कर मोक्ष को प्राप्त कराने वाली है । आत्मस्वरूप की प्राप्ति का कारण ( साधन ) जिनवाणी है । जैसे दीपक साधन और मणि रत्न शोधना वह साध्य-लक्ष्य है । इसी प्रकार सकल शास्त्र साधन है और आत्म स्वरूप साध्य है इसलिये मुनि ( आत्म-कल्याणेच्छु ) इस जिनवाणी को नमस्कार करते है । ऐसी स्वपर समय को कथन करने वाली जिनवाणी है ।

चारवाद का ज्ञान सीखने की शिक्षा देते हुए आचार्य महाराज समकित छप्पनी में इस प्रकार फरमाते हैं ।

आज जा खास गच्छ, सम्प्रदाय या गुरुविशेष की समकित मानी जाती है वह शास्त्र देखते न्याय-सम्पन्न नहीं दीखती। किसी सम्प्रदाय या किसी गुरु ही की समकित नहीं हो सकती इसी कारण आज अन्दर अन्दर धर्मकलह होते हैं। उन्हें छोड़कर तत्त्वबोध करना चाहिये।

( ६० ) प्रश्न—आज इतनी गच्छ, सम्प्रदाय, फिरके क्यों होगये ?

अनुभव नहीं हुआ है वह मोक्ष की अपेक्षा रहित है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का कारण नहीं है, द्रव्य समकित या व्यवहार समकित है और जिस समकित से आत्मदर्शन-आत्मानुभव होता है वह समकित मोक्षप्राप्ति का कारणभूत है शुद्ध निश्चय समकित है।

( ८६ ) प्रश्न—समकित कोई खास गच्छ, सम्प्रदाय, मन्दिर, स्थानक, मठ या गुरु की होती है या अन्य?

उत्तर—समकित आत्मा का गुण है। समकित की व्याख्या करते सकल शास्त्रकारों ने यथार्थ तत्व श्रद्धा को समकित कहा है।

गाथा—तहियाणंतु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियम्॥ (उ०२८)

अर्थ—तथ्य (यथार्थ) स्वरूप जो तत्व हैं उनके स्वरूप को भावपूर्वक निश्चय करने को समकित कहते हैं वह स्वभाव से अथवा उपदेश से प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार समकित की प्राप्ति के दो कारण एक स्वक्षयोपशम (स्वाभाविक योग्यता) विशेष और दूसरा उपदेश है।

आज जा खास गच्छ, सम्प्रदाय या गुरुविशेष की समकित मानी जाती है वह शास्त्र देखते न्याय-सम्पन्न नहीं दीखती। किसी सम्प्रदाय या किसी गुरु ही की समकित नहीं हो सकती इसी कारण आज अन्दर अन्दर धर्मकलह होते हैं। उन्हें छोड़कर तत्वबोध करना चाहिये।

( ९० ) प्रश्न—आज इतनी गच्छ, सम्प्रदाय, फिरके क्यों होगये ?

उत्तर—प्रायः तत्व का अभ्यास छूट गया। स्याद्वाद अर्थात् व्यवहार, निश्चय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अभ्यास न होने से किसी खास देश, काल, संयोगवश थोड़ा क्रिया-भेद हुआ कि उस में आग्रह करके मतभेद कर दिये। फिर परस्पर में द्वेषवृद्धि हुई। पुनः यदि तत्व के अभ्यास की वृद्धि की जावे और व्यवहार निश्चय दोनों ठीक तरह समझे जावें तो सब सम्प्रदाय, गच्छ, मत मतांतरों के भेद दूर होकर परस्पर माध्यस्थ भाव-समभाव का अमृतरस बरसने लगजाय। फिर भी यदि कारणवश कुछ भेद रहें तो वे प्रमोद रूप-गुणानुराग रूप ही रह सकते हैं, द्वेष रूप नहीं।

पूर्व में प्रभु महावीर के ११ गणधर थे। उनके ९ गच्छ में शिष्य समूह अलग अलग बाँटेगये। यह प्रमोद-भेद

था। आज अपने भेद प्रायः द्वेषमय हो रहे हैं। उनका सुधार तत्त्व ( स्याद्वाद के यथार्थ ज्ञान ) प्रचार के द्वारा हो सकता है।

( ६१ ) प्रश्न—शुद्ध समकित धारी को कम से कम कितना ज्ञान होना चाहिये ?

उत्तर—छः द्रव्य, नव तत्व, का नय प्रमाण से हेय ( छोड़ने योग्य ) उपादेय ( आदर करने योग्य ) रूप में यथार्थ ज्ञान होना चाहिये।

( ६२ प्रश्न—गंठी भेदे विना समकित नहीं होता तो गंठी किसकी है और किस ठिकाने में, किस कर्म में और कितनी दूर रहती हैं ? गंठी किस कर्म की है और किस उपाय से गंठी भेद होता है ?

उत्तर—गंठी-मिथ्यात्व कर्म के तीव्र बंधन को कहते हैं। यह मिथ्यात्व मोहिनी की उत्कृष्ट ७० ( सत्तर ) करोड़ा करोड़ सागर की स्थिति है और ६९ ( उन्हत्तर ) करोड़ा करोड़ से जब कुछ अधिक कर्म क्षय हो जावे और कुछ कम ( देश उण ) एक करोड़ा करोड़ सागर की स्थिति बाकी रह जावे यहां गंठी है। और यथाप्रवृत्ति करण वाला भवी तक भी यहां तक आसकता है परन्तु

यथाप्रवृत्ति करण ( अनित्य और अशरण भावना ) से गंठी का भेद नहीं कर सकता परन्तु अपूर्व करण अर्थात् आत्मभावना से गंठी का नाश हो सकता है और अनिवृत्ति करण ( शुद्धोपयोग में स्थिरता ) में समकित की प्राप्ति होती है।

आयुष्य कर्म छोड़कर बाकी के सातों कर्मों की स्थिति देश उण एक करोड़ा करोड़ सागरोपम रहती है, तब यथाप्रवृत्ति करण प्रकट होता है। यहां पर अनित्य, अशरण भावना से त्याग वैराग्य होता है परन्तु आत्मा के अतीन्द्रिय निराकुल शुद्ध सुख की श्रद्धा, निश्चय तथा अनुभव नहीं होने से जन्म मरण नहीं छूटता है। अब जो कोई उत्तम जीव हो वह अपने परिणाम की शुद्धि उत्तम भावना से करे। उनमें मुख्य भेदभावना, एकत्व भावना और आत्मभावना का वारंवार चिंतवन करे। इस से अपूर्व करण की प्राप्ति होती है। अपूर्व करण अर्थात् पूर्व में नहीं आये हों ऐसे शुद्ध परिणाम

गंठी अर्था          की अनादि विपरीत बुद्धि, पर-वस्तु ( शरीरभोगादि ) को स्व ( अपनी ) मानना। विभावपर्याय ( जीव की अशुद्ध अवस्था-४ गतिस्वरूप ) में स्वामीपना रखना ही विपरीत बुद्धि है। इसे मिथ्यात्व

रूपी गांठ कहते हैं इसका नाश अपूर्व करण (आत्मस्वरूप के विचार) से करना चाहिये। इन परिणामों की जब विशेष शुद्धि होती है तब अनिवृत्तिकरण प्रकट होता है। इसके द्वारा निश्चय समकित प्राप्त होता है। यही कार्य है। समकित होने से निश्चय ही शीघ्र मोक्ष होती है। जैसे पानी का घड़ा रस्सी सहित गहरे कूए में गिर जाय और रस्सी जब तक हाथ में नहीं आवे तब तक बहुत काल तक पानी नहीं मिल सकता और रस्सी हाथ में आजाने से घड़ा और जल सभी शीघ्र ही मिल सकते हैं वैसे ही एक समकित गुण प्रकट होने से निश्चय ही सब गुण प्रकट होते हैं। मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी समकित प्रकट होने से सम्यग ज्ञान और सम्यक् चारित्र

रूपी गांठ कहते हैं इसका नाश अपूर्व करण (आत्मस्वरूप के विचार ) से करना चाहिये । इन परिणामों की जब विशेष शुद्धि होती है तब अनिवृत्तिकरण प्रकट होता है । इसके द्वारा निश्चय समकित प्राप्त होता है ! यही कार्य है । समकित होने से निश्चय ही शीघ्र मोक्ष होती है। जैसे पानी का घड़ा रस्सी सहित गहरे कूए में गिर जाय और रस्सी जब तक हाथ में नहीं आवे तब तक बहुत काल तक पानी नहीं मिल सकता और रस्सी हाथ में आजाने से घड़ा और जल सभी शीघ्र ही मिल सकते हैं वैसे ही एक समकित गुण प्रकट होने से निश्चय ही सब गुण प्रकट होते हैं । मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी समकित प्रकट होने से सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो जाते हैं । आत्मा के सभी दूषित गुणों को शुद्ध करने वाला एक समकित गुण है । जैसे सूर्य के उदय होने से मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, फूल सब प्रकाश पाते हैं, सब अंधकार, भय नष्ट होजाता है वैसे ही समकित गुण प्रकट होने से सब दोष दुर होजाते हैं । जैसे जीव विना का शरीर "अंधा आगल आरसी, बहरा आगल गायणो" और विना अंक की बिन्दी व्यर्थ होती है वैसे ही विना समकित के सारी क्रियाएँ व्यर्थ हैं । आत्मार्थियों को एक समकित प्राप्ति का उत्कृष्ट पुरुषार्थ करना अपना परम कर्तव्य सम-

भना चाहिये। समकित विना की उत्तम क्रियाओं से पुण्य प्राप्त हो सकता है परन्तु मोक्ष प्राप्त न हो सकने के कारण सर्व क्रियाएँ समकित विना व्यर्थ बताई ग हैं, कारण मोक्ष ही सर्वोत्कृष्ट ध्येय है।

( ९३ ) प्रश्न—समकित के आठ अंग प्रकट किए विना समकित हो सकता है कि नहीं ?

उत्तर—अनेक अंगों के समुदाय से ही वस्तु पूर्ण बनती है। जैसे हाथ, पैर, शिर, छाती आदि अंगों से शरीर बनता है वैसे ही आठ अंगों के गुणों के समूह से समकित बनता है। अंग में जितने अंशों में न्यूनता होती है उतने ही अंशों में उसे हीनांग या विकलांग कहते हैं। अंग का थोडा भी दोष ठीक नहीं है। ज्यादा कमी होना तो बड़ी खामी है।

( ९४ ) प्रश्न—समकित के कितने अंग होते हैं ?

उत्तर—समकित दो प्रकार के होते हैं। एक व्यवहार समकित दूसरा निश्चय समकित। दोनों के आठ आठ अंग हैं।

( ९५ ) प्रश्न—व्यवहार समकित के आठ अंगों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—व्यवहार समकित के आठ अंगः—

( १ ) निःशंकिय—जिन वचन में शंका नहीं करना; भय का प्रसंग आने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्न-त्रय से नहीं डिगना।

( २ ) निक्कंखिय—कुज्ञान, कुदर्शन, विषय, कषाय की वांछा नहीं करना। परमत की वांछा नहीं करना।

( ३ ) निर्वितिगिच्छा—प्रतिकूल शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्शादि दुःख के निमित्त मिलने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र में ग्लानि नहीं करना। धर्मकार्य में खेद नहीं करना। स्वगुरुता, परलघुता नहीं करना। तत्त्व की अरुचि नहीं करना। किसी की निंदा नहीं करना।

( ४ ) अमूढ़ दिट्ठी—हरेक प्रवृत्ति तथा देव, गुरु, धर्म-शास्त्र में मूढ़ता ( अज्ञान ) न रखना। यथार्थ ज्ञान करके प्रवृत्ति करना।

( ५ ) उववूह—ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणों की वृद्धि करना उपबृंहन है। किसी स्थान में इसका नाम उप-गूहन भी कहा है। उपगूह अर्थात् ढांकना। अपने गुण और दूसरों के दोषों को प्रकट नहीं करना।

( ६ ) थिरीकरण—स्वपर को ज्ञान, दर्शन, चारित्र में स्थिर करना। उत्तम कार्यों को दृढ़ करना।

( ७ ) वच्छलता—विशेष गुणी के प्रति अतिशय पूज्य भाव, समान गुणी के प्रति गाढ़ मैत्री, अल्पगुणी के प्रति अतिशय हितबुद्धि रख कर सर्व सम्पत्ति सेवा में अर्पण करने को सदा तैयार रहना जैसे गौ अपने बछड़े की रक्षा के लिए सिंह तक का भी सामना करलेती है।

( ८ ) प्रभावना—स्व तथा पर में ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण प्रकट करना प्रभावना है।

व्यवहार समकित के आठ अंग प्रकट करने से बहुत पुण्य की प्राप्ति तथा कुछ निर्जरा होती है और यदि इस में भेद भावना व आत्मविचार का अभ्यास बढ़ाया जावे तो निश्चय समकित प्रकट हो सकता है।

( ६६ ) प्रश्न—निश्चय समकित के आठ अंगों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—निश्चय समकित के आठ अंग।

( १ ) निःशंकिय—समदृष्टि अपने ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र में निशंक हो, अभय हो, कभी किसी निमित्त से

नहीं डिगे। आत्मा के गुणों का स्वानुभव होने से कभी आत्मस्वरूप से चलित न होवे।

२—निकंखिय—जो कर्म के फल की वांछा न करे और न अन्य वस्तु के धर्मों की ही वांछा करे, कारण वह अपने आत्म-ध्यान में लीन है, उसे दूसरी इच्छा वांछा होती नही।

३—निव्वितिगिच्छा—जो सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि नहीं करता। कर्म उदय में खेद नहीं करता, सदा समभाव में रहता।

४—अमूढ दिट्ठी—जो स्व तथा परद्रव्य के यथार्थ स्वरूप को जानने में मूढ न हो।

५—उववूह—आत्मा को शुद्ध स्वरूप में लगावे, आत्मा की शक्ति बढ़ावे, अन्य द्रव्यों के सब धर्मों को गोपने वाला हो ( गौण करे )

६—थिरीकरण—आतमा को स्वरूप से डिगते हुए को स्थिर करे।

७—वच्छलता—जो अपने स्वरूप में विशेष अनुराग रक्खे, ज्ञान, दर्शन व चारित्र को अभेद बुद्धि कर

देखता है जिससे ज्ञानादि की हानि में स्व की भाव-हिंसा जानता है, जिससे उसकी रक्षा में पूर्ण वात्सल्य भावयुक्त है ।

८—प्रभावना—प्र=विशेष प्रकार से। भव=उत्पन्न होना। ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि निज गुणों का प्रकट करना प्रभावना है ।

समकित के आठ गुणों के अभाव से समकित का अभाव और बहुत कर्मों का बंधन होता है तथा इहलोक परलोक में निरंतर दुःख भोगने पड़ते हैं। निश्चय समकित के आठ अंग प्रकट होने पर शीघ्र मोक्ष होती है, इसलिए इनको प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना परम हितकारी है ।

( ९७ ) प्रश्न—समकित भ्रष्ट सो मूल भ्रष्ट है कि उत्तर भ्रष्ट है ?

उत्तर—समकित भ्रष्ट सो मूल भ्रष्ट है ।

( ९८ ) प्रश्न—समकित मूल मोक्षमार्ग है कि उत्तर ?

उत्तर—मूल मोक्षमार्ग है ।

( ९९ ) प्रश्न—क्या कल्याणकारी ( हितकारी ) है और क्या अकल्याणकारी (अहितकारी) है इसका निर्णय कराने वाला कौन है ?

उत्तर—समकित।

( १०० ) प्रश्न—समकित का वैरी कौन है?

उत्तर—मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत बुद्धि।

( १०१ ) प्रश्न-ज्ञान का वैरी कौन है?

उत्तर—अज्ञान अर्थात् तत्व का अबोध।

( १०२ ) प्रश्न—चारित्र का वैरी कौन है?

उत्तर—कषाय अर्थात् रागद्वेष।

( १०३ ) प्रश्न—शास्त्र में चार अनुयोग कहे गए हैं। उन में निश्चय अनुयोग कितने हैं और व्यवहार कितने हैं?

उत्तर—निश्चय में एक द्रव्यानुयोग और व्यवहार में तीन अनुयोग ( १ ) प्रथमानुयोग ( धर्मकथानुयोग ) ( २ ) करण चरणानुयोग ( क्रिया चारित्र की विधि ) और ( ३ ) गणितानुयोग हैं।

( १०४ ) प्रश्न—मोक्ष का उपादान किसको कहते हैं और मोक्ष का उपादान कारण किसको कहते हैं?

उत्तर—मोक्ष का उपादान जीवमात्र को है, कारण भव्य अभव्य जीव की सत्ता में केवल ज्ञान और

केवल दर्शन आदि अनन्त गुण भरे हैं। और उपादान कारण पुरुषार्थ द्वारा भव्य को ही प्राप्त होता है। कारक चक्र पलटे अर्थात् जो संसार-रुचि थी उसे पलट कर-आत्म सन्मुख तीव्र रुचि होने से कारक चक्र पलटता है। इसकी सिद्धि के लिए भगवान् ने फरमाया है कि, "उठाण कम्मबल वीर्य पुरुषाकार पराक्रम" ही मोक्ष-मार्ग है।

( १०५ ) प्रश्न—आत्मस्वरूप का ज्ञान पढ़ना, बोलना, लिखना सो किस कर्म का क्षयोपशम है?

उत्तर—ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है।

( १०६ ) प्रश्न—आत्मस्वरूप का अनुभव करना किस कर्म का क्षयोपशम है?

उत्तर—दर्शन-मोहनीय का क्षयोपशम है। दर्शन मोहनीय के अभाव में आत्मस्वरूप का अनुभव होता है।

( १०७ ) प्रश्न— समकित श्रद्धा, प्रतीति और रुचि किसको कहते हैं?

उत्तर—तत्वार्थ के सन्मुख होना श्रद्धा है। आत्म-स्वरूप का यथार्थ निश्चय करना प्रतीति है और आत्म-दर्शन अर्थात् आत्म अनुभव करना रुचि है।

( १०८ ) प्रश्न—रागद्वेष रूप विष वृक्षों का बीज, सकल दुःख दावानल का मुख्य कारण तथा समस्त दोषों की सेना का राजा कौन है ?

उत्तर—मिथ्यात्व अर्थात् दर्शन-मोह ।

( १०९ ) प्रश्न—मोह रूपी अग्नि तीन लोक में फैल रही है वह कौन से जल से शान्त होती है ?

उत्तर—भेद भावना अर्थात् समकित भावना से शांत होती है ।

( ११० ) प्रश्न—ज्ञानी और अज्ञानी कैसे जाने जाते हैं ?

उत्तर—पर-द्रव्य में रागद्वेष करे वह अज्ञानी है । पर द्रव्य को भिन्न जान कर रागद्वेष घटावे तथा समभाव मे रहे वह ज्ञानी है। ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने फरमाया है ?

१११ ) प्रश्न—आत्मा को प्रथम क्या छोड़ना चाहिये ?

उत्तर—पाँच मिथ्यात्व के स्वरूप को जान कर छोड़ना ।

इसका विशेष स्वरूप समकित भावना या आत्म-जागृति भावना से देखलेना ]

( ११२ ) प्रश्न—समकित शुद्ध काहे से होता है ?

उत्तर—निरंतर तत्व अभ्यास से ।

( ११३ ) प्रश्न—समकित रूपी है कि अरूपी ?

उत्तर—समकित अरूपी है, कारण यह जीव का गुण है । जीव अरूपी है, इसलिए उसका गुण भी अरूपी होता है ।

( ११४ ) प्रश्न—समकित इन्द्रिय-सुख का आनंद देने वाला है कि अतीन्द्रिय ( इन्द्रिय-रहित आत्मिक ) आनन्द का देने वाला है ।

उत्तर—समकित अतीन्द्रिय-आत्मिक आनन्द का देने वाला है। इन्द्रियों का आनन्द जीवके चारित्र गुण का विकार-अशुद्ध अवस्था है ।

( ११५ ) प्रश्न—चार तीर्थ में प्रवेश कब कर सकते हैं ?

उत्तर—समकित गुण प्राप्त करने से ।

( ११६ ) प्रश्न—समदृष्टि गुरु आदि की परीक्षा किस प्रकार करता है ?

उत्तर–दोहा–मध्यम क्रियारत हुए, बालक देखे लिंग ।
समदृष्टि की दृष्टि में, उत्तम तत्व सुरंग ॥

भावार्थ—बाल अज्ञानी जीव लिंग अर्थात् बाहिर के भेष, नाम, संप्रदाय आदि द्रव्य विचार से परीक्षा करता है, मध्यम कोटि का जीव क्रिया, आचार, वर्ताव देखकर परीक्षा करता है और समदृष्टि उत्तम तत्व से परीक्षा करता है और तत्व-शुद्धि में ही आनंद मानता है।

( ११७ ) प्रश्न—जैन समाज में बहुत समय से लोग मुनि धर्म पालते, मुनियों की सेवा करते, व्याख्यान बांचते या सुनते, प्रश्नोत्तर करते और थोकड़ा आदि का ज्ञान रखते हुए देखने में आते हैं फिर भी उनमें से बहुतों में जीव और पुद्गल की भिन्नता का भेदविज्ञान नहीं झलकता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर—द्रव्यनुयोग के यथार्थ ज्ञान और भेदभावना के अभाव से।

( ११८ ) प्रश्न—श्री भगवती शास्त्र पढ़ने का सार क्या है?

उत्तर—श्री भगवती शास्त्र में फरमाया गया है कि—

मन अन्य है और आत्मा अन्य है
वचन अन्य है और आत्मा अन्य है
काया अन्य है और आत्मा अन्य है

मन, वचन, काया नाम कर्म के उदय के फल हैं। ये आत्मा के गुण नहीं हैं। ये जुदे हैं, रूपी हैं, कर्म के विकार हैं। इन तीन प्रवृत्तियों से कर्म का बंधन होता है। इनको आत्मा से भिन्न जान कर इन मन, वचन, काया पर पूर्ण संयम प्राप्त करना ही कर्म-बंधन से छूटने का उपाय है समदृष्टि जीव हमेशा इनसे भेदभावना चिंतवन करे।

एक आचार्य महाराज (भगवती शास्त्र तथा सर्व जिनवाणी) पढ़ने का सार भेदज्ञान को बताते हैं।

सुणो भगवती दासजी, बात कहूँ हूँ साँची।
अन्ने मन्ने जाण्यो नहीं तो, काँई भगवती वाँची॥

अर्थ—भगवतीदास (जिनवाणी के सर्व भक्त), आपको सच्ची वात कहता हूं। यदि आपने आत्मा को मनसे अलग नहीं जाना तो भगवती वाँचने से लाभ ही क्या?

(११६) प्रश्न—सकाम निर्जरा कबसे शुरू होती है।

(उत्तर) समकित प्रकट होने पर सकाम निर्जरा होती है। समकित विना की सब अकाम निर्जरा मानी गई है, कारण उससे जीव पुनः कर्म—बंधन से बंधता है। अकाम निर्जरा से करोड़ों भवों में भी जितने कर्मों का

नाश नहीं होता उतने कर्मों का नाश सकाम निर्जरा में एक क्षण मात्र में होजाता है।

( १२० ) प्रश्न-सत्य उपदेश कब दे सकते हैं?

उत्तर-व्यवहार निश्चय दोनों नय ( अपेक्षा-अभिप्राय-आशय ) का जिस को ठीक ज्ञान होवे वह समभावी आत्मा ही सत्य उपदेश देसकता है। आज इन दो गुणों के न होने पर भी उपदेश देने के कारण कलह होते दीखते हैं।

( १२१ ) प्रश्न-ये दो गुण क्यों ज़रूरी है?

उत्तर-इन से सत्य जाना जा सकता है। यदि ज्ञान नहीं है तो सत्य भी जाना नहीं जावे फिर उपदेश कैसे दिया जासकता है? सत्य जानने पर भी समभाव नहीं तो असत्य कहा जासकता है। इस लिये समभावी ज्ञानी ही सत्युपदेश कर सकता है। भगवान भी सर्वज्ञ और वीतराग दोनों गुणों के होने के कारण ही सत्य उपदेशक ( आप्त ) कहे गए हैं।

( १२२ ) प्रश्न-मूल पाठ के ज्ञान, अर्थ के ज्ञान और तत्व रहस्य के ज्ञान से क्या २ फल होते हैं?

( उत्तर ) १ केवल पाठज्ञान से प्रायः सामान्य पुण्य प्रकृति की प्राप्ति होती है । २–अर्थ–ज्ञान से बहुत पुण्य तथा कुछ कर्मों का नाश होता है । ३–तत्व ( रहस्य ) ज्ञान से बहुत कर्मों का नाश होता है तथा सत्य सुख की प्राप्ति होती है । पाठज्ञान उत्तम वृक्ष के पत्ते के तुल्य है, अर्थज्ञान फूल के तुल्य और तत्व-( रहस्य ) ज्ञान उत्तम फल के तुल्य है, ऐसा ठाणांग सूत्र में फरमाया गया है ।

( १२३ ) प्रश्न–सर्व शास्त्रों का कथन कितने नय से किया गया है और उसकी शिक्षा का पालन कितने नय से करना चाहिये ।

( १२४ ) उत्तर–शास्त्रकथन मुख्य दो नय से किया गया है । एक व्यवहार नय ( पर्यायार्थिक नय ) दूसरा निश्चय नय ( द्रव्यार्थिक नय ) और उसका पालन भी दोनों नयों से करना चाहिये । इन दोनों नयों के समूह को स्याद्वाद ( सम्यक्त्व ) कहते हैं । एक नय को एकान्तवाद ( मिथ्यात्वी ) कहते हैं ।

( १२५ ) प्रश्न–कैसे सुख की चाह करने वाले को आत्म–दर्शन और आत्मज्ञान प्रकट होसकते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय सुख को छोड़ आत्मिक सुख की चाह ( ध्यान ) करने वाले को आत्म दर्शन और आत्म-ज्ञान प्रकट हो सकता है।

( १२६ ) प्रश्न—कौनसा गुण प्रकट करने से जन्म मरण की जड़ ( संसार संतति ) नष्ट होती है ?

उत्तर—समकित गुण प्रकट करने से संसार संतति नष्ट होती है। जैसे जड़ नष्ट होने से कटा हुआ वृक्ष नीचे गिर जाता है और उसकी डालियां और पत्ते हरे रहते हुये भी वृद्धि को नहीं प्राप्त होते और सूख जाते हैं उसी प्रकार समदृष्टि के लिए संसार नहीं बढ़ता। वह सब कर्म क्षय करके मोक्ष में जाता है।

( १२७ ) प्रश्न—स्वभाव पर्याय, ( हालत ) कौनसी है ?

उत्तर—शुद्ध गुण ही स्वभाव पर्याय है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही शुद्ध गुण हैं।

( १२८ ) प्रश्न—विभाव पर्याय कौनसी है ?

उत्तर—अशुद्ध गुण विभाव पर्याय है। अज्ञान मिथ्यात्व और विषय कषाय जीव की अशुद्ध हालत है।

( ११९ ) प्रश्न—आत्मा की सिद्धि का परम अद्-भुत निमित्त कारण क्या है ?

उत्तर—शुद्ध भाव ही ।

( १२० ) प्रश्न—निश्चय हिंसा कौनसी है ?

उत्तर—अज्ञान मिथ्यात्व और विषय कषाय ही निश्चय हिंसा है । हिंसा ही सब दुखों का मूल कारण है ।

( १२१ ) प्रश्न—निश्चय अहिंसा कौनसी है ?

उत्तर—अज्ञान मिथ्यात्व, विषय कषाय का त्याग ही निश्चय अहिंसा है । समभाव ही अहिंसा है । अहिंसा ही सुखों का मूल कारण है ।

( १२२ ) प्रश्न—समकित की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि कौन से ध्यान से होती है तथा वह समदृष्टि जीव को कितनी वार चिंतवन करना चहिये ?

उत्तर—समकित की उत्पत्ति धर्म ध्यान ( आतम चिंतवन ) में होती है और धर्म ध्यान से ही समकित गुण की रक्षा और वृद्धि होती है ।

धर्मध्यान का चिंतवन निरन्तर करना चाहिये। कम से कम दिन रात में तीन वार तो अवश्य चिंतवन करना चाहिये शास्त्र में दो प्रहर ध्यान की खास आज्ञा है।

( १३३ ) प्रश्न—धर्मध्यान किसे कहते हैं?

उत्तर—धर्म का अर्थ स्वभाव ( वस्तुस्वभावो धर्मः ) है। आत्मा का स्वभाव अर्थात् निज गुणों का चिंतवन करना ही धर्मध्यान है। धर्मध्यान ( आत्मचिंतवन ) के आज्ञा विचय ( पदार्थ-स्वरूप-विचार ) आदि सोलह प्रकार है उन को व्यवहार व निश्चय नय से समझ कर के चिंतवन करना चाहिये।

( १३४ ) प्रश्न—उपयोग के तीन प्रकार कौन से हैं?

उत्तर—शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग इस प्रकार उपयोग के तीन प्रकार है।

( १३५ ) प्रश्न—उपयोग के तीन प्रकार का क्या अर्थ है।

उत्तर—( १ ) क्रोध मान, कपट, लोभ, राग, द्वेष, विषयादि के विचार अशुभ उपयोग है। इस से इस लोक और परलोक में दुःख भोगने पड़ते हैं।

( २ ) विषय कषाय उपशांत कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, क्षमा, विनय, सरलता, दान, तप, भक्ति आदि के विचार शुभ उपयोग हैं । इस से इस लोक और परलोक में बहुत सुख मिलता है ।

( ३ ) ऊपर के दोनों विचारों के अतिरिक्त आत्म-विचार आत्मरमण ही शुद्धोपयोग है । इस से सब दुःख का नाश होकर अविनाशी सत्य सुख प्रकट होता है ।

( १३६ ) प्रश्न—उपयोग का जो फल बताया गया है उसकी सिद्धि का प्रमाण बताओ ।

उत्तर—"पुराण पावेण पच्चयई जीवा"

अर्थ—पुण्य और पापसे जीव लोक में पीड़ा पारहे हैं ।

सुह परिणामो पुराणं । असुहो पावत्ति भणिय मन्नेसु ॥
परिणामो णण्णगदो । दुःख खय कारणं समये ॥

अर्थ—शुभ परिणाम पुण्य का कारण है । अशुभ परिणाम पाप का कारण है और अन्य द्रव्य को छोड़कर स्वस्वरूप में स्थित परिणाम शुद्धोपयोग है । उसे शास्त्र में सर्व दुःख के क्षय का कारण कहा है ।

( १३७ ) प्रश्न—समदृष्टि जीव हरएक वस्तु को कौनसी नय ( अपेक्षा ) से देखे और जाने जिसके फल स्वरूप सदा समभाव रहे और कर्मों का क्षय हो जावे ?

उत्तर—पर्याय ( विचित्र हालत ) छोड़कर समदृष्टि जीव हरएक वस्तु को द्रव्य-दृष्टि से देखे जिससे कभी राग द्वेष नहीं हो, सदा सम-भाव रहे और बहुत से कर्म क्षय होवें, ऐसा आत्मा सदा सत्य सुख अनुभवता है और थोड़े ही समय में मोक्ष सुख प्राप्त करता है।

# समकित का स्वरूप

( १ ) श्रीऋषभदेव स्वामी से वर्धमान स्वामी तक सब प्रभुओं को नमस्कार करके दर्शन स्वरूप को संक्षेप में कहता हूं।

( २ ) श्री जिनेश्वर देवने गणधरादि को धर्मोपदेश दिया है। उसका मूल दर्शन है। जहां दर्शन ( समकित ) नहीं है वहां धर्म भी नहीं है। मूल के विना वृक्ष के स्कंध, शाखा, पुष्प, फलादि कहां से हों ? जो दर्शन-भ्रष्ट है उसके लिए मोक्ष की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वृक्ष का मूल कटने पर फल कैसे लगे ? परन्तु जो चारित्र-भ्रष्ट है और उसका दर्शन शुद्ध है तो उसे पीछा चारित्र प्राप्त हो सकता है और मोक्ष मिल सकती है, जैसे कि स्कंध, शाखा आदि के कटने पर भी मूल बचे रहने से स्कंधादि बनकर फिर फल लग सकते हैं।

( ३ ) जो दर्शन (आत्मानुभव) से रहित और बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं वे आराधना रहित होने से संसार में भ्रमण करते हैं।

( ४ ) जो दर्शन से रहित हैं और भले प्रकार उग्र तप कर रहे हैं, वे अनेक हजार करोड़ वर्ष तप करने पर भी बोधि

अर्थात् सम्यग्-ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप स्व-स्वरूप का लाभ नहीं पाते हैं।

(५) इस पंचम काल में जड़ (मंद बुद्धि) वक्र (हरेक बात को उल्टी मानने वाले) जीव हैं तो भी पुरुषार्थ करें तो शुद्ध समकित गुण प्रकट करके ज्ञान, चारित्र, तपमें बल पराक्रम लगाने से थोड़े ही काल में ज्ञानी होकर मोक्ष पाते हैं।

(६) जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरंतर बहता है, उस पुरुष को नया कर्म-रज रूपी आवरण नहीं लगता और उसके पूर्वकाल में बंधे हुए कर्म नष्ट होजाते हैं, क्योंकि क्रोधादि कषाय भाव से बंधे हुए कर्म क्रोधादि रहित शुद्ध परिणामों से नष्ट होते हैं।

(७) जो सम्यग्दर्शन रहित हो वह निश्चय ही सम्यग् ज्ञान व चारित्र रहित होता है। ऐसा जीव स्वात्मा का अहित करता है तथा मिथ्या उपदेश देकर अन्य जनों को भी कुमार्ग में लगाता है।

(८) मिथ्यात्व का फल निगोद है। अनंत जीवों के रहने का एक ही शरीर हो उसे निगोद कहते हैं। वहां सातवीं नारकी से भी अनंत गुणी वेदनाएं हैं। कारण कि क्षण क्षण में जन्म मरण का अनंत दुःख भोगना पड़ता है तथा स्थान का भी संकोच है। मिथ्यात्व का इतना कटु फल जानें उसे दूर करने का खास उद्योग करना चाहिये।

(९) समकित से ज्ञान सम्यक् होता है। सम्यग् ज्ञान से सब पदार्थ यथार्थ जाने जाते हैं और यथार्थ ज्ञान होने से क्या हितकारी और क्या अहितकारी है? यह जाना जाता है। इसलिए सम्यक्त्व ही परम उपकारी है।

( १० ) जिन-वचन भावऔषधि है। इन्द्रियजन्य भोगों में सुख बुद्धि को दूर करने वाला है।

( ११ ) जीवादि नव पदार्थ की यथार्थ श्रद्धा करना व्यवहार समकित है और शुद्ध निज आत्मस्वरूप का निश्चय करना निश्चय समकित है।

( १२ ) सब गुण-रत्न-राशि में समकित सारभूत है और मोक्ष की प्रथम पैड़ी है। समकित प्रकट होते ही विषयभोग में सुख दुःख रूपी विकार और उसके फल जन्म, जरा, मरण का नाश होकर अविकारी आत्मिक सुख प्रकट होता है और उसका फल अविचल मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

( १३ ) समदृष्टि परद्रव्य को हेय अर्थात् छोड़ने योग्य और निज रूप को उपादेय अर्थात् आदर करने योग्य जानता है, श्रद्धा करता है और जितना सामर्थ्य हो उतना परद्रव्य को छोड़ता है और चारित्र मोह के उदय से सम्पूर्ण न छूटे तो भी अंतरंग विरक्ति का अनुभव करता है और उदासीन ( राग-द्वेष व उत्सुकता रहित ) रहता है।

( १४ ) दूसरे गुणी पुरुषों को देखकर जो ईर्षा या मात्सर्य करता है वह मिथ्यात्वी है. कारण गुण की अप्रीति और दोष की प्रीति मिथ्यात्व का चिह्न है।

( १५ ) समकित से ज्ञान की शुद्धि होती है। ज्ञान से चारित्र की शुद्धि होती है और चारित्र से निर्वाण ( मोक्ष ) की प्राप्ति होती है। निर्वाण से अनन्त सुख प्राप्त होता है। जितने सिद्ध हुए हैं वे सब ज्ञान, दर्शन. चारित्र रूपी रत्नत्रय की पूर्णता प्रकट करके हुए हैं। इन में से एक भी गुण अपूर्ण हो तो मुक्ति नहीं होती। इसलिए सब गुणों को प्रकट करने का पुरुषार्थ करना परम हितकारी है।

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराजजु, सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा,
तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य, भये निज बोध फले सुचरित्रा।
जे नर सम्यग् आगम जानि, करे पहिचानि यथावत मित्रा,
घाति छिपायरु केवल पाय, अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा ॥

(१६) समदृष्टि को ऐसी विवेक-शक्ति प्रकट होती है कि उसको सत् शास्त्र व असत् शास्त्र सत् रूप ही परिणमते हैं जब कि मिथ्या दृष्टि को विवेक-शक्ति का अभाव होने से सत् शास्त्र व असत् शास्त्र असत् रूप ही परिणमते हैं।

(१७) व्यवहार और निश्चय दोनों भेदों को बराबर समझनेवाला दोषों का नाशकर सुख को पाता है। जो व्यवहार निश्चय दोनों को यथार्थ जाने वही समदृष्टि हो सकता है। आरम्भ ( हिंसादि काम ), परिग्रह ( धनभोगादि ) से जिस को ज्ञान पूर्वक अरुचि होगई हो वही समकित गुण प्रकट होने का पात्र बन सकता है।

(१८) "दर्शन"—दर्शनावरण कर्म के अभाव से जो दर्शन गुण प्रकट होता है वह देखने रूपी शक्ति का धारण करने वाला गुण है। वहां दर्शन का अर्थ सामान्य बोध है। वस्तु का अस्तित्व (सत्तामात्र) जानना, 'वस्तु है" इतना जानना दर्शन है और पदार्थ के विशेष गुण, पर्याय ( हालत ) जानना ज्ञान है। ज्ञानावरण कर्म के अभाव से ज्ञान गुण प्रकट होता है। ज्ञान का फल स्व-पर को विशेषरूप से जानना है। निश्चय नय अर्थात् सत्यस्वरूप मे शुद्ध स्वरूप को अविचल रूप से जानना ज्ञान है और देखने से दर्शन है। इस पुस्तक में दर्शन गुण दर्शन-मोहनीय के अभाव से प्रकट होने वाले गुण को ग्रहण करने के अर्थ मे लिया गया है।

(१९) आठों कर्म का राजा मोहनीय है और मोहनीय की २८ प्रकृति में मिथ्यात्व मोहनीय नामक प्रकृति सब से बड़ी है अर्थात् सब कर्म प्रकृति में "मिथ्यात्व" प्रकृति बड़ी है। उसकी स्थिति भी उत्कृष्ट सत्तर करोड़ाकरोड़ सागरोपम की है और जीव को सब से ज्यादा दुःख देने वाली यही प्रकृति है। इसीलिये जीव का सब से बड़ा अहित करने वाला मिथ्यात्व मोह के सिवाय अन्य कोई नहीं है, ऐसा शास्त्रकार फरमाते हैं। अब मिथ्या दर्शन मोहनीय की प्रकृति का अभाव होता है तब जो शुद्ध दर्शन गुण प्रकट होता है उसका दूसरा नाम समकित गुण है। इस दर्शन समकित गुण का काम है यथार्थ स्वरूप निश्चय। इसे श्रद्धा भी कहते हैं। सम्यग्दर्शन-समकित प्रकट होने से आत्मा स्वस्वरूप का यथार्थ निश्चय करता है, जिस से अनादिकाल की उसकी विपरीत मान्यता शरीर, इन्द्रिय-भोग, बाह्य पदार्थों में मेरेपने की बुद्धि का नाश होकर वह अनन्त ज्ञान, सुखादि पूर्ण शुद्ध आत्म-तत्व को मानता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

( २० ) विचार करने से यह ठीक मालूम होता है कि जहां तक मिथ्यात्व है, असत्यपन है, वहां तक सब गुणसमुदाय विपरीत ही रहेंगे। जैसे एक मनुष्य अपने गाँव जारहा है। गाँव शीघ्र पहुँचने के गाड़ी घोड़ा आदि साधन भी हैं, परन्तु यदि रास्ता उल्टा है तो सब साधनों के होते हुए भी वह अपने घर नहीं पहुँच सकता। वैसे ही मोक्ष प्राप्त करने में दूसरे गुण भी साधन हैं परन्तु समकित ( सत्यपन ) उन सब में श्रेष्ठ है। जहां तक यह गुण प्रकट न हो वहां तक दूसरे गुण इष्ट फल-दाता नहीं होसकते। जैसे सच्चा मार्ग हाथ आजाने पर सभी अन्य साधन अपने घर को शीघ्र पहुँचाने में उपकारी होसकते

हैं वैसे ही समकित गुण प्रकट होने पर अन्य गुणों की सहायता से आत्मा निज घर-मोक्ष-को शीघ्र पहुँच सकता है।

( २१ ) समकित गुण प्रकट करने की पात्रता इन आठ गुणों को धारण करने से आती है:—

१—वात्सल्य भाव—जैसे गौ को अपने नवजात बछड़े की रक्षा का प्रेम होता है वैसे ही जीवमात्र के प्रति हितबुद्धि होना।

२—अधिक गुणी चाहे वह किसी भी जाति कुल व स्थान का हो उनका विनय करना। गर्व कभी नहीं करना।

३—अनुकम्पा—किसी भी दुःखी जीव को देखकर उसके दुःख को दूर करने के लिए सदा सारी सम्पत्ति का त्याग कर देना, दान कर देना।

४—मोक्ष मार्ग का सदा प्रशंसक होना।

५—अपने गुणों को व पराये दोषों को गोपने वाला होना।

६—सत्य मार्ग से डिगने वाले को स्थिर करना।

७ सरलता—( ऋजुता ) से युक्त होना। ऊपर के सब गुणों की प्राप्ति सरलता गुण से होती है।

८—सत्य—का ग्राहक होकर मन, वाणी और प्रवृत्ति में सत्य का ही पालन करना। इस गुण से सब गुणों की शुद्धि होती है।

( २२ ) परिग्रह भोगादि में उत्साह जिसे हो, जो उसकी प्रशंसा करे, उसमें सुख माने, वह जीव अज्ञानी है मोहमार्गी अर्थात् कुमार्गगामी है। वह सम्यक्त्व का नाश करता है।

( २३ ) जिसे सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप रूप सम्यग्-मार्ग में उत्साह हो, उसकी प्रशंसा करे, उसमें सुख माने, वही ज्ञानी है सुमार्गगामी है। वह समकित गुण की रक्षा करता है।

( २४ ) षट् द्रव्य, नवतत्त्व को द्रव्य गुण-पर्याय, सामान्य, विशेष, नय-प्रमाण-निक्षेप, व्यवहार, निश्चय द्वारा यथार्थ जानकर जो परद्रव्य से निज आत्मा के भिन्नपने का अनुभव करता है वही सम्यग्दर्शी जीव है। द्रव्यानुयोग अर्थात् तत्त्वविचार धर्मध्यान व शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति का कारण है। इसलिए समदृष्टि को हमेशा तत्वभावना भावी चाहिये। आत्मा को कर्मों का बंधन अशुद्धभाव-क्रोधादि युक्त कषायभाव से होता है और पुनः क्रोधादि रहित शुद्ध भाव-आत्मस्वरूप चिंतवन से बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है, इसलिए निरंतर शुद्धभाव रखना परम हितकारी है।

( २५ ) समदृष्टि समकितभावना आत्मभावना, एकत्व भावना, भिन्नभावना का चिंतवन करता है। वह देव, दानव किन्नर ( गायकदेव ), किंपुरुष, ज्योतिषी व विमानवासी देव और विद्याधर द्वारा सब बुद्धि शक्ति सम्पत्ति से बनाई ( विक्रय की ) हुई ऋद्धि भोगसामग्री देख कर उसे इन्द्र-जालवत् असार मानता है। जैसे मदारी युक्ति विशेष से कंकरी के जो रुपये दिखाता है उन रुपयों की चाह बुद्धिमान् मनुष्य नहीं करता क्योंकि वे टिकाऊ नहीं हैं वैसे ही समदृष्टि सब भोगसामग्री को विनाशी, अनित्य और दुःखवर्धक मानता है और उसे नहीं चाहता। जो शुद्धभाव से देखता है

कारो ने उत्तम भावनाओं का अवलंबन लेने के लिए खास आज्ञा दी है। जहांतक मध्यम अवस्था है वहां तक अवलं-बनपूर्वक भावो की शुद्धि हो सकती है। निरावलम्बी ध्यान-शुक्ल ध्यान को प्राप्त करने का साधन भी धर्मध्यान ही है। इसलिए मैत्री आदि चार भावना, अनित्यादि बारह भावना, जीवादि तत्त्वभावना व उत्तम वांचन, श्रवण, मनन, चिंतवन द्वारा भावो की शुद्धि करना चाहिये।

इस में विकारी बनूंगा तो मेरा ज्ञान व चारित्र गुण विकारी होकर मुझे भी आश्रव बंध होवेगा। यह रूप सदा विनाशी, दुःख गर्भित व जीव का अधःपतन करने वाला है। मैं रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित होकर इनमें मोहित क्यों होऊं, ऐसा विचार करने से संवर निर्जरा को पाकर मोक्ष प्राप्त करूंगा।" इस प्रकार हरएक स्थान पर अनित्यादि वैराग्य जीवादि तत्व-भावना का चिंतवन करना चाहिये।

(२६) चौथे गुणस्थान से ही समदृष्टि जीव को निम्न-लिखित प्रकृतियों का बंध नहीं होता:—

अनन्तानुबंधी का चौक, मिथ्यात्व मोहनीय, स्त्री वेद, नपुंसक वेद। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धनिद्रा। नरकायुष्य, नरकगति नर्कानुपूर्वि। तिर्यंच आयु, तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वि, नीचगोत्र, एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय व चतु-रेन्द्रिय। प्रथम शिवाय के पांच संघयण, पांच संठाण। अशुभ विहायोगति, आताप नाम, उद्योत नाम। स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त। दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय। इन इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बंध चौथे गुण स्थानक व उसके ऊपर नहीं होता, कारण समदृष्टि के तीव्र अशुभ परिणाम नहीं होते। इनमें की अनेक प्रकृति आज अपन को उदय में हैं, तथा अपने हाड़ों के बंधन व दृढ़ता देखते वे वज्र ऋषभ नाराच (वज्र की हड्डियां, वज्र के बंधन व वज्र की कीलि) नहीं हैं तो अपन ने पूर्व भव में समकित की आराधना नहीं की है यह निश्चय होता है, अब जो समकित (आत्मबोध-आत्मानुभव-आत्म-निश्चय) की आराधना करेंगे तो सब दुःखों से छूट जायंगे।

( ३० ) मिथ्यात्व दशा मे शुभ क्रिया करने से पुण्य बंध होता है। उसके फल मे वैभव, सम्पत्ति, भोगादि मिलते हैं। उन में वह जीव गृद्ध-मोही होकर नर्क तिर्यंचादि कुगति में चला जाता है। देवता भी भोगगृद्ध होने से पृथिवी, जल, वनस्पति व तिर्यंच गति मे उत्पन्न हो जाते हैं। जब समदृष्टि जीव को सकाम निर्जरा व निर्मल पुण्य ( पुण्यानुबंधी पुण्य ) की प्राप्ति होती है तब वह प्राप्त वैभव सम्पत्ति का सत् कार्य में उपयोग कर के त्यागी बन मोक्षमार्ग आराधन कर सकता है। समदृष्टि को सम्पत्ति हितकर होती है जब कि मिथ्यात्वी को अहितकर होती है। इससे यह स्पष्ट निकलता है कि यदि अपन लोग प्राप्त सम्पत्ति से सत्कार्य न कर सकें तो मिथ्यात्व भाव में बांधे हुए पुण्य का यह फल है और इससे भविष्य में भी कुगति में जाना पड़ेगा। ऐसा जान भोगोपभोग को छोड़ कर प्राप्त सम्पत्ति, बुद्धि, बल, आयु को सत्कर्म में लगाना चाहिये। पुण्य पाप प्रकृति के बंध के चार प्रकार हैं:-

* १-पुण्यानुबंधी पुण्य-जो विवेकपूर्वक समकित सहित शुभ प्रवृत्ति करते हैं, जहां मानादि वाञ्छा या कोई अभिलाषा नहीं है वहां पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है। पुण्य अर्थात् सुख के अनुबंध यानि पीछे भी सुख, सम्पत्ति, बल, बुद्धि मिलती है। उसका वह सदुपयोग कर सकता है व वैभव का शीघ्र त्याग कर सकता है; जैसे भरत चक्रवर्त्ती आदि—

२-पुण्यानुबंधी पाप-यह मिथ्यात्व दर्शन में शुभ प्रवृत्ति करने से प्राप्त होता है। इस से वैभव सम्पत्ति, बल, बुद्धि आदि

---

* ये भेद प्रभेद धारणानुसार लिखते हैं, शुद्धि वृद्धि के लिये प्रकाशक को कृपया लिखें।

मिलते हैं। उनका पूरा सदुपयोग होना कठिन है। प्रायः उससे भोगगृद्ध होकर कुगति मिलती है। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। पुण्य अर्थात् सुख के पीछे (अनुबंध में) पाप अर्थात् दुःख मिलता है उसे पुण्यानुबंधी पाप कहते हैं।

३-पापानुबंधी पुण्य-यह समदृष्टि विवेकी मनुष्य पाप का अमुक काम लाचारी से करता है। जैसे शरीर निर्वाह हेतु भोजन आदि करना, व्यापार करना इत्यादि। उन कामो के करते समय उस जीव के हृदय में विरक्ति व पाप के लिये पश्चात्ताप होता है। जिससे वह जो हिंसा विषयादि क्रिया करता है उससे पापों का बंधन तो होता ही है परन्तु पश्चात्ताप युक्त होने से उसके फल से वह पीछा समभाव रख सकता है। इससे संसार वृद्धि नहीं होती। पाप अर्थात् दुःख के पीछे पुण्य अर्थात् सुख। पाप के फल मे दुखकारी संयोग मिलते हैं परन्तु समभाव रहने से पीछा सुख मिलता है।

४-पापानुबंधी पाप-यह मिथ्यात्वी जीव हिंसा विषयकषाय की प्रवृत्ति करते समय बांधता है। हिंसादि पाप हैं ही। इनके फल में दुःख मिलता है। उस दुःखमय हालत में पुन पापकार्य व रुदन, चिंता, भय, शोकादि करके नया पाप का बंध करता है जिससे पाप (दुःख) के फल में (अनुबंध में) दुःख ही होता है। इसे पापानुबंधी पाप कहते हैं। इन चारों बंधनों में पुण्यानुबंधी पुण्य शुभ हैं। पापानुबंधी पुण्य मध्यम है और पुण्यानुबंधी पाप और पापानुबंधी पाप कनिष्ठ है। इसका यथार्थ ज्ञान सद्गुरु के पास करके जो हितकारी हो उसका आदर करना चाहिये।

( ३१ ) निमित्त के वश से आत्मा के तीन प्रकार हैं:—१—बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा, ३ परमात्मा। शरीर, इंद्रिय व भोगादि में ममता रखने वाला जीव बहिरात्मा है अर्थात् मिथ्यात्वी है और शरीर इन्द्रिय भोगादि से भिन्न अपने आपको शुद्ध ज्ञान सुखादि स्वरूप अनुभवने वाला अंतरात्मा है अर्थात् समदृष्टि है। ऐसा समकिती जीव आत्मभावना पाकर परमात्म-पद लेता है।

बहिरातमा स्वभाव तज, अंतरातमा होय।
परमातम पद भजत हैं, परमातम ह्वै सोय॥
आतम सो परमातमा, और न दूजो कोय।
परमातम को ध्यावतें, यह परमातम होय॥
मैं ही सिद्ध परमातमा, मैं ही आतमराम।
मैं ही ज्ञाता ज्ञेय का, चेतन मेरा नाम॥
मैं अनंत सुख का धनी, सुखमय मोर स्वभाय।
अविनाशी आनंदमय, सो हूँ त्रिभुवन राय॥

---

# काव्य विभाग

## समकिती के गुण

### सवैया—

स्वारथ के सांचे परमारथ के सांचे चित्त,
सांचे वैन कहै सांचे जैन मति है।
काहू के विरोधी नाहीं, परजाय बुद्धि नाहीं,
आतमगवेषी न गृहस्थ है न यति है।

ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घरमें प्रगट सदा,
अंतर की लछिसौं अजाची लछपति है।
दास भगवंत के उदास रहै जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है॥

भावार्थ—स्वार्थ अर्थात् आत्मपदार्थ में जिनको सत्य प्रतीति है। परमार्थ अर्थात् मोक्ष स्वरूप में यथार्थ श्रद्धा है जिन के चित्त में सदा सत्य के ही विचार आते हैं। जो सदा सत्य वचन ही बोलते हैं और सत्य का आचरण करते हैं वे जैन हैं। समस्त नय ( अपेक्षा ) के ज्ञाता होने से किसी के विरोधी नहीं हैं, जिनके पर्याय ( शरीरादि ) में आत्मबुद्धि नहीं है। गृहस्थीपन या यतिपन में आपा नहीं है परन्तु आत्मगुणगवेषक हैं, जिनको अपने हृदय में ज्ञानादि गुण रूप ऋद्धि और आत्मिक सुखरूप सिद्धि की सदा वृद्धि होती प्रकट दीखती अनुभव में आती है, ऐसी भावलक्ष्मी से जो सदा याचनारहित लक्षपति हैं। भगवान् ( सद्गुणियों के ) के सदा दास हैं। संसार ( विषय कषाय ) से सदा उदास ( राग द्वेष ) रहित हैं। ऐसे समदृष्टि जीव सदा आत्मिक सुख से महासुखी हैं। पहिले सत्य की प्राप्ति होवे, बाद तत्त्वबोध होकर सत्य सुख प्रकट होता है, इसलिये समदृष्टि बनने के लिये मन वाणी और काया से सत्य का पालन करना चाहिये।

दोहा—समकितनुं मूल जाणीये, सत्य वचन साक्षात।
साचामां समकित वसे, मायामां मिथ्यात्व॥

मोक्ष की कुंजी भाग पहिले के अंत में समकित के पांच स्वरूप कहे हैं तीन यहां कहते हैं।

१—आठ मद कहते हैं:—

दोहा—जाति लाभ कुल रूप तप, बल विद्या अधिकार।
इनको गर्वजु कीजिए, ये मद अष्ट प्रकार॥

अर्थ—जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और अधिकार, इनका गर्व करना ये आठ मद हैं।

१०—आठ मल कहते हैं:—

चौपाई

आशंका अस्थिरता वंछा। ममता दृष्टि दशा दुरगंछा।
वत्सल रहित दोष पर भाषे। चित्त प्रभावना मांहि न राखे॥

अर्थ—यथार्थ तत्त्व निश्चय मे शंका, धर्म (ज्ञान दर्शन चारित्र तप) में अस्थिरता, विषय की इच्छा, देहमें ममत्व, अशुभ की ग्लानि, मैत्री-भाव प्रेम करके रहित, पराई निंदा और ज्ञानवृद्धि मे उत्साह न रखना ये आठ मल हैं।

११—छः आयतन कहते हैं:—

दोहा—कुगुरु कुदेव कुधर्म धर, कुगुरु कुदेव कुधर्म।
इनकी करे सराहना, यह षडायतन कर्म॥

अर्थ—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के भक्त की सराहना करना ये छः आयतन हैं।

आयतन कहता स्थान, दोष उत्पन्न होने का स्थान है।

१२—तीन मूढता कहते हैं। इन ८, ८, ६ और ३ के मेल से २५ दोष होते हैं।

दोहा—देव मूढ गुरु मूढता, धर्म मूढता पोष।
आठ आठ षट् तीन मिलि, ये पचीस सब दोष॥

अर्थ—सुदेव कैसा है और कुदेव कैसा है यह न जाननेवाला देव मूढ है, सुगुरु और कुगुरु को न पहिचानना गुरु मूढता है और धर्म और अधर्म न समझना धर्म मूढता है। ये आठ (मद), आठ (मल), छः (आयतन) और तीन (मूढता) मिलकर पचीस दोष होते हैं।

१३—अब सम्यक्त्व की नाशक पाँच दशाएँ कहते हैं:—

दोहा—ज्ञानगर्व मतिमंदता, निष्ठुर वचन उद्‌गार।
रुद्रभाव आलसदशा, नाश पच परकार॥

अर्थ—ज्ञान का गर्व, मति की मंदता, निर्दय वचन, क्रोध भाव और आलस्य उत्तम काम मे ढीलापन इन पाँच दशाओं से सम्यक्त्व का नाश होता है।

१४—अब सम्यक्त्व के पँच अतिचार कहते हैं :—

दोहा—लोक हास्य भय भोग रुचि, अग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगम की भगति, मृषा दर्शनि सेव॥

अर्थ—१ लोक हँसेंगे ऐसा भय पाय उत्तम काम न करना, २ इन्द्रिय के भोगों में रुचि, ३ आगे क्या होगा ऐसी चिन्ता, ४ मिथ्या शास्त्र में भक्ति ( विषय कषाय बढ़ाने वाला कुज्ञान प्रिय होना ) ५ और विपरीत समझवालों की संगति करना, ये पाँच अतिचार दोष हैं।

१५—अब अतिचार दोष का फल कहते हैं :—

चौपाई—अतीचार ये पंच प्रकारा।
समल करहि समकित की धारा॥

अर्थ—ये पाँच प्रकार के अतिचार दोष समकित की धारा को मलीन करते हैं।

## अन्तिम शिक्षा

चौपाई—दूषण भूषण गति अनुसरणी।
दशा आठ समकित की वरणी॥

अर्थ—यह समकित की आठों दशाओं का वर्णन किया है।

ऊपर कहे हुए दूषणों को ग्रहण करने वाले इस लोक और परलोक सम्बन्धी अनंत दुःखों को पाते हैं और गुणों को धारण करने वाले इह लोक और परलोक सम्बन्धी परम सुख पाते हैं।

---

* समयसार छंद में से साभार उद्धृत।

# काव्य-विभाग
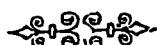
## १—गुण-मंजरी

समकिती जीव को जो गुण व्यवहार में प्रकट होते हैं उनका वर्णन

[ ब्रह्मविलास से साभार उद्धृत ]

### दोहा

परमपंच परमेष्टि को, वंदौं शीस नवाय ।
जस प्रसाद गुण मंजरी, कहूं कथन गुण गाय ॥ १ ॥
ज्ञान रूप तरु ऊगियो, सम्यक् धरती माहिं ।
दर्शन दृढ़ शाखा सहित, चारित दल लहकाहिं ॥ २ ॥
लगी ताहि गुण मंजरी, जस स्वभाव चहुँ ओर ।
प्रगटी महिमा ज्ञान में, फल है अनुक्रम जोर ॥ ३ ॥
जैसे वृक्ष रसाल के, पहिले मंजरी होय ।
तैसे ज्ञान तमाल के, गुण मंजरि का जोय ॥ ४ ॥
दया सुवत्सल सुजनता, आतम निंदा रीति ।
समता भक्ति विराग विधि, धर्म राग सों प्रीति ॥ ५ ॥
मन प्रभावना भाव अति, त्यागन ग्रहन विवेक ।
धीरज हर्ष प्रवीनता, इम मंजरी अनेक ॥ ६ ॥
तिनके लच्छन गुण कहूं, जिन आगम परमान ।
इक क्रम शिव फल लागि है, देख्यो श्री भगवान ॥ ७ ॥

## चौपाई

दया कही द्वय भेद प्रकाश। निज पर लच्छन कहूं विकाश
प्रथम कहूं निज दया वखान। जिह में सब आतम रस जान ॥ ८।
शुद्धस्वरूप विचारहिं चित्त। सिद्ध समान निहारहि नित्त
थिरता धरै आतमपद माहिं। विरय सुखन की वांछा नाहिं ॥ ६ ॥
रहै सदा निज रस में लीन। सो चेतन निज दया प्रवीन।
अब दूजों पर दया विचार। जो जानै सगरो संसार ॥ १० ॥
छहों काय की रच्छा होय। दया शिरोमणि कहिये सोय।
पृथिवी अप[1] तेऊ[2] अरु वाय। वनस्पति त्रिस भेद कहाय ॥ ११ ॥
मन वच काय विराधै नाहिं। सो पर दया जिनागम माहिं।
अव्रत में भावनि तें टलै। यथाशक्ति कछु दर्वित पलै ॥ १२ ॥
ज्यों कषाय की मंद्दित ज्योत। त्यों त्यों दया अधिक तिहँ होत।
त्रस की रच्छा निश्चय करै। देश विरत थावर कछु टरै ॥ १३ ॥
सर्व दया छट्ठे गुण थान। आगे ध्यान कह्यो भगवान।
और कहूँ पर दया बखान। ताके लच्छण लेहु पिछान ॥ १४ ॥
कष्टित देख अन्य जिय कोय। जाके हिरदे करुणा होय।
शक्ति समान करे उपकार। सो पर दया कही संसार ॥ १५ ॥

## दोहा

कही दया द्वय भेद सों, थोरे में समुझाय।
याके भेद अपार हैं, जानै श्री जिनराय ॥ १६ ॥
अब वत्सलता गुण कहूं, जो रुचिवंत सदीव।
लग्यो रहै जिनधर्म में. सो समदृष्टी जीव ॥ १७ ॥

---

१—जल, २—अग्नि।

## चौपाई

जैसे बच्छा चूंखे गाय। तैसे जिन वृष याहि सुहाय।
लग्या रहे निशदिन तिहं माहि। और काज पर मनसा नाहिं ।।१८।।
सुनै जिनागम के चिरतंत। त्यों त्यो सुख तिह होत महंत।
जो देख्या केवल भगवान। सो निहचै याके परमान ॥ १९ ॥
द्वादश अग प्ररूपहि जोय। सो याके घट अविचल होय।
रहै सदा जिन मत को ध्यान। सो वत्सलता गुण परमान ।। २० ।।
अब तीजी सज्जनता कहूं। जाके भेद यथारथ लहूं।
देखै जो जिन-धर्मी जीव। ताकी संगति करे सदीव ।। २१ ।।
सब प्राणी पर सज्जन भाव। मित्र समान करे चित चाव।
जहां सुने जिन-धर्मी कोय। तहं रोमांचित हुलसित होय।। २२ ।।
देखत ही मन लहै आनंद। सो सज्जनता है गुण वृंद।
अब अपनी निंदा अधिकार। कहूं जिनागम के अनुसार ।। २३ ।।
जब जिय करै विषय सुख भोग। निंदित ताहि रहै उपयोग।
अघ कीरति करै जिय जहां। भ्राष्टित रहै रैन दिन तहां ।। २४ ।।
देह कुटुंबादिक से नेह। जब ह्वै तब निंदे निज देह।
व्रत पचखान करै नहिं रंच। तब कहै रे मूरख तिरजंच ।।२५।।
जब कहुं जिय की हिंसा होय। तब धिक्कार करै निज सोय।
जब परिणाम बहिर्मुख जाय। तब निज निंदा करै सुभाय ।। २६ ।।
इह विधि निज निंदहि जे जीव। ते जिन धर्म कहै सदीव।
धर्म विषे उद्यम नहिं होय। तब निज निंदहि धर्मी सोय ।। २७ ।।

## दोहा

आतम निंदा पाठ इम, करत भविक निश दीस।
अब समता लक्षण कहूं, जो भाषित जगदीश ।। २८ ।।

## चौपाई

समता भाव धरहि उर मांहीं। वैर भाव काहू सो नाहीं।
निज समान जाने सब हंस। क्रोधादिक तब करै विध्वंस[1] ॥२९॥
उत्तम क्षमा धरहि उर आन। सुख दुःख दोहि में एकहि वान[2]।
जो कोउ क्रोध करै इह आय। तबहू याके समता भाय ॥ ३० ॥
उपजै क्रोध कषाय कदाच। तब तहँ रहैं आपसा राच।
सो समतादिक लच्छन जान। थोरे में कछु कह्यो बखान ॥३१॥
अब कहुं भगति भाव जो होय। सेवहि पंच पदहि नित सोय।
देव गुरु जिन आगम सार। इन की भक्ति रहै निरधार ॥ ३२ ॥
जामहिं गुण देखे अधिकाय। ताकी भक्ति करहि मन लाय।
भक्ति भावतैं नाहिं अघाय[3]। समदृष्टी को यहै स्वभाय ॥ ३३ ॥
अब कहुं गुण वैराग बखान। उदासीन[4] सबसों तिहँ जान।
जो पै रहै गृहस्थावास। ताहू मन तिह रहै उदास ॥ ३४ ॥
जानै कबहू चारित लेउँ। परिग्रह सबै त्याग कर देउँ।
क्षणभंगुर देखहि संसार। तातैं राग तजै निरधार ॥ ३५ ॥
निज शरीर विषलेषण करै। अशुचि देख ममता परिहरै।
यह जड़मय हूँ चेतन सरवंग। कैसे राग करूं इहि संग ॥ ३६ ॥
मन लाग्यो आतम रस माहिं। ताते वैर वासना नाहिं।
इम वैराग्य धरहिं जे संत। ते समदृष्टी कहे सिद्धंत ॥ ३७ ॥
अब कहूं धर्म राग की बात। समदृष्टी जिय सबै सुहात।
पंच परम परमेष्ठी जान। तिनमें राग धरहिं उर आन ॥ ३८ ॥
जिन आगम जो कह्यो सिधंत। तिन पै राग धरत हैं संत।
ज्यों देखहिं जिन धर्म उद्योत। त्यों तिहिं राग महा उर होत ॥३९॥

---

१—नाश। २—आदत। ३—थके नहीं। ४—राग द्वेष रहित।

जहां सुने जिनधर्मी कोय। तिहिं मिलवे की इच्छा होय।
धर्मराग है धर्मी जोय। सम्यक् लच्छन कहिये सोय ॥ ४० ॥

## दोहा

कहीं आठ गुण मंजरी, सम्यक् लक्षण जान।
पंच भेद पुनि और हैं। तेहू कहूं वखान॥ ४१ ॥
मन प्रभावना भाव धर। हेय उपादेय वंत।
धीरज हर्ष प्रवीनता। इम मंजरी वृत्तंत ॥ ४२ ॥

## चौपाई

चित्त प्रभावना भावहिं धरै। किहि विधि जैनधर्म विस्तरै।
संघ चलावहि खरचै दाम। प्रगट करै जिन शासन नाम ॥४३॥
साधु साध्वी श्रावक वर्ग। इन के दूर करहिं उपसर्ग।
पोषै संघ चतुर्विधि जान। सो जिन धर्मी कहैं बखान ॥ ४४ ॥
इह विधि करै उद्योत अनेक। जाके हिरदे परम विवेक।
खरचहि द्रव्य देय बहु दान। सो प्रभावना अंग बखान ॥ ४५ ॥
अब कहुं हेय उपादेय भेद। जाके लखे मिटे सब खेद।
प्रथमहिं हेय कहत हूं सोय। जामे त्याग कर्म को होय ॥४६॥
पुद्गल त्याग योग्य सब तोहि। इनकी संगति मगन न होहि।
ऐसे जो वरनै परिणाम। हेय कहत है ताको नाम ॥ ४७ ॥
अब कहूं उपादेय की बात। जामें ग्रहण अर्थ विख्यात।
निज स्वरूप जो आतमराम। चिदानंद है ताको नाम ॥ ४८ ॥
ज्ञान दरश चारित भंडार। परमधर्म धन धारन हार।
निराकार निरभय निरूप। सो अविनाशी ब्रह्मस्वरूप ॥ ४९ ॥
ताकी महिमा जानहिं संत। जाकी शक्ति अपार अनंत।
ताहि उपादेय जानहिं जोय। सम्यक् दृष्टी कहिये सोय ॥५०॥

निज स्वरूप जो ग्रहण करेय । पर सत्ता सब त्यागे देय ।
ऐसे भाव धरहिं जो कोय । हेय उपादेय कहिये सोय ॥ ५१ ॥
अब धीरज गुण कहूं वखान । जिनके ते समदृष्टी जान ।
धर्म विषे जो धीरज धरे । कष्ट देख सरधा नहिं टरै ॥ ५२ ॥
सहै उपसर्ग अनेक प्रकार । सवहू धीरज ह्वै निरधार ।
मिथ्या मन जो देखे कोय । चमत्कार तामें वहु होय ॥ ५३ ॥
तवहूं ताहि लखहि अज्ञान । सो धीरज धर सम्यक्वान ।
अब कहूं हरष गुणहि समुझाय । समदृष्टी यह सहज सुभाय ॥५४॥
निज स्वरूप निरखहिं जो कोय । ताके हर्ष महा उर होय ।
सुख अनंत को पायो ईश । तिहँ निरखै हरपै निस दीस ॥५५॥
छहों द्रव्य के गुण परजाय । जाने जिन आगम सुपसाय ।
निज निरखै सुविनाशी नाहिं । यातैं हर्ष महा उर माहिं ॥ ५६ ॥
तीर्थंकर देवन के देव । ताकि प्रभुता के सब भेव ।
अनंत चतुष्टय आदि विचार । हर्षै ते निज मांहि निहार ॥५७॥
जन्म जरादिक दुख वहु जान । तिहतैं भिन्न अपनपो मान ।
सिद्ध समान विचार हि चित्त । तातैं हर्ष महा उर नित्त ॥५८॥
अव गुण कहूं प्रवीन वखान । जिन के ते समदृष्टी मान ।
स्वपर विवेकी परमसुजान । प्रगट्यो बोध महा परधान ॥५६॥
जानन लाग्यो सव विरतंत । जैसो कछु टेरयो भगवंत ।
जिन आगम के वचन प्रमान । तामहिं बुद्धि अहै परधान ॥६०॥
धर्म महा गुण जाके होय । तानैं निपुण न दूजो कोय ।
जाके हृदय भयो परकाश । ताकी कुमति गई सब नाश ॥६१॥
चौदह विद्या में जो आदि । ब्रह्मज्ञान सो कह्यो मरजाद ।
तातैं जो परवीन प्रधान । सो समदृष्टि विन नहिं आन ॥ ६२ ॥
मिथ्याती जीव भ्रम में रहै । सो प्रवीनता कैसे गहै ।

तातैं कथा यहै परमान। है प्रवीन जिय सम्यक्वान ॥ ६३ ॥
इहिविधि मंजरी लगी अनेक। ज्ञानवंत धर देख विवेक।
जैसे द्रुम शोभै सहकार। तैसे ज्ञान गुणन के भार ॥ ६४ ॥
यातैं प्रथम मंजरिका कही। इहीं द्रुम शिवफल लागहि सही।
जाके घट समकित परकाश। ताके ये गुण होंहि निवास ॥६५॥
सम्यग्दर्शी लहै जो जीव। सो शिवरूपी कह्यो सदीव।
तातैं सम्यक्ज्ञान प्रमान। जातें शिवफल होय निदान ॥ ६६ ॥

### दोहा

कही ज्ञान गुणमंजरी जिन मत के अनुसार।
जो समुझहिं औसर वहै, ते पावहिं भवपार ॥ ६७ ॥
यामें निज आतमकथा, आतमगुण विस्तार।
तातैं याहि निहारिये. लहिये आतम सार ॥ ६८ ॥
जो गुण सिद्ध महंत के, ते गुण निज माँहि जान।
भैया निश्चय निरखतैं. फेर रंच जिन मान ॥ ६९ ॥
सत्रहसौ चालीस के. उत्तम माघ हिमंत।
आदिपक्ष दशमी सुदिन, मंगल कह्यो सिद्धंत ॥७०॥

## २—समदृष्टि को शिक्षा

समकित गुण प्रकट करने से परवस्तु ( बाह्य पदार्थ ) का त्याग होता है और हिंसा, विषय कषाय का त्याग करने से ध्यान की वृद्धि होकर गुणस्थान श्रेणी चढ़ी जाती है और मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसका वर्णन—

### दोहा

सम्यक् आदि अनंत गुण, सहित सुआतम राम।
प्रगट भये जिहँ कर्म तज, ताहि करौं परणाम ॥ १ ॥

## चौपाई

अप्रत्याख्यान[1] जाय नहिं जहां। व्रत पचखान पलै नहिं तहां।
सम्यक्दृष्टी परमसुजान। धरहिं शुद्ध अनुभव को ध्यान॥ २॥
अनुभव में आतम रस लसै। आतम रस मे शिव सुख वसै।
आतम ध्यान धर्यो जिन देव। तातैं भये मुक्ति स्वयमेव॥ ३॥
मुक्ति होन को वीज निहार। आतम ध्यान धरै अरिटार[2]।
ज्यों ज्यों कर्म विलय को जाहिं। त्यों त्यों सुख प्रगटै घट माहि॥ ४॥
प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान कर। चकचूर चढहिं गुण थान।
आगें महा ध्यान धर धीर। कर्मशत्रु जीते वलवीर॥ ५॥
प्रगट करै निज केवल ज्ञान। सुख अनंत विलसै तिहं थान।
लोक अलोक सवहि झलकंत। तातैं सव भाखै भगवंत॥ ६॥
चारों कर्म अघाती हार। तव वे पहुंचै मुकति मझार।
काल अनंतहि ध्रुव ह्वै रहै। तासु चरन भविवंदन कहै॥ ७॥

## दोहा

सुख अनंत की नींव यह, सम्यक् दर्शन जान।
याही तें शिवपद मिले, भैया लेहु पिछान॥ ८॥

## ३—वैराग्यपचीसी

वैराग्यवान् आत्मा ही समकिती होसकती है। समकित से स्थायी वैराग्य अर्थात् भोगों से भेद ज्ञानपूर्वक अंतरंग अरुचि होती है, सो वताते हैं:—

---

१—कुछ भी त्याग नहीं करना ( प्रत्याख्यान=कुछ त्याग, करना )
२—शत्रु ( राग द्वेष आदि भाव-शत्रु ) का त्याग करके।

## दोहा

रागादिक दूषण तजे, वैरागी जिन देव ।
मन वच सीस नवायकैं, कीजे तिन की सेव ॥ १ ॥
जगत् मूल यह राग है, मुक्ति मूल वैराग ।
मूल दुहून को यह कह्यो, जाग सकै तो जाग ॥ २ ॥
क्रोध मान माया धरत, लोभ सहित परिणाम ।
येही तेरे शत्रु हैं, समुझो आतम राम ॥ ३ ॥
इनही चारों शत्रु को, जो जीते जग माहिं ।
सो पावहि पथ मोक्ष को, यामें धोखा नाहिं ॥ ४ ॥
जा लच्छी के काज तू, खोवत है निज धर्म ।
सो लच्छी संग ना चले, काहे भूलत भर्म ॥ ५ ॥
जा कुटुंब के हेत तू, करत अनेक उपाय ।
सो कुटुंब अग्नि लगा, तोको देत जराय ॥ ६ ॥
पोषत है जा देह को, जोग त्रिविधि के लाय ।
सो तोको छिन एक में, दगा देय खिरजाय ॥ ७ ॥
लच्छी साथन अनुसरे, देह चले नहिं संग ।
काढ़ काढ़ सुजनहि करै, देख जगत् के रंग ॥ ८ ॥
दुर्लभ दश दृष्टान्त सम, सो नरभव तुम पाय ।
विषय सुखन के कारने, सर्वस चले गमाय ॥ ९ ॥
जगहिं फिरत कई युग भये, सो कछु कियो विचार ।
चेतन अबतो चेतहु, नरभव लहि अतिसार ॥ १० ॥
ऐसे मति विभ्रम भई, विषय लगत धाय ।
कै दिन कै छिन कै घरी, यह सुख थिर ठहराय ॥ ११ ॥
पीतो सुधा स्वभाव की, जी तो कहूँ सुनाय ।
तूं रीतो क्यों जातु है, बीतो नर भव जाय ॥ १२ ॥

मिथ्यादृष्टि निकृष्ट अति लखै न इष्ट अनिष्ट।
भ्रष्ट करत है सिष्ट को, शुद्ध दृष्टि दे पिष्ट ॥ १३ ॥
चेतन कर्म उपाधि तज, राग द्वेष को संग।
ज्यों प्रगटै परमातमा, शिव सुख होय अभंग ॥१४॥
ब्रह्म कहूं तो मैं नहीं, क्षत्री हूं पुनि नाहिं।
वैश्य शूद्र दोऊ नहीं, चिदानंद हूँ माहिं ॥ १५ ॥
जो देखै इहि नैनसों, सो सब विनस्यो जाय।
तासों जो अपनो कहै, सो मूरख शिर राय ॥१६॥
पुद्गल को जो रूप है, उपजै विनसै सोय।
जो अविनाशी आतमा, सो कछु और न होय ॥१७॥
देख अवस्था गर्भ की, कौन कौन दुःख होंहि।
बहुर मगन संसार में, सो लानत है तोहि ॥ १८ ॥
अधो शीश ऊरध चरन, कौन अशुचि आहार।
थोरे दिन की बात यह, भूली जात संसार ॥ १९ ॥
अस्थि चर्म मल मूत्र में, रैन दिना को वास।
देखें दृष्टि घिनावनो, तऊ न होय उदास ॥ २० ॥
रोगादिक पीड़ित रहै, महा कष्ट जो होय।
तबहू मूरख जीव यह, धर्म न चिन्तें कोय ॥ २१ ॥
मरन समय विललात है कोऊ लेउ बचाय।
जानै ज्यों त्यों जीजिये जोर न कछू बसाय ॥ २२ ॥
फिर नरभव मिलिबो नहीं, कियेहु कोटि उपाय।
तातैं बेगहि चेतहू, अहो जगत के राय ॥ २३ ॥
भैया की यह वीनती, चेतन चेतहिं विचार।
ज्ञान दर्श चारित्र में, आपो लेहु निहार ॥ २४ ॥
एक सात पंचास को, संवत्सर सुखकार।
पक्ष शुक्ल तिथि धर्म की, जै जै निशिपति वार ॥ २५ ॥

# ४—नाटक पचीसी

समदृष्टि जीव को स्व पर का यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे वह संसार की सब प्रवृत्ति को नाटक के तुल्य समझता है, आप ज्ञाता अर्थात् समभावी रहता है, भोक्ता अर्थात् रागी द्वेषी नही बनता।

## दोहा

कर्म नाटनृत तोर के भये जगत जिन देव।
नाम निरञ्जन पद लह्यो, करूं त्रिविधि तिहि सेव ॥ १ ॥
कर्मन के नाटक नटत, जीव जगत् के मांहिं।
तिनके कछु लच्छन कहूं, जिन आगम की छांहिं ॥ २ ॥
तीन लोक नाटक भवन मोह नचावन हार।
नाचत है जिय स्वांग धर, कर कर नृत्य अपार ॥ ३ ॥
नाचत है जिय जगत मे, नाना स्वांग बनाय।
देवनर्क तिरजंच मे, अरु मनुष्य गति आय ॥ ४ ॥
स्वांग धरै जब देव को, मानत है निजदेव।
वही स्वांग नाचत रहै, यह अज्ञान की टेव ॥ ५ ॥
औरन सों और हि कहै, आप कहै हम देव।
गहि के स्वाग शरीर को, नाचत है स्वयमेव ॥ ६ ॥
भये नरक में नारकी लागे करन पुकार।
छेदन भेदन दुःख सहै, यही नाच निरधार ॥ ७ ॥
मान आपको नारकी, त्राहि त्राहि नित होय।
यह स्वाग निर्वाह है, भूल परो मति कोय ॥ ८ ॥
[1]नित्यनिगोद* के स्वांग की, आदि न जाने जीव।
नाचत है चिरकाल के, भव्य अभव्य सदीव ॥ ९ ॥

---

१ अव्यवहारराशि।

* अनन्त जीवो के रहने का एक शरीर ( कंद, मूल आदि जिनमें अनन्त जीव हैं ) को निगोद कहते हैं।

इतर नाम गिगोद है, तहां वसत जे [2]हंस ।
ते सव स्वांग हि खेल के, वहुर धर्यो यह वंस ॥ १० ॥
उछरि उछरि के गिर परै, ते आवे इहि ठौर ।
मिथ्या दृष्टि स्वभाव धर, यह स्वांग शिरमौर ॥ ११ ॥
कवहू पृथ्वी काय में, कवहू अग्नि स्वरूप ।
कवहू पानी [3]पौन है, नाचत स्वांग अनूप ॥ १२ ॥
वनस्पती के भेद वहु, स्वांस अठारह वार ।
तामें नाच्या जीव यह, धर धर जन्म अपार ॥ १३ ॥
विकलत्रय के स्वांग में, नाचे चेतनराय ।
उसी रूप है परणये, वरने कैसे जाय ॥ १४ ॥
उपजे आय मनुष्य में धरै पंचेंद्री स्वांग ।
अष्टमदनी मातो रहै, मातो खाई भांग ॥ १५ ॥
पुण्ययोग भूपति भये, पाप योग भये रंक ।
सुख दुःख आप हि मान के, नाचत फिरे निशंक ॥ १६ ॥
नारी नपुंसक नर भये, नाना स्वांग रमाहिं ।
चेतन सो परिचय नहीं, नाच नाच खिरजाहिं ॥ १७ ॥
ऐसे काल अनन्त हुवे, चेतन नाचत तोहि ।
अजहूं आप संभारिये, सावधान किन ? होई ॥ १८ ॥
सावधान जे जिय भये, ते पहुंचे शिवलोक ।
नाच भाव सव त्याग के, विलसत सुख के थोक ॥ १९ ॥
नाचत है जग जीवजे, नाना स्वांग रमन्त ।
देखत है तिई नृत्य को, सुख अनन्त विलसंत ॥ २० ॥
जो सुख देखत होत हैं, सो सुख नाचत नाहिं ।
नाचन में सव दुःख है, सुख निज देखन माहिं ॥ २१ ॥

१—व्यवहारदारी । २—जीव । ३—पवन ।

नाटक मे सब नृत्य है, सार वस्तु कछु नाहिं।
ताहि विलोकों कौन है, नाचन हारे माहिं ॥ २२ ॥
देखे ताको देखिये, जाने ताको जान।
जो ताको शिव चाहिये, तो ताको पहिचान ॥ २३ ॥
प्रकट होत परमात्मा, ज्ञान दृष्टि के देत।
लोकालोक प्रमाण सब, छिन इक में लख लेत ॥ २४ ॥
भैया नाटक कर्म तें, नाचत सब संसार।
नाटक तज न्यारे भये, ते पहुंचे भवपार ॥ २५ ॥

## ५. आत्मस्वरूप के दोहे। (परमात्म छत्तीसी)

सब ज्ञान का सार एक आत्मस्वरूप को पहिचानना और अनुभव करना है। समकित का अर्थ ही आत्मानुभव है। आत्मा की हालत समझने से सत्यासत्य का ज्ञान होता है।

### दोहा

परम देव परमातमा, परम ज्योति जगदीश।
परम भाव उर आनके, प्रणमत हों नमि सीस ॥ १ ॥
एक जु चेतन द्रव्य है, तिन में तीन प्रकार।
बहिरातम अन्तर तथा, परमातम पदसार ॥ २ ॥
बहिरातम ताको कहै, लखै न ब्रह्म स्वरूप[1]।
मग्न रहै पर द्रव्य में, मिथ्यावंत अनूप ॥ ३ ॥
अंतर आतम जीवसो सम्यग्दृष्टी होय।
चौथे अरु पुनि बारवें, गुण थानकलों सोय ॥ ४ ॥
परमातम पद ब्रह्म को, प्रगट्यो शुद्ध स्वभाय[2]।
लोकालोक प्रमान सब, झलकै जिन में आय ॥ ५ ॥

---

१—आत्मा का स्वरूप। २—स्वभाव।

बहिरातमा स्वभाव तज, अंतरातमा होय।
परमातमपद भजत है, परमातम है सोय ॥ ६ ॥
परमातम सो आतमा, और न दूजो कोय।
परमातम को ध्यावतें, यह परमातम होय ॥ ७ ॥
परमातम यह ब्रह्म है, परम ज्योति जगदीश।
परसों भिन्न निहारिये, जोई अलख सोई ईश ॥ ८ ॥
जो परमातम सिद्ध में सो ही या तन माहिं।
मोह मैल दृग लागि रह्यो, तातैं सूझै नाहिं ॥ ९ ॥
मोह मैल रागादि को जा छिन कीजै नाश।
ता छिन यह परमातमा, आपहिं लहै प्रकाश ॥ १० ॥
आतम सो परमातमा, परमातम सो सिद्ध।
बीच की दुविधा मिट गई, प्रगट भई निज रिद्ध ॥ ११ ॥
मैंही सिद्ध परमातमा, मैं ही आतमराम।
मैं ही ज्ञाता ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम ॥ १२ ॥
मैं अनंत सुख को धनी, सुखमय मोर स्वभाय।
अविनाशी आनंदमय सो हौं त्रिभुवन राय ॥ १३ ॥
शुद्ध हमारो रूप है शोभित सिद्ध समान।
गुन अनंतकर संजुगत, चिदानंद भगवान ॥ १४ ॥

---

१—देखें। २—अरूपी वर्ण गंध रस स्पर्श रहित ज्ञानस्वरूप। ३—श्रेष्ठ तत्त्व आत्मा। ४ दर्शनशक्ति देखने की ताकत को। ५—विपरीत बुद्धि–मिथ्यात्व मोहनीय। ६—क्षण, समय। ७—जड़ और चेतन मिलकर चौरासी लक्ष जीवायोनी में अशुद्ध अवस्था होती है वह। ८—अनंत ज्ञान दर्शन। सुख शक्तिरूप चार गुण। ९—जानने वाला। १०—जाना जाय सो सर्व जड़ चेतन। ११—मेरा। १२—स्वभाव। १३—सहित।

जैसो शिव[1] खेतहि वसै, तैसो या तन माहिं।
निश्चय दृष्टि निहारतें, फेर रंच कहुं नाहिं ॥ १५ ॥
कर्मनके संयोगतें, भये तीन प्रकार।
एक आतमा द्रव्य को, कर्म नचावनहार ॥ १६ ॥
कर्म संघाती आदिके, जोर न कछू वसाय।
पाई कला विवेक[2] की, राग द्वेष विन जाय ॥ १७ ॥
कर्मन की जर[3] राग है, राग जरे[4] जर जाय।
प्रगट होत परमातमा, 'भैया' सुगम उपाय ॥ १८ ॥
काहे को भटकत फिरै, सिद्ध होनके काज।
राग द्वेष को त्याग दे, 'भैया' सुगम इलाज ॥ १९ ॥
परमातम पद को धनी, रंक भयो विलकाय।
राग द्वेष की प्रीति सो, जनम अकारथ[5] जाय ॥ २० ॥
राग द्वेष की प्रीति तुम, भूलि करो जिन रंच।
परमातम पद ढांकके, तुमहिं किये तिरजंच[6] ॥ २१ ॥
जप तप संयम सब भलो, राग द्वेष जो नाहिं।
राग द्वेष के जागते[7], ये सब सोये जाहिं ॥ २२ ॥
राग द्वेष के नासतें, परमातम परकाश।
राग द्वेष के भासतें, परमातम पद नाश ॥ २३ ॥
जो परमातम पद चहै, तो तू राग निवार।
देख सयोगी स्वामि को, अपने हिये विचार ॥ २४ ॥
लाख बात की बात यह, तोकों देइ बताय।
जो परमातम पद चहै, राग द्वेष तज भाय ॥ २५ ॥

---

१—मोक्ष में सिद्ध जीव। २—भेद ज्ञान। समकित। आत्मदर्शन। स्वानुभूति। ३—जड़ मूल। ४—नाश होने से। ५—जीव। ६—देव मनुष्य से अनंत गुना काल तिर्यंच में रहना पड़ता है जिससे। ७—बढ़े तो।

रागद्वेष के त्यागविन, परमातम पद नाहिं।
कोटि कोटि जप तप करो. सबहि अकारथ जाहिं ॥२६॥
दोप आतमा को यह है, रागद्वेष के संग।
जैसे पास मजीठ के, वस्त्र और ही रंग ॥ २७ ॥
तैसें आतम द्रव्य को, रागद्वेष के पास।
कर्म रंग लागत रहै, कैसें लहै प्रकाश ॥ २८ ॥
इन कर्मन को जीतिवो, कठिन बात है मीत[१]।
जड़ खोदे विन नहिं मिटै, दुष्टजाति विपरीत ॥ २६ ॥
लल्लोपत्तो[२] के किये, ये मिटवे के नाहिं।
ध्यान अग्नि परकाशके, होम देहु तिहि माहिं ॥३०॥
ज्यों दारू के गंज को, नर नहिं सकै उठाय।
तनक आग संयोगतैं, छिन इक मे उड़िजाय ॥ ३१ ॥
देह सहित परमातमा. यह अचरज की बात।
राग द्वेष के त्याग तैं, कर्मशक्ति जरजात ॥ ३२ ॥
परमातम के भेद द्वय, निकल[३] सकल[४] परमान।
सुख अनंत में एक से, कहि[५] वेको द्वय थान ॥ ३३ ॥
'भैया' वह परमातमा, सोही तुममें आहि।
अपनी शक्ति सम्हारिके, लखो[६] वेग ही ताहि ॥३४॥
रागद्वेष को त्याग के, धर परमातम ध्यान।
ज्यों पावे सुख संपदा, 'भैया' इम कल्यान ॥ ३५ ॥
संवत् विक्रम भूप को, सत्रह से पंचास।
मार्गशीर्ष रचना करी. प्रथम पक्ष दुतिजास* ॥३६॥

---

१—मित्र। २—टालटूल, सामान्य उपाय।
३—सिद्ध। ४—अरिहंत। ५—वही। ६—देखो।
* "ब्रह्म-विलास" में से साभार उद्धृत

# "समकित" पर पूर्वाचार्यों के वचनामृत

## ( चौपाई तथा दोहे )

सुन समकित स्वरूप की बातें। मिटै मोह की सर्वां जातें।
जोग साथ सिद्धान्त विचारे। आतमगुण परगुण निरवारे ॥१॥

सम्यक्त्व औषध लगे, मिटे कर्म को रोग।
कोयला छोड़े कालिमा, होत अग्नि संयोग ॥ २ ॥
समकित रूपी चांदनी, जिहँ घर में परकाश।
तिहँ घट में उद्योत है, होत तिमिर को नाश ॥ ३ ॥
समकित रूप अनूप है, जो पहिचाने कोय।
तीन लोक के नाथ की, महिमा पावे सोय ॥ ४ ॥
कूकस विषय विकार सम, मत भख सूढ़ गँवार।
समकित रस तू चाखिले, गुरु-मुख करि निर्धार ॥ ५ ॥
मन वच तन थिरते हुए, जो सुख समकित माँहि।
इन्द्र नरेंद्र फनीन्द्र के, ता समान सुख नाहि ॥ ६ ॥
समकित से प्रभु बनत है, समकित सुख का मूल।
समकित चिन्तामणि तजी, मति भटके कहुँ भूल ॥ ७ ॥
बिन सम्यक्त्व विचार के, तू जंगल को रोज।
मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥ ८ ॥
समकित के जाने बिना, मति भूसै ज्यों स्वान।
लोक गडरिया चाल तजि, अब आपो पहिचान ॥ ९ ॥
जगत मोह फाँसी प्रबल, करे न सत्य उपाय।
कर संगत सम्यक्त्व की, सहज मुक्त हो जाय ॥ १० ॥
अति अगाध संसार-नद, विषय नीर गम्भीर।
समकित बिन पार न लहै, कोटि करहु तदबीर ॥ ११ ॥

विषय वासना तजन ज्यों, आवें समकित ईश।
अष्टुठ का उस समय में, छिन में होय छतीस ॥ १२ ॥
गुरु अंधे शिष अंध है, लखे न बाट कुबाट।
बिन समकित भटकत फिरै, खुले न हृदय-कपाट ॥१३॥
आगम ज्ञान सुनुव्वे जंह, होय न तत्त्व,अग्यान
तहां न समकित सम्भवे, यह अथार्थ परमान ॥ १४ ॥
है अरु ज्ञायक तत्त्व का, जहां शुद्ध सरधान।
सोही सम्यक् दर्श है, दूषण रहित प्रधान ॥ १५ ॥
जहां न रागादिक दिशा, सो सम्यक् परिणाम।
यांते समकित वंत को, कह्यो निरास्रव नाम ॥ १६ ॥
जाण्यो दावानल सदृश, नारी धन समुदाय।
तातें जो न्यारे रहे, ते जीव समकित पाय ॥ १७ ॥
विष हलाहल सारिखो, पुद्गल संग कहाय।
तातें जो न्यारा रहे, ते जीव समकित पाये ॥ १८ ॥
जीवादिक नव तत्त्व को, सांचो अनुभव पाय।
श्रद्धा संवेगो करी, ते जीव समकित पाये ॥ १९ ॥
पाँचों द्रव्य अचेत हैं, जीव चेतना-वंत।
भेद ज्ञान करि जो लखे, सो नर समकितवंत ॥२०॥
समकित का मूल जानिये, सत्य वचन साक्षात।
साँचे में समकित बसे, माया में मिथ्यात ॥ २१ ॥
सकल पदारथ में अरथ, आप रूप अवधारि।
निर्विकल्प में लीन है, सम्यक् दृष्टि निहारि ॥ २२ ॥
सम्यक् दृष्टी जीव के, जगी जथारथ दृष्टि।
नय विलास में जगमगे, केवल गुण की वृष्टि ॥ २३ ॥
जो समदृष्टी जीव है, क्षयोपसम को पाय।
न्यारा द्रव्य स्वरूप को, लखे जथारथ भाय ॥ २४ ॥

"स्वल्पार्घ ज्ञान-रत्नमाला" का षष्ठम रत्न

❀ ॐ ❀

श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

311

*Do to others as you would have others do to you*

आश्चर्यजनक

# स्मरणशक्ति

और

## उसके अद्भुत कर्तव्य

अनुवादक व सम्पादक—

"चैतन्य"

❀ ॐ ❀
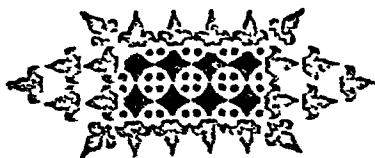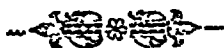
# स्वल्पार्घ ज्ञान-रत्नमाला

## के नियम
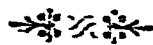
( १ ) इस माला के प्रत्येक रत्न का स्वल्प मूल्य रखा इसका मुख्य उद्देश्य है।

( २ ) जो महाशय ॥=) शुल्क (प्रवेश फ़ीस) जमा कराक माला के सर्व ग्रन्थरत्नों के या १।) जमा कराकर अभीष्ट ( म चाहे ) ग्रन्थरत्नों के स्थायी ग्राहक बन जाते हैं उन्हें माला क प्रत्येक ग्रन्थरत्न पौने मूल्य में ही ( अर्थात् ।) प्रति रुपय कमीशन काट कर ) दे दिया जाता है।

( ३ ) ज्ञान दानोत्साही महानुभावों को धर्मार्थ बांटने के लिये किसी ग्रन्थरत्न की अधिक प्रतियाँ लेने पर लगभग लागत मूल्य पर या लागत से भी कम मूल्य पर बहुत कम निछावर में ( अर्थात् कम से कम १० प्रति लैने पर ।-), ५० प्रति लैने पर ।=) १०० पर ।≡) और २५० पर ॥) प्रति रुपया कमीशन काट कर ) दे दिये जाते हैं।

( ४ ) माला में प्रकाशित हुए या होने वाले ग्रन्थरत्नों के नाम, उनका सविस्तर विषय और माला के विशेष नियमादि दो पैसे का टिकट डाक महसूल के लिये आने पर या सूचना मिलने पर बैरिंग डाक से भेजे जा सकते हैं।

—शान्तिचन्द्र जैन,

वीर प्रेस बिजनौ

॥ ॐ ॥

श्री ऋषभनिर्वाण सम्वत् ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९१९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९९८०४७१ ।

आश्चर्य जनक

# स्मरण शक्ति

और

## उसके अद्भुत कर्तव्य ।

अनुवादक व सम्पादक—

कोषकार श्रीयुत् मास्टर बिहारीलाल जी जैन, "चैतन्य" (बुलन्दशहरी)

लेखक 'श्री वृहत् जैनशब्दार्णव' नामक शब्दार्थ कोष व "सं० हिन्दी व्याकरण-शब्द रत्नाकर" नामक हि० व्याकरण, शब्दकोष, अग्रवाल इतिहास आदि अनेक हिन्दी ग्रन्थ व हनुमान चरित्र नाविल (उपन्यास) व भोजप्रबन्ध-नाटक आदि चालीस से अधिक उर्दू ग्रन्थ ।

प्रकाशक—

शान्तिचन्द्र जैन बुलन्दशहरी

"वीर प्रेस" बिजनौर में मुद्रित ।

प्रथमावृत्ति १००० } श्रीशुद्ध वीर नि० सं० २४५१ { मूल्य ≈)

ॐ

श्रीमद् राजचन्द्र जी के सम्बन्ध में

# महात्मा गांधी जी

के

## सभापति की हैसियत से अहमदाबाद

को

"राजचन्द्र-जन्यती" के समय के वाक्य

"मेरे जीवन पर श्रीमद् राजचन्द्र जी भाई का ऐसा स्थायी प्रभाव पडा है कि मै उसका वर्णन नही कर सकता। उनके विषय मे मेरे गहरे विचार है। मैं कितने ही वर्षो से भारत मे धार्मिक पुरुष की शोध में हूं, परन्तु मैने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत में अबतक नहीं देखा जो श्रीमद् राजचन्द्र जी भाई के साथ प्रतिस्पर्धा मे खड़ा हो सके। उन मे ज्ञान, वैराग्य, और भक्ति थी, ढोंग, पक्षपात या रागद्वेष न थे। उनमे एक ऐसी महती शक्ति थी कि जिस के द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसङ्गका पूर्णलाभ उठा सकते थे। उनकेलेख अँग्रेज़ तत्व विज्ञानियोंकी अपेक्षा भी विचक्षण, भावपूर्ण और आत्मदर्शी हैं। यूरुपके तत्व ज्ञानियों में टालसटाय को मैं प्रथम श्रेणीका और रस्किन को दूसरी

श्रेणी
का विद्वान
समझता हूं,
पर, श्रीमद् राज
चन्द्र भाईका अनु-
भव इन दोनों से भी
बढ़ा चढ़ा था इन महा-
पुरुष के जीवन के लेखों को
आप अवकाश के समय पढ़ेंगे
तो आप पर उनका बहुत अच्छा
प्रभाव पड़ेगा। वेप्रायः कहा करतेथे
कि मैं किसी वाड़ेका नहीं हूँ और न
किसी वाडेमें रहनाही चाहताहूँ। यहसब
तो उपधर्म मर्यादित हैं और धर्मतो असीम
है कि जिसकी व्याख्या ही नहीं होसकती। वे
अपने जवाहरातके धन्धेसे विरक्त होते थे कि
तुरन्त पुस्तक हाथ में लेते। यदि उनकी इच्छा
होती तो उन में ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे
प्रतिभाशाली बैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते।
यह अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु मेरे मन पर उनकी छाप है।
इन की विचक्षणता दूसरों पर अपनी छाप लगा देती थी।

ॐ

॥ श्री जिनेन्द्रायनमः ॥

# आश्चर्य-जनक स्मरणशक्ति

## १. आजकल के हिंदुस्थानी।

(ता० २२ मई सन् १९०१ ई० के इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले सुप्रसिद्ध अँग्रेजी दैनिकपत्र पायोनियर (Pioneer) के "इण्डियंस औव टुडे" (Indians of To-day) शीर्षक लेख का अनुवाद)
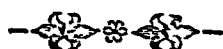
-❦-❀-❦-

हम श्रीमत् महाशय रायचन्द्र *रावजी भाई कवि के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त समाचार बम्बई समाचार पत्रों से लेकर हाल ही में प्रकाशित कर चुके हैं। यह व्यक्ति एक

---

* इन महाशयका जन्म काठियावाड़ गुजरातके ववाणिया नामक स्थान मे शुभ मि० कार्तिक शु० ५ विक्रमी सं० १९२४ सन् १८६७ ई० को हुआ और शरीरोत्सर्ग ३३ वर्ष ५ मास ५ दिन की वय मे शुभ मि० वैशाख कृ० ५ वि० स० १९५८ (९ अप्रेल सन् १९०१ ई०) को काठियावाड प्रान्त के "राजकोट" स्थान में हुआ। —अनुवादक

होनहार जैन रिफार्मर था जिसने अभी २ ता० ९ अप्रैल सन् १९०१ ई० को अर्थात् आज से केवल एक मास तेरह दिन पहिले राजकोट ( काठियावाड़ गुजरात ) स्थानसे अपनी पूर्ण युवा अवस्था में केवल ३३ वर्ष की वय में इस असार संसार से कूच किया। इस महानुभाव ने केवल १९ वर्ष की वय में भारत वर्ष का एक ही शतावधानी कवि होने में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। "अवधान" शब्द का अर्थ "मनः संयोजन" या "सावधानी" है। "शतावधान" का अर्थ "एक साथ १०० बातों का मनः संयोजन" है। कोई कवि "शतावधानी" की उपाधि उस समय पाता है जब कि वह अपनी स्मरण शक्ति में एकदम १०० बातें स्थिर रखने की योग्यता रखता हो। वे बातें चाहे अन्यान्य अनेक भाषाओं की पद्य-रचना में हों जो अचानक बिना किसी क्रम के जहां तहां से बोलकर सुना दी गई हों या शतरंज, गंजफा आदि खेलों या अन्यान्य किसी ही विषय से सम्बन्ध रखती हों और फिर वे सब ज्योंकी त्यों सुने हुए क्रमानुसार जिह्वाग्र दुहरादी जावें। और उसी समय के अन्दर घन्टी बजने की आवाजें भी गिनली जावें तथा गणित के बड़े बड़े प्रश्न भी कंठाग्र ही निकाल दिये जावें। इस स्मरण शक्ति के करतबों का महत्त्व जिन में तुरन्त जिह्वाग्र पद्य-रचना कर देना भी सम्मिलित है शब्दों द्वारा बताने की अपेक्षा स्वयम् अपने

नेत्रों से उन्हें देख लेने पर और भी अधिक हृदयाङ्कित हो सकता है ।

श्रीमद् रायचन्द्र स्मरण शक्ति के व्यक्त होने और आत्मोत्कर्ष प्राप्त करने की एक जीती जागती मिसाल ( उदाहरण ) था । उसके प्रशंसक उसे अपने समय और देश का एक सबसे बड़ा धर्मज्ञ और धर्माध्यक्ष समझते थे और जैन विद्वान् मण्डली तो इस पंचमकाल ( कलिकाल ) का एक नवयुवक फिलासफर ( Philosopher दार्शनिक ) जानते थे । वह काठियावार प्रान्त के एक 'ववाणिया' नामक स्थान में सन् १८६७ ई० में एक वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ था । जब वह स्कूल में विद्याध्ययन करता था तभी उसने अपनी स्मरण शक्ति का असाधारण प्रकाश दिखाया । उसने अपना उर्दू कोर्स का पाठ जिसे पूर्ण करने में साधारणतयः छह वर्ष लगते है केवल दो ही वर्ष में पूर्ण कर दिया । उसके विद्या गुरु उसे स्मरण शक्ति और बुद्धि-पटुता का एक अद्भुत या अलौकिक व्यक्ति समझते थे । बहुत ही छोटी वय में उसने कविता की ओर अपनी हार्दिक रुचि प्रगट की । केवल नव वर्ष की वय में उसने संक्षिप्त रामायण और महाभारत छन्द बद्ध ( पद्यात्मक ) रच डाली । बारह वर्ष की वय में उसने तीनसौ (३००) श्लोक क्लाक घड़ी के सम्बन्ध में केवल तीन दिन में बना डाले । इससे प्रकट है कि श्री

मद् रायचन्द्र माता के उदर से ही कवि उत्पन्न हुआ था। वह कई एक मासिक समाचार पत्र भी मंगाकर देखने लगा और स्त्री शिक्षा पर एक अच्छा लेख लिखा।

जब वह तेरह वर्ष का हुआ तो अंग्रेजी भाषा सीखने के लिये राजकोट को गया। १४ या १५ वर्ष की वय में वह "मोर्वी" में पहुँचा और वहां अपने मित्रों की मंडली में अष्टावधानी करतब दिखाया। पश्चात् जब वह अष्टावधानी से द्वादशावधानी बन गया तब उसने अपनी इस अद्भुत योग्यता का दृश्य एक पब्लिक सभा में दिखाया। उसने शनैः शनैः अपनी स्मरण शक्ति को इतना बढ़ाया कि वह द्वादशावधानी से षटदशावधानी और फिर षटदशावधानी से द्वापंचाशतावधानी ( ५२ अवधानी ) और अन्त में १९ वर्ष की वय में वह "शतावधानी कवि" बन गया।

तत्पश्चात् वह बम्बई गया और फ्रेम जी कावसजी इन्स्टीट्यूशन (Institution) में तथा अन्य कई स्थानों में उसने सर्वसाधारण के सन्मुख अपने शतावधानी करतब दिखाये। स्मरण शक्ति के इन आश्चर्योत्पादक अद्भुत करतबों पर बम्बई पब्लिक ने उसे एक स्वर्ण का तमगा ( स्वर्ण पदक ) अर्पण किया और 'साक्षात सरस्वती" की उपाधि दी। सुप्रसिद्ध सोश्यल रिफारमर मिस्टर मलाबारी ने यह कृत्य स्वयं देखकर अपने 'इन्डियन स्पेक्टेटर'

(Indian Spectator) नामक समाचार पत्र में एक बहुत ही प्रशंसनीय लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्हों ने श्रीमद् रायचन्द्र को स्मरण शक्ति और बुद्धि परायणता का एक अद्भुत पुतला बताया ।

इससे कुछ समय पश्चात बम्बई हाईकोर्ट के "चीफ-जस्टिस सर चार्ल्स सारजन्ट, डाक्टर पिटरसन, मिस्टर याजनक और ऐसे ही कुछ अन्य प्रसिद्ध महानुभावों की प्रार्थना पर श्रीमद् की शतावधानी योग्यता देखने के लिये एक महत् पब्लिक सभा का प्रबन्ध किया गया । सारी पब्लिक ने तथा समाचारपत्रों ने उस अमानुषीय दैवी शक्ति धारण युवक के सम्बन्ध मे अपने अपने बहुत ही उच्च विचार बड़े आश्चर्य भरे शब्दों में प्रकट किये ।

सर चार्ल्स ने उससे यूरोप देश जाने और वहां अपनी अद्भुत शक्तियां दिखाने की सम्मति दी परन्तु उसने ऐसा करना स्वीकृत नहीं किया क्योंकि वह यह समझता था कि मै "यूरोप देश" में ऐसा पवित्र जीवन नहीं बिता सकूंगा जैसा कि एक जैन धर्मावलम्बी पुरुषको बिताना चाहिये ।

तत्पश्चात् एक अचानक परिवर्तन उस के विचारों मे उपस्थित हुआ । बीस वर्ष की वय मे वह पब्लिक की दृष्टि से सर्वथा ओझल होगया । उसने अपने आत्मिक बल और अपनी इतनी बड़ी योग्यता स्वधर्मावलम्बियों और दूर

स्थानों में बसने वाले मनुष्यों की धार्मिक शिक्षा में लगाने का पक्का विचार किया। अपनी बहुत ही छोटी वय से वह ग्रन्थ स्वाध्याय का बहुत ही लोलुपी था। उसने छहों दर्शन शास्त्र अर्थात् न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त और अन्यान्य पूर्वीय व पाश्चिमीय दार्शनिक ग्रन्थ भी पढ़े थे। यह बात यद्यपि बड़ी आश्चर्यजनक जान पड़ेगी तथापि है वास्तव में सत्य कि किसी ग्रन्थ का विषय भले प्रकार समझ कर याद कर लेने के लिये उसे वह ग्रन्थ केवल एकही वार पढलेना पर्याप्त होता था और संस्कृत व प्राकृत भाषाओं को किसी स्कूल व पाठशाला आदि में नियमित रूपसे पढ़े विना ही वह इन भाषाओं के ग्रन्थोंके विषय को भले प्रकार समझ लेता था तथा दूसरों को भी बड़ी उत्तमता के साथ उसी रीतिसे समझा सकता था जैसी कि उन विषयोंके जानकार किसी अच्छे विद्वान से आशा की जा सकती है।

श्रीमद् ने अब अपने ज्ञान-भण्डार से अन्य व्यक्तियों को लाभ पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में अपने बहुत से शिष्य उत्पन्न कर लिये, जिन्हें उसने जैनदर्शन के अध्ययन कराने में बड़ी सहायता दी।

जब कि उसकी वय २१ वर्ष की थी तो उसने व्यापार का कार्य भी आरम्भ कर दिया और बहुत थोड़े ही समय में वह एक बड़ा योग्य जोहरी बन गया तो भी इस कार्य

को उन्नति देने की चिन्ताओं ने उसके धार्मिक विचारों या दार्शनिक ग्रन्थों के पठन पाठन में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली। व्यापार के कार्य्यों में लगे रहने के समय में भी वह चुपचाप बड़ी शान्ति के साथ अपनी ज्ञान-शक्ति वा आत्मिक बल को बढ़ाता ही रहता था और इसलिए सदैव उसके आस पास उसके पढने की पुस्तके रक्खी मिलती थीं। हर वर्ष में कुछ महीनों के लिए अपनी दूकान पर काम करने वालों को यह आज्ञा देकर कि जबतक मैं न लिखूं मुझ से किसी प्रकार का पत्र व्यवहार आदि मत करना, वह बम्बई से चला जाता और गुजरात देश के वनों में किसी एकान्त स्थान में जा बैठता। वहां योग और ध्यान में बहुत से दिन और सप्ताह व्यतीत कर देता। वह सदैव अपना पता निशान छिपाने का बहुत प्रयत्न करता था, तो भी बहुत से लोग उस का उपदेश सुनने की अभिलाषा से किसी न किसी प्रकार उसका पता प्रायः निकाल ही लेते थे।

अपने दश वर्ष के व्यापारिक जीवन के पश्चात् जब उसे यह ज्ञात हुआ कि जिस प्रयोजन के लिये उसने यह कार्य्य प्रारम्भ किया था वह यथाआवश्यक सिद्ध हो गया तो अब उसने उससे अपना सम्बन्ध तोड़ देने का विचार किया।

विद्याध्ययन, धन सम्पत्ति, समाज सेवा, परिवार सुख—

माता पिता, एक विवाहित सहोदर भाई, चार विवाहित सहोदर बहिनें, एक धर्मपत्नी, दो सुपुत्र और दो सुपुत्रियां जो सर्व ही उस समय तक जीवित थे—इन सब बातों का अच्छा आनन्द प्राप्त कर चुकने पर वह इस असार संसार को त्यागने और मुनि व्रत धारण कर पूर्ण धार्मिक जीवन कहीं वनो में जाकर बिताने का उद्यम कर ही रहा था कि इसी अवसर पर जब कि उसकी वय का केवल ३२ वां ही वर्ष था उसका स्वास्थ्य कुछ बिगड़ने लगा। अच्छे से अच्छे वैद्यों ने रोग निवृत्ति के लिये अपनी शक्ति भर प्रतीकार किया जिसमे एक बार तो उसका रोग उपशान्त हुआ और स्वास्थ्य सुधार की आशा बंधी परन्तु शोक है कि रोग ने फिर ऐसा पलटा खाया कि सब प्रकार से पूर्ण प्रतीकार करने पर भी वह एक वर्ष से कुछ अधिक रोग ग्रसित रहकर ता० ९ अप्रैल सन् १९०१ को राजकोट स्थान (काठियावाड़) में बड़े शान्त हृदय से इस विनाशीक शरीर को परित्याग करगया। इतने अधिक समय तक के कष्ट दायक रोग में उसने एक बार भी कभी आह तक नहीं निकाली किन्तु हर समय प्रसन्न चित्त ही दीख पड़ता था जब कि उसके निकटवर्ती सर्व ही अन्य स्त्री पुरुष बड़े सचिन्त्य और मलीन मुख दृष्टिगोचर होते थे। बहुत से पद्यात्मक लेखों के अतिरिक्त उसने कईएक पुस्तकें भी लिखीं है-जिन में से एक मोक्षमाला नामक हाल ही में प्रकाशित

हुई है। यह पुस्तक × जैन दर्शन के महत कोष की एक कुंजी है जिसे उसने अपनी १७ वर्ष की वय में लिखा था। उसके प्रकाशित ग्रन्थोंमें से "आत्मसिद्ध्युपाय" + "पंचास्तिकाय" तथा कई एक 'आध्यात्मिक लेख हैं। जैनधर्म और जैनदर्शन में सब से अधिक उपयोगी और आवश्यक वस्तु "कर्म सिद्धान्त" है जिसका कि वह पूर्ण श्रद्धानी था। वह इस सिद्धान्त पर एक सप्रमाण ग्रन्थ और कई एक अन्य ऐसे लेख लिखने का अभिलाषी था जो अन्तिम जैन तीर्थंकर "श्री महावीर स्वामी" के उपदिष्ट सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करावे परन्तु दुर्भाग्यवश अचानक अस्वस्थ हो जाने के कारण वह अपनी यह मनोकामना पूर्ण करने में असमर्थ रहा। उसने कईएक कठिन कठिन और पेचदार धार्मिक सिद्धान्तों की गुत्थियां भी खोलीं। जैनधर्म और बौद्धमत के साहित्य को भले प्रकार अवलोकन करने के पश्चात् उस ने बतलाया

---

× यह 'मोक्षमाला' नामक ग्रन्थ श्रीमद् ने गुजरात प्रांत के "नादियाद" नामक स्थानमें सन् १८९४-९५ में लिखा था।

—अनुवादक

+ श्रीमद् राजचन्द्र जी लिखित "आत्मसिद्धि" और "भावनाबोध" नामक ग्रन्थों की कई कई आवृतियां "रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला" मे "श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई" से और "आत्मसिद्धि" अंग्रेज़ी अनुवाद सहित कोप्रथम आवृत्ति देवेन्द्र लाइब्रेरी सीरीज़ में "जैनहोस्टल, इलाहाबाद" से प्रकाशित हो चुकी है।

—अनुवादक

था कि 'महावीर' और 'बुद्ध' यह दोनों अलग २ व्यक्ति थे। उनके सिद्धान्त सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं और यूरोपियन विद्वानों का यह विचार कि जैनधर्म बौद्धमत की एक शाखा है सर्वथा असत्य और निर्मूल है। वह बतलाता है कि जैनधर्म के दो सहस्त्र वर्ष पुराने हस्त लिखित ग्रन्थों में खुले शब्दों में लिखा है कि श्री 'महावीर स्वामी' और 'महात्मा बुद्ध' धार्मिक सिद्धान्तों में एक दूसरे के विरोधी थे। श्रीमद् रायचन्द्र का यह भी कहना है कि जैन धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय 'दिगम्बर' और 'श्वेताम्बर' देश की केवल देहङ्गी अवस्था का फल हैं।

श्रीमद् रायचन्द्र के उपर्युक्त जीवन का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस बात को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है कि वह हर प्रकार से एक अद्भुत पुरुष था। उसका मानसिक बल और आत्मिक शक्तियां असाधारण थीं जो उसके आचार विचारों की पवित्रता से मिलकर और भी अधिक चित्ताकर्षक और हृदय ग्राही हो जाती थीं। उसके हृदय की पवित्रता, व्यापारिक कार्यों की सत्यता, अनेक विरोधों पर भी सचाई पर स्थिर रहने की दृढ़ता और धार्मिक व सामाजिक नियमों को हर अवस्था में पालन करने की अभिरुचि. यह सब ऐसी बातें थीं जो उन मनुष्यों को भी ऐसाही करने के लिये उभारती थीं जिन्हें उससे मिलने जुलने का कुछ भी शुभ अवसर प्राप्त

होता था। उसके वाह्य आचार विचार और क्रियायें दिखावे की नहीं थीं किन्तु उसकी मांसिक पवित्रता और हृदय की गम्भीरता उसके स्वाभाविक गुण थे। अनेक मत मतान्तरों और दर्शन शास्त्रों सम्बन्धी उसका उच्च कोटि का ज्ञान और हर विषय को वहुत ही उत्तम रीति से सरलता के साथ समझाकर हृदयांकित करदेने की आश्चर्योत्पादक योग्यता, यह ऐसे गुण थे जिनके कारण हर प्रकार के मनुष्य उसकी बातें श्रवण करने के लिये वड़े उत्सुक रहते थे और वड़े ध्यान से उसके मुख से निकले शब्दों को सुनते थे। कष्ट दायक अवसरों पर उसकी सहन शीलता वहुत ही प्रशंसनीय थी। उसका मांसिक वल इतना पवित्र, इतना वढाहुआ और इतना प्रभावशाली था कि जो लोग उसके पास उससे कुछ शास्त्रार्थ करने के लिये वड़े आवेश में भरे केवल वितण्डावाद के अभिप्राय से मानके शिखरपर चढ़े आते थे वे अपमानित और वहुत ही लज्जित होकर विस्मित चित लौट जाते थे।

श्रीमद् रायचन्द्र भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था पर वहुत ही शोक किया करता था और सदैव उसकी उन्नति का इच्छुक था। आजकल के सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर उसके विचार सर्वथा स्वतन्त्र थे। वह कहा करता था कि जैनों में जातिपांत का अन्तर होने की कोई आवश्यकता न होनी चाहिये क्योंकि जो जैन है उन्हें एकसा ही जीवन

बिनाना बनाया गया है। सुधार के सम्पूर्ण कार्यों में वह उन सुधारकों का पदस्थ सर्वोच्च समझता था जो पूर्ण पवित्र हृदय से बिना किसी प्रकार का अहंकार किये बड़ी शान्ति के साथ कार्य करते रहें। वह वर्तमान समय के शिक्षकों व उपदेशकों में यह भारी त्रुटि देखता था कि वे प्रायः ऐसा भेद भाव सिखाते हैं जिससे एकता होने के बदले उल्टी जयचन्दी उत्पन्न होजाती है। समय परिवर्तन का विचार कुछ नहीं करते। अपने को परमात्मा का अवतार मानने की अभिलाषा में बहुधा अपने वास्तविक पद को भूल जाते हैं और अपने में उन शक्तियों के होने की डींग मारते है जो वास्तव में उन में नहीं हैं।

वास्तव में वह अपनी वय के अन्तिम वर्षों में अपने जीवन का उद्देश्य बड़ी सावधानी और योग्यता के साथ पूर्ण करने के उद्योग में लगा हुआ था, परन्तु दुर्भाग्य से मृत्यु ने उसे आघेरा जिससे वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफलीभूत न हो सका तो भी बम्बई प्रान्त के जैनों में उसने नव जीवन शक्ति कुछ न कुछ अवश्य डालदी। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि यदि उसकी अकाल मृत्यु न होकर वह दीर्घजीवी होता तो वर्तमान समय के जैनधर्मियों में वह एक बहुत बड़ा परिवर्तन

उत्पन्न कर देता और लोगों को सिखा देता कि श्री महावीरस्वामी की वास्तविक शिक्षा क्या थी।

वह जैनियों की जुदी जुदी आम्नायों और धार्मिक विचारों में कुछ अन्तर पड़जाने से उत्पन्न होजाने वाले पन्थों को दूर करके सर्व को एक ऐसे मार्ग पर लाने का अभिलाषी था जिसकी शिक्षा वास्तव में श्री महावीरस्वामी ने दी थी। देशको इससे एक बहुत बड़ा धक्का पहुँचा कि ऐसी पवित्र और लाभदायक आत्मा का सम्बन्ध समय से पूर्व ही यहां से टूट गया। उसकी स्मृति स्थिर रखने के लिये उस के कुछ सहधर्मियों ने लगभग ११ सहस्र रुपया एकत्रित कर लिया है और इसे अभी और बढ़ाये जाने के लिये प्रयत्न होरहा है। आशा है कि जैनधर्म सम्बन्धी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ जो बहुत से जैन ग्रन्थभण्डारों में अभी तक बिना छपे रहगये हैं संग्रह कर २ के प्रकाशित कराने के लिये शीघ्रही एक सभा उसके ही नामपर स्थापित होगी और उस के बहुत से शिष्यों में से कोई न कोई उत्साही शिष्य उसके पवित्र जीवन और उसके कार्यों के सम्बन्ध में विशेष समाचार शीघ्र ही सर्व साधारण के सन्मुख उपस्थित करेगा।

नोट—श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमास्वामि, श्रीनेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, श्री अकलंकदेव स्वामी श्री हेमचन्द्राचार्य आदि महान् आचार्यों के रचे जैनतत्त्वग्रन्थों का सर्व साधारण में प्रचार करने के लिये जो "श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल" की

स्थापना कविराज 'श्रीमद्रायचन्द्रजी' ने की थी उसी मण्डल के द्वारा उक्त कविराज के चिरकाल स्मरणार्थ "रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला" नाम की एक ग्रन्थमाला उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् शीघ्र ही स्थापित होगई जिस में उनकी इच्छानुसार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पंचास्तिकाय, ज्ञानार्णव, सप्तभंगी तरंगिणी बृहद्द्रव्य संग्रह, द्रव्यानुयोग तर्कणा, सभाष्य तत्वार्थाधिगम सूत्र, स्याद्वादमंजरी, गोम्मटसार जीवकाँड, गो० कर्मकाण्ड प्रवचनसार, मोक्षमाला ( गुजराती भा० ) भावनाबोध ( गुजराती भा० ), परमात्मा प्रकाश, लब्धिसार क्षपणासार इत्यादि अनेक ग्रन्थ संस्कृत छाया या संस्कृत टीका तथा हिन्दीभाषा टीका सहित शा० रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, ऑनरेरी व्यवस्थापक, "श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल" जौहरी बाजार खाराकुवा पो० नं० २ बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

—अनुवादक

इत्यलम्

ॐ

# २. स्मरणशक्ति के अद्भुत कर्तब

मिस्टर वीर चन्द गांधी, बी० ए०, एम० आर० ए० एस०, के वाशिंगटन ( उत्तरीय अमरीका ) नामी नगर मे सन् १८९३ में दिये हुए एक अंग्रेज़ी व्याख्यानका अनुवाद ॥
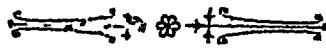
श्रीमान् प्रोफैसर मैक्समूलर महाशय अपने एक "साइकालोजिकल रिलिजन्स" ( Psychological Religions ) नामक ग्रंथ में लिखते हैं:-

"जो मनुष्य मानवी स्मरण शक्ति के बल से, जब कि वह पूर्णतयः सुरक्षित रक्खी गई हो या किसी न किसी प्रकार नष्ट भ्रष्ट न की गई हो जैसी कि आजकल हमारी नष्ट हो चुकी हैं, नितान्त अनभिज्ञ है उनके लिये सम्भव है कि यह बात अप्रमाणीक या असम्भव जान पडे कि भारतवर्ष की प्राचीन साहित्य सम्बन्धी रचनायें इतनी अधिक और इतनी विशाल तथा महत्वपूर्ण हुई हों पूर्व इसके कि वह अन्त मे लिखितरूप मे लाई गई हो।"

मानवी स्मरण शक्ति के आश्चर्योत्पादक सम्भवित बल पर श्रद्धा उत्पन्न होना आजकल के समय में अवश्य कुछ न कुछ कठिन होगा क्योंकि वर्तमान् काल की हमारी आत्म विद्या और आध्यात्मिक ज्ञान इस शक्ति को बढ़ाकर उस

श्रेणी तक पहुँचाने का कोई मार्ग नहीं सिखाते जिसे हम आत्मसिद्धि या ऋद्धि का नाम दे सकें। कभी २ हम अप्राकृतिक साधनों से स्मरण शक्ति को बढ़ाने की रीतियां किसी २ वैज्ञानिक पत्रों या पुस्तकों में प्रकाशित देखते हैं परन्तु यह रीतियां प्रायः किसी बात को दुहरा सकने की साधारण रीतियों से भी अधिक कठिन और दुःसाध्य पाई जाती हैं–इतनी कठिन कि जब कभी कोई मनुष्य इस विधि की कुछ समय तक परीक्षा करके देखता है और अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि में सर्वथा अफलीभूत होता है तो वह स्मरणशक्ति को उस सीमा तक पहुंच सकने की योग्यता को जिससे कोई अतिशय चमत्कृत बात दिखाई जासके अवश्य असम्भव जानता है या संशय-आत्मिक दृष्टि से देखता है।

भारतवर्ष के इतिहास में स्मरण शक्ति के अद्भुत चमत्कारों के बहुआश्चर्योत्पादक उदाहरण अनेक पाये जाते हैं। जैनधर्म जो बहुत ही प्राचीन और एक सभ्यतापूर्ण धर्म है उसके साहित्य में ऐसे उदाहरण बहुत अधिकता से मिलते हैं।

(१) एक सुप्रसिद्ध कोषकार जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र उनमें से एक है जिसने कोष, व्याकरण, छन्द, इतिहास आदि अनेक विषय सम्बन्धी बड़े २ महान् ग्रन्थों की रचना की है। वह ईसा की ग्यारवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था।

वह पश्चिमी भारतवर्ष के उत्तरी भाग में जन्मा था। उसके माता पिता जैन थे।

एकदा उसकी माता उसे अपने साथ एक जैन मुनि के निकट लेगई। उस समय उसकी वय केवल छह वर्ष की थी। वह श्री मुनि अपने आश्रम में एक उच्च आसन पर बैठे थे उन्होंने उस बालक की ओर बड़ी गम्भीर दृष्टि से देखा। वह बालक बजाय इसके कि उन मुनि की कुछ विनय करता उन के पास उसी उच्च आसन पर जाकर चैन से लेटगया जिस से उन मुनिने अपने निमित्त ज्ञान से विचार कर जाना कि यह बालक एक बहुत उच्च श्रेणी का मनुष्य होगा। अतः उन्होंने उसकी माता से कहा कि "क्या तू अपने इस प्यारे बालक को विद्याध्ययन के लिये मेरा शिष्य बनायगी। उन्हों ने अपने इस प्रेम वाक्य का कारण भी उसकी माता को बताया। प्रथम तो माँ मातृप्रेम और पुत्र को विद्वान् बन कर परोपकारी बनने की लालसा के मध्य कुछ समय तक बड़ी उलझन में पड़ी रही। अन्त में बुद्धि ने क्षणिक मातृ मोह पर विजय पाई और उसने अपना प्रिय पुत्र विद्याध्ययन के लिये उन्हें देदिया। अतः "हेमचन्द्र" छह वर्ष की वय से ही विद्याध्ययन के लिये साधु-संगत में जीवन व्यतीत करने लगा। कुछ वर्ष बीतने पर वह मुनि-सेवा में रहकर अच्छा विद्वान् होगया।

विद्वान् होने पर हेमचन्द्र का मन गृहस्थधर्म में प्रवेश करने को न चाहता था। अतः जब गुरुने अपने वचन के अनुकूल उसे उसके माता पिता को सौंपदिया तो वह किसी न किसी प्रकार अपने माता पिता को सन्तोषित कर और उनकी आज्ञा लेकर मुनि दीक्षा लेनेके लिये फिर लौटकर गुरुके पास आया और मुनिव्रत(९ वर्ष की वयमें वि० सं० ११५४में) धारण कर लिया। २१ वर्षकी वय में वह एक अच्छा जैनाचार्य बनगया। इतिहास हमको बतलाता है कि उसने गुजरातप्रान्त के एक राजकुमार "कुमारपाल" को जैनधर्मी बनाया और उसके राज्यकाल में उसकी सहायता से उसने जैनधर्म का भारी प्रचार किया। उसने जैन साहित्य सम्बन्धी इतने बहुत से ग्रंथ रचे जिनका परिमाण ३२ अक्षरी श्लोकों से लगभग ३॥ करोड़ श्लोकों में है। उसकी आयु ८४ वर्ष की हुई। हर मनुष्य को बड़ा आश्चर्य होगा कि वह इतना अधिक साहित्य भंडार अपने जीवनकाल में किस प्रकार रच सका होगा। इतिहास हमको बतलाता है कि इस परम विद्वान आचार्य के पास हर समय कुछ लेखक उपस्थित रहते थे। प्रातःकाल आहार ग्रहण कर चुकने के पश्चात् वह लगभग ४० लेखकों को स्याही लेखनी आदि सहित एक गोल परिधि के आकार में बिठा लेता और फिर खड़ा होकर उन के चारों ओर घूमता हुआ प्रथम लेखक को व्याकरण का

प्रथम श्लोक मनमें रचकर बोलदेता। जबतक यह लेखक इस-श्लोक को लिखता वह आगे बढ़कर द्वितीय लेखक को छन्द-शास्त्र का प्रथम श्लोक व तृतीय को कोषग्रन्थ का प्रथम श्लोक, तुरन्त मनमें रचकर बोलदेता। इस प्रकार वह सर्व ४० लेखकों को अपनी ४० नवीन रचनाओं का प्रथम प्रथम श्लोक तुरन्त ही रच रच कर लिखाता जाता और फिर दूसरे चक्कर में प्रथम लेखक को व्याकरण ग्रन्थ का दूसरा श्लोक, द्वितीय को छन्दशास्त्र का दूसरा श्लोक, तृतीय को कोष ग्रंथ का दूसरा श्लोक इत्यादि सर्व लेखकों को दूसरे चक्कर में ४० ग्रन्थों के दूसरे दूसरे श्लोक रच रचकर लिखा देता । इसी प्रकार तीसरे चक्कर में तीसरा तीसरा श्लोक रचकर लिखा देता। इस प्रकार थोड़ेहीं से दिनों में ४० बड़े बड़े ग्रंथ अलग अलग ४० विषयों के लिखे लिखाये तय्यार करलेता था।

इस परम विद्वान् जैन आचार्य रचित इतने बड़े ग्रंथ भंडार ( साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण ) से, जिसमें से कुछ तो आजकल छपकर भी प्रकाशित हो चुका है और कुछ हस्त लेखित जैन ग्रंथ भंडारों में मौजूद है, उसकी योग्यता विद्वता और उसकी स्मरणशक्ति की पराकाष्टा पूर्णरूप से प्रमाणित होजाती है। उसकी इस योग्यता का महत्व यह जानकर और भी अधिक हृदयाङ्कित होगा कि उसने यह विशाल और महत्वपूर्ण रचना ऐसे समय में की है जबकि नतो कहीं कोई

मुद्रित (छपे) ग्रंथ पाये जाते हों, मुद्रालयों का पता तक पृथ्वीतल पर नहो, और न स्थानान्तर में विद्या प्रचार या ज्ञान प्रकाश का अन्य कोई सुगम उपाय ही हो।

(२) आजकल भी बम्बई नगर में एक महानुभाव श्रीमान् "रायचन्द्र जी रावजी" जिसकी वय इस समय (सन १९९३ ई० में) लगभग २९ वर्षकी है अपनी आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति और अद्भुत बुद्धिपटुता के लिये देश प्रसिद्ध है।

एकदा अपने कुछ मित्रों की प्रार्थना पर उसने अपनी इस अद्भुत शक्ति का प्रमाण बम्बई नगर के एक पब्लिकहाल (Public Hall) में जन-समूह के सन्मुख दिया।

उसे एक ऊंचे स्थान पर खड़ा करके उसके नेत्रों पर एक पट्टी बांधदी गई। लगभग ४० ग्रंथ अलग २ छोटे बड़े साइज़ के जिनके नाम वह न जानता था एक एक करके और उन का नाम बता बताकर उसके हाथ में दिये गये और उस से कहदिया गया कि कुछ समय पीछे इनका नाम आपसे पूछा जायगा। पश्चात् उसी समय १० अङ्कों से बनी एक बड़ी संख्या (अर्ब अर्थात् १०० करोड़से बड़ी) उसे सुनाकर उससे कहागया कि वह इस संख्याका घनमूल (Cube Root) बिना कागज पेंसिल मौखिक निकाले। अब उसके नेत्रों से पट्टी खोलकर तुरन्त ही तीन अन्य पुरुषों के साथ गंजिफा (ताशपत्तों का खेल) खेलने के लिये बिठादिया गया।

केवल इतना ही नहीं किन्तु उसी दम उससे यह भी प्रार्थना की गई कि गंजिफ़ा खेलते समय ही लगभग ३० श्लोकों में एक ऐसी नवीन पद्यरचना कीजिये जिसमें अमुक नगर के सम्बन्ध में अमुक अमुक बातों का समावेश हो और जिसके अमुक अमुक संख्या के श्लोकों में अमुक अमुक व्यक्तियों का ( जिनका वह नामतक नहीं जानता था ) अमुक अमुक रीति से संक्षिप्त परिचय भी हो। इस महानुभाव को एकही समय में केवल इतना ही कार्य देकर सन्तोष नहीं कियागया किन्तु उसी खेल के अन्तर्गत एक मनुष्य उसके पीछे लगभग २० फिट के अन्तर से खड़ा होकर उसकी पीठपर छोटी २ कंकरियां मारता रहा और एक अन्य मनुष्य ने एक घंटा बजाना प्रारम्भ करदिया और मिस्टर रायचन्द्र से कहदिया कि आप इन कंकरियों को और घंटे बजने की संख्या को गिनते रहें जिससे कि पूछने के समय आप इनकी ठीक ठीक संख्या बता सकें।

जब खेल बीस मिनिट में बन्द करदिया गया तो उसी ऊँचे स्थान पर खड़े होकर सर्व उपस्थित जन समूह को पहले उसने अपनी नवीन रचित पद्यरचना सुनाई जो सर्व प्रकार से दीहुई समस्याओंके पूर्णतयः अनुकूल थी। घनमूलका उत्तर, कंकरियों और घंटों की संख्या सर्व ठीक ठीक बताई। पश्चात् पहिले की समान फिर उसकी आंखों पर पट्टी बांधकर वही

ग्रंथ पूर्व अनुक्रम रहित उसके हाथों में एक एक देकर उनके नाम पूछे गये जो ठीक पाये गये।

ऐसे मनुष्य को हम देवता कहें या बुद्धि और सरस्वति की मूर्ति! उसका वचन है कि मध्यम परिमाण का कोई ग्रंथ प्रारम्भ से अन्त तक केवल एक वार पढ़कर वह उसे ज्यों का त्यों विना ग्रन्थ में देखे मौखिक सुना सकता है।

(३) ऐसी ही आश्चर्यजनक स्मरणशक्ति का आजकल ही का एक उदाहरण और भी है। श्रीमान् पं० गट्टूलालजी जिन्हें स्वर्ग-वासी हुए अभी कुछही वर्ष वीते हैं जन्मान्ध जन्मे थे। उन की वाल अवस्था के समय तक भारतवर्ष में जन्मान्धों के पठन पाठन का कोई शिक्षालय ( स्कूल ) न था। उन्होंने कहीं किसी ऐसे शिक्षालय में शिक्षा प्राप्त नहीं की। उन्होंने जो कुछ शिक्षा प्राप्त की वह केवल दूसरों से सुन सुनाकर ही की। उनकी स्मरणशक्ति इतनी प्रवल थी कि जिस वाक्य या वाक्य-समूह को वह किसी के मुख से एक वार सुन लेते थे उसे जव चाहे फिर सुना सकते थे।

वह वम्बई में वैष्णव संप्रदाय के आचार्य होगये और भारतवर्षभर में अपने सार्धर्मी सम्प्रदाय में उन्होंने वड़ा सन्मान पाया। उन्होंने वहुत वार अपनी स्मरणशक्ति के करतव सर्व साधारण के सन्मुख दिखाये। यह महानुभाव वैष्णव मत के कई एक ग्रंथों के रचयिता भी हैं।

भारतवर्ष में ऐसेही महान् पुरुषों के बहुत से उदाहरण हैं जिनके स्मरणशक्ति के कार्य ऐसे ही या इनसे भी अधिक आश्चर्यजनक हैं जैसे कि उदाहरण मात्र ऊपर दिखाये गये हैं।
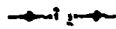
नोट—मध्यकालीन ( सन् ई० ५००–१५०० ) अनेक महत् पुरुषो मे से विक्रम की नवी शताब्दी मे हुए एक संस्थ "श्री अकलङ्कदेव" और द्विसंस्थ "श्रीनिःकलङ्कदेव" ग्यारहवीं शताब्दि मे हुए "श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती", बौद्धों को परास्त करने वाले श्री शंकराचार्य और महाराष्ट्रीय भक्त शिरोमणि श्री ज्ञानदेव आदि कई महानुभाव अधिक प्रसिद्ध हैं जो ऊपर के उदाहरणों मे दिये हुए व्यक्तियों से भी अधिक स्मरणशक्ति की मूर्ति थे और जिनके रचे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अद्यापि विद्यमान हैं जिनमे से बहुत से प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त ईसा की १६ वी विक्रम की १७ वी शताब्दीमे होनेवाले दिल्ली-नरेश अकबर के दो इस्लाम धर्मी दरबारी, फ़ैज़ी और अबुल-फ़ज़ल भी अपनी स्मरणशक्ति के लिये यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध हैं तथापि हमारे आपके समकालीन २० वीं शताब्दी के उपर्युक्त व्यक्ति "श्रीमद् राजचन्द्र" जीकी अतुल स्मरणशक्ति के सन्मुख इन दोनोंकी स्मरणशक्ति शतांश सहस्रांश भी नहीं थी। ( देखो ग्रन्थ वृहत् जैन-शब्दार्णव में शब्द 'अकलङ्क' और 'अजितसेन आचार्य' )।

—सम्पादक।
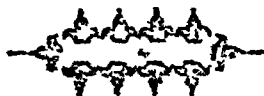
## ३—शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी ।

[ अर्धमागधी कोष से उद्धृत ]

पूज्यपाद श्री गुलाबचन्द्र जी स्वामी के शिष्य शतावधानी जैन मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अद्यापि इन्दौर नगर में विद्यमान है जो अपनी अनौपम स्मरणशक्ति के लिये लोक प्रसिद्ध हैं। आपका जन्म वि० सं० १९३६ के वैशाख शुक्ल १२ गुरुवार को कच्छदेश में मुन्द्रानगर के पास भारोरा नामक ग्राम में हुआ। आपकी मातेश्वरी का नाम "लक्ष्मीबाई" और पिताजी का नाम "वीरपालशाह" था।

गुजराती भाषा की छह पुस्तकों का अध्ययन करने के अनन्तर आप अपने जेष्ठ बन्धु के साथ कुल क्रमागत प्रणाली के अनुसार वाणिज्य व्यापार में कुशलता प्राप्त करने के हेतु केवल बारहें वर्ष ही में बम्बई, वेलापुर ( दक्षिण ), सनावाद ( मालवा ), आदि व्यापार स्थानोंमें भेजे गये। वहां आपने धान्यादि का व्यापार किया। आपका विवाह संस्कार १३ वें वर्षमें हुआ। गृहस्थाश्रम में तीन वर्ष भी व्यतीत न होने पाये थे कि आपकी सहधर्मिणी ने अपने स्मारक स्वरूप केवल एक कन्या को छोड़ इस असार संसार का सदैव के लिये परित्याग करदिया, और इस प्रकार अपने वियोग से महा-

राज श्री के सहज परम गुण वैराग्य को परिपूर्ण करने में सहायता दी। महाराज श्री के हृदय में वैराग्य का पूर्ण प्रादुर्भाव तो था ही अपनी धर्मपत्नी के बिछोह से आपको अपने इस उत्तम उत्पन्न सहज गुण की वृद्धि करने का अवसर प्राप्त होगया और असह्य शोक तथा क्षोभ के स्थान में वैराग्य वासना ने अपना उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अधिकार जमाया और मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज को साधुत्व गृहण करने में सहायता दी। साधुत्व अङ्गीकार करने के पूर्व आपने कुछ समय साधुत्व सम्बन्धी आवश्यक तत्वों के ग्रहण करने में व्यतीत किया। दीक्षा स्वरूप महान् संकल्प के ग्रहण करनेमें आपको विशेष आपत्ति न हुई। "**प्रसाद चिन्हानिपुरः फलानि**" क्योंकि आपके पूज्य पिताजी तथा ज्येष्ठ भ्राता वाणिज्य व्यापार द्वारा आजीविका करते हुए भी ऐसे शुभ तथा महान् पुण्यकार्य में मनाही न करने का सत्य संकल्प पहिले ही करचुके थे। यह असाधारण सुविधा होने पर भी माता के अपार और अगाधप्रेम के कारण महाराज श्री को इस निमित आज्ञा तुरन्त न मिलसकी। इस प्रकार एक वर्ष पर्यन्त आपने सांसारिक मनुष्य की भांति जीवन व्यतीत करते हुए दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, थोकड़े इत्यादि का अध्ययन दत्तचित होकर किया कि स्वयं पूज्य माता जी ने उन्हें दीक्षा ग्रहण करने के लिये अनुमति प्रदान करदी। इसप्रकार आप

ने वि० संवत् १९५३ के ज्येष्ठ शुक्ल ३ के दिन पूज्यपाद श्री १००८ श्री गुलाबचन्द्र जी स्वामी ( लींबड़ी सम्प्रदाय ) के समीप अपनी उम्र के १७ वें वर्ष में परम पवित्र दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् शीघ्रही आपने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करदिया और अल्पकाल में ही सिद्धान्त-चन्द्रिका, सिद्धान्त कौमुदी, तत्वबोधनी, मनोरमा, पंच काव्य, अलङ्कार, साहित्य, नाटक आदि का सम्यक् ज्ञान उपार्जन करलिया, और अनन्तर न्याय के तर्क संग्रह से लगाकर जगदीश गदाधर के बाध-अनुमति ग्रंथ तक अध्ययन भली भांति किया। इसके पश्चात् सांख्य दर्शन, पातांजलि दर्शन आदि ग्रंथों की शिक्षा कच्छ और काठियावाड़ के अनेक ग्रामों में रहकर उपार्जन की और इस प्रकार सत्रहवें वर्ष की अवस्था से लगाकर उनतीस वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया। तदनन्तर सम्वत् १९६६ से व्याख्यान देना और अवधान करना प्रारम्भ किया। आप ऐसे प्रतिभाशाली मुनि रत्न हैं कि लगातार सौ अवधान कर सकते हैं। इन श्रीमान के अवधान कई अच्छे २ ग्रामों में हुए हैं और उनकी रिपोर्ट पुस्तकाकार रूप में प्रसिद्ध हो चुकी हैं। बम्बई में भी एक समय अवधान हुए थे. उस समय महाराज जी की विद्वत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण करने के लिये सर चन्दावरकर आदि अनेक विद्वान् उपस्थित हुए और अन्त में महाराज की सामर्थ्य, विद्वता

और बुद्धिमत्ता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जैन मुनियों में आपके सदृश विद्वान्, बुद्धिमान, उत्साही, परिश्रमी, विवेकी, शांत प्रकृति और निरभिमानी मुनि थोड़ेही होंगे। आप जैसे विशिष्ठ विद्वान् हैं वैसेही धुरन्धर लेखक और आशु कवि भी हैं। आपने कई ग्रंथों की रचना संस्कृत और गुजराती भाषा में की है जिन में कर्तव्य कौमुदी, भावनाशतक, अजरामरजी स्वामी का जीवन चरित्र, गर्भित भक्ताम्वर की पादपूर्ति, ३९ स्तोत्र आदि प्रधान हैं। आपके कई संस्कृत और गुजराती लेख मासिक पत्रों द्वारा प्रसिद्ध होचुके हैं और उनका संग्रह "रत्नगद्यमालिका" नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। अ०मा०कोष जिसके अभाव में बड़े बड़े विद्वान् जैन धर्म के अगम्य और अद्वितीय तत्वों का भाव यथावत न समझ सकते थे और जिसके लिये आज सकल विद्वत्समाज टकटकी लगाये हुए आतुरता से देख रहा था उक्त मुनि जी ही के अविश्रान्त परिश्रम का फल है।

## हमारे यहाँ से मिलने वाली

# सर्वोपयोगी उर्दू पुस्तकें

### मिथ्यात्वनाशक नाटक

( बड़ा साइज़ ६ इञ्च × ५॥ इञ्च पृष्ठ सं० २६२ )

इस अनुपम और अद्वितीय नाटक में जैन, बौद्ध, आर्य मुहम्मदी, ईसाई, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक, सांख्य आदि दुनिया भर के लगभग सर्व ही प्रसिद्ध और मुख्य मत मतान्तरों के सिद्धान्तों का सारांश एक भारी अदालती मुक़द्दमे के ढङ्ग पर ऐसे रोचक और चित्ताकर्षक शब्दों में दिखाया गया है कि इसका पढ़ना एक बार प्रारम्भ करके फिर पूर्ण किये बिना छोड़नेको कदापि मन नहीं चाहता। मुद्दई, मुद्दआअलैह, गवाह और हर फ़रीक़ के सर्व वकील आदि मिलाकर इस बड़े ही मनोहर नाटक के पचास से भी अधिक पात्र हैं। तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है। तीसरे भाग में वकीलों की बहस के अन्तर्गत जिस उच्च कोटि के न्याय सिद्धान्त ( मन्तक़या लौजिक विद्या के सिद्धान्त ) से काम लिया गया है तथा उसके पारिभाषिक शब्दों की जो व्याख्या ग्रन्थ के फुट नोटों में दी गई है वह ऐसी अपूर्व है कि उसे ध्यान पूर्वक समझ कर पढ़ने से अच्छे अच्छे वकील तथा बहस करने के इच्छुक अन्य पुरुष भी बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। मूल्य केवल १।) ।

## रामचरित्र

रामभक्तो श्रीरामचन्द्रजी महाराजके सच्चे सेवकों !! श्री महारानी सीता जी के पवित्र चरणों के दासों !!! आप को अपने परम पूज्य ज्ञानमूर्ति, सर्व हितैषी और इन्द्रियों को दमन करनहारे श्री रामचन्द्र जी महाराज और श्री जानकी जी के पवित्र जीवन-चरित्रों के वे सच्चे हालात जो सम्भवतः आप के कानों तक आज तक न पहुंचे होंगे और जो परमऋषि श्री बालमीक जी महाराज व महात्मा तुलसीदासजी महाराज तक ने भी किन्ही विशेष कारणों से अपने २ रचित ग्रन्थों में नही दिये हैं, और जो आप ही की सेवामें पहुंचाने और आप ही को उनका ज्ञान कराने के लिये एक प्राचीन विस्तृत और प्रमाणीक संस्कृत रामायण से बड़ी मेहनत से उनका संक्षिप्त रूप कर कुछ ऐसी हृदयग्राही भाषा में लिखे गये है जिन को एक वार पढ़ना प्रारम्भ करके ग्रन्थ समाप्त किये विना उठने को मन नहीं चाहता। क्या आप उनको पढ़ अपने हृदय को शुद्ध बनाना चाहते हैं? यदि हाँ! तो बस आज ही ६॥ इन्च ×५ इन्च बड़े साइज की क़रीब १२५ पृष्ठों की पुस्तक ॥) मे मंगाकर अपने मनको उनके चर्णों में लगा सच्चे आनन्द और सुख का अनुभव कीजिये।

## हनुमान चरित्र

एक प्राचीन संस्कृत रामायण के आधार पर वीर हनुमान की जन्मकुण्डली व वंश-वृत्त आदि सहित बड़ा ही चित्ता-कर्षक ऐतिहासिक उपन्यास। भाग १, २, ३. मूल्य २।=)

## वैराग्य कुतूहल नाटक

संसार की असारता रोचक शब्दों से दिखाने वाला एक ऐतिहासिक दृश्य। भाग १. २; मूल्य ।)

## भोज प्रबन्ध नाटक ( गद्य पद्य )

नीति और शिक्षा का एक अद्वितीय ड्रामा । मूल्य =)॥

## ह़फ्त जवाहर ( सप्तरत्न )

वैद्यक, गणित, योग, सांख्य स्मृति, शिक्षा, व्यापार सम्बन्धी अमूल्य चुटकुलों और लटकों का संग्रह, मूल्य ॥=)

## अरस्तू

यूनान देश के परम विद्वान हकीम अरस्तु का जीवन चरित्र उसकी परम उपयोगी शिक्षाओं सहित । मूल्य =)॥

## अफ़लातून

यूनान देश के परम विद्वान हकीम अफ़लातून का जीवन चरित्र उसकी परम उपयोगी शिक्षाओं सहित । मूल्य -)॥

## फ़ादे ज़हर ( प्रथम भाग )

सर्व प्रकार के विषैले प्राणियों को भगाने और उनके काटने या डङ्क मारने के विष को उतारने की अनेक अनेक विधियां, तथा सरल से सरल औषधियां आदि । मूल्य =)॥

## फ़ादे ज़हर ( द्वितीय, तृतीय भाग )

अफीम, कुचला, भिलावा, भङ्ग, तम्बाकू आदि अनेक प्रकार की वनस्पतियों और संखिया, पारा आदि अनेक धातु उपधातुओं के विषों के उतार तथा अग्नि, उष्ण जल, तेल, दुग्ध आदि से जलने व गन्धक, शोरा आदि के तेज़ाब की हानि व किसी अङ्गोपांग में चोट लगने की पीड़ा, इत्यादि की चिकित्सा, मूल्य =)॥

## नशीली चीजें

शराब, भंग, गाँजा चरस आदि सर्व प्रकार के नशीले वा मादक पदार्थों के गुण दोष आदि मूल्य =)॥

## रोमन उर्दू

उर्दू जानने वालों को रोमन में अर्थात् अपनी उर्दू या हिंदी आदि किसी ही भाषा का अङ्गरेजी अक्षरों में लिखना पढ़ना केवल पांच या सात दिन में बिना किसी शिक्षक आदि के बड़ी सुगमतासे सिखा देनेवाली बड़ी अमूल्य पुस्तक, मूल्य =)

## योगसार

आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान का सार, मूल्य ≡)

## प्रश्नोत्तरी श्री स्वामी शंकराचार्य

आत्मिक व पारमार्थिक ज्ञान का निचोड़। मूल्य )॥

## अनमोल बूटी

हिन्दी अनमोल बूटी का सारांश। मूल्य )॥

## चाणिक्य नीति दर्पण—मूल्य =)॥

## भर्तृहरि वैराग्य शतक—मूल्य –)

## जैन वैराग्य शतक—मूल्य –), अँगरेजी –)

## सीताजी का बारहमासा—मूल्य –)

## इलाजुल अमराज

कुछ रोगों के अमूल्य चुटकुले, मूल्य )।

## दवामी जन्त्री

त्रिकालवर्ती अङ्गरेज़ी ज्ञात तारीखों के दिन और ज्ञात दिनों की तारीखें बतानेवाला शीट। मूल्य )॥।

## अनमोल कायदा

त्रिकालवर्ती किसी अङ्गरेज़ी ज्ञात तारीख़ का दिन या ज्ञात दिन की तारीख़ अर्द्ध मिनिट से भी कम में मौखिक (जिव्हाग्र) निकाल सकने की बड़ी सुगम और अद्वितीय विधि, मू० १)

## अनमोल विधि (हिंदी या उर्दू)

त्रिकालवर्ती किसी हिंदी तिथि या नक्षत्र या चन्द्रमा की राशि मौखिक जाननेकी सुगम विधि। मूल्य ≡)॥

## अग्रवाल इतिहास (हिंदी)

सूर्यवंश की एक शाखा अग्रवंश का लगभग ७००० वर्ष पूर्व से आजतक का प्रमाणिक तथा प्राचीन व अर्वाचीन ग्रन्थों व पट्टावलियों आदि के आधार पर बड़ी खोज के साथ लिखा गया शिक्षाप्रद इतिहास। मूल्य ≡)।

## अनमोल बूटी (हिंदी)

एक अपूर्व वैद्यक ग्रन्थ, जिसमें शिर से पगतक के लगभग सब रोगों के कारण, निदान, पथ्यापथ्य, और सुप्रसिद्ध "आक" या "मदार" नामक बूटी के प्रत्येक अङ्ग के गुण आदि बताकर इसी से अनेक अनुपानों द्वारा उन रोगों को हटाने की विधि ऐसी सुगम बनाई गई है कि प्रत्येक गृहस्थ बिना किसी वैद्यकी सहायता के स्वयम् रोग चिकित्सा कर सकता है और परोपकारार्थ बिना मूल्य बांटने के लिये भी कौड़ियों में तैयार हो सकने वाले कई प्रकार के चूर्ण आदि सुगमता से तय्यार कर सकता है। ऐसे अमूल्य रत्न का मूल्य केवल ॥)।

हिन्दी साहित्य अभिधान प्रथम अवयव

# श्री वृहत् जैन शब्दार्णव

## प्रथम् खण्ड

( पृष्ठ संख्या लगभग ३५०, मूल्य ३), सजिल्द ३।।) )

**जैन ग्रन्थ-रत्नों के भण्डार या खज़ाने की**

एक अपूर्व और अद्भुत कुंजी

**जैन व अजैन सब ही के लिये समान**

**उपयोगी ग्रन्थरत्न**

सारे जैन साहित्य में आए हुए ऐसे २ पारिभाषिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा गणित, ज्योतिष, न्याय, भूगोल, आदि अनेक विषयों सम्बन्धी शब्दों को जिनका कि अर्थ या व्याख्या दुनिया भर के किसी भी बड़े सेबड़े कोषनक में मिल ही नहीं सकती है इस एक ही महान ग्रन्थ में अकारादि क्रम से स्थान देकर बड़ी ही सरल हिन्दी भाषा में प्रत्येक शब्द के अर्थ और उसकी व्याख्या आदि को विद्वान् लेखक ने कुछ ऐसी उत्तम रीति से लिखा है कि साधारण से साधारण हिन्दी जानने वाले सज्जन भी गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के उन भावों को जो कि महीनों तथा वर्षों मनन करते रहने से भी कठिनता ही से समझ में आते हैं, सहज ही में समझ सकते हैं ।

इस अपूर्व ग्रन्थका तो प्रत्येक मन्दिर, पुस्तकालय व प्रत्येक घर में हर स्त्री पुरुष के पास रहना अति आवश्यक है ।

काष्ठासंघी श्री लोहाचार्य जी विरचित

# "श्री वर्तमान चतुर्विंशति जिन पुराण"

की

## श्री ब्रह्मचारी मनसुख सागर कृत

## हिन्दी भाषा छन्दबद्ध टीका

इस परमोपयोगी हिन्दी भाषा के छन्द बद्ध "श्री वर्तमान-चतुर्विंशति जिनपुराण" को श्री आदि पुराण और उत्तर पुराण जी के श्रीयुत "चैतन्य' महोदय कृत सचित्र गद्यसारांश सहित दो या तीन भागों में विभाजित करके खुले पत्रों के शास्त्राकार रुप में प्रकाशित कराया जा रहा है। इसका प्रथम खंड श्री ऋषभपुराण' है और शेष २३ तीर्थङ्करों के चरित्र सम्बन्धी एक अथवा दो खण्ड रहेंगे। प्रथम खंड की निछावर लगभग एक रुपया और द्वितीय तृतीय दोनों खंडोंकी १॥) या २) रहेगी। इसके तीनों खंड छपने से पूर्व ही बनने वाले ग्राहक तथा "स्वल्पार्घ ज्ञानरत्नमाला" के सर्व पक्के स्थायी ग्राहकों को पौने मूल्य ही में दिया जायगा। इच्छुक महानुभाव तुरन्त ही ग्राहक श्रेणी में अपना शुभनाम लिखाने की सूचना दें। जो दानी महानुभाव विना मूल्य बांटने के लिये कमसे कम १०० प्रतिके ग्राहक बन जायेंगे तो उनको उन पुस्तकों पर (सौ या जितनी प्रति वे लेंगे) टाइटिलपेज उनके ही नामका छपाकर लगवा दिया जायगा और यदि वे अपने फोटोका ब्लाक स्वयं बनवाकर भेज देंगे तो वहभी छपवाकर लगवा दिया जायगा।

शान्तिचन्द्र जैन

"वीर प्रेस' बिजनौर।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

# फूलमालपचीसी

और

# राजुलपचीसी

जिनको

श्रीजैनभारतीभवनके मालिक

**बद्रीप्रसाद जैनने**

बजरंगबली गुप्त 'विशारद' द्वारा श्रीसीताराम प्रेस,

विश्वेश्वरगंज बनारसमें छपवाया।

[ न्योछावर पाँच पैसा

दूसरीवार १००० ]

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

# राजुल पचीसी प्रारम्भते ।

सुन भविजन हो प्रथमहिं प्रथम जिनेंद्रचरण चित लाइये ।
सुन भविजन हो शारद गुरहि मनाय जदौंगुण गाइये ॥
सुन भविजन हो नेमिकुमरको जान जबै ब्याहन गए ।
सुन भविजन हो देखि पसु बिललात दया प्रभुकों भई ॥
भई करुणा नेमिको सब छोड़ि गिरनारी गए ।
पंच मुष्टी लोच कीने आप दीरघ व्रत लए ॥
काहू सखी कही जाय राजुल नेमि दीक्षाआदरी ।
राजुलततक्षणआयकरयह मायसों विनतीकरी ॥१॥

सुन मायल हो राजुल द्वैकर जोरि वीनती यों करे ।
सुन मायल हो मेरेमन गिरिनार जानको चावरे ॥
सुन मायल हो नाथचढ़े गिरिनार तो मैं घर क्यों रहों ।
सुन मायल हो अपने मनकी बात मैं तोसों सच कहों ॥
मैं कहों तोसों साँच जननी घर रहनकी हों नहीं ।
करकंज सम्पुट लाय राजुल जाय मातासों कही ॥
मैं जाउंगी गिरिनार गढ़पर जहां मेरा प्रभु गया ।
मोकों अनाथिनि, नाथकरिके आप जाय जती भया ॥२॥

सुन राजुल हो तू अनाथ क्यों होय राजुल तेरो सिर जिये ।

सुन राजुल हो वारेहीते जिन पालिकें तोहि वड़ो कियो ॥
सुन राजुल हो नेमि लियोतप जाय तो तेरो कहा गयो ।
सुन राजुल हो अपने सब सुख छोड़िकें आप यती भयो ॥
भयो यति यह नेमि जिनवर राज ऋद्धि जु छांड़िकें ।
तासे जु अब कह कहूँ कोऊ बैठो महाव्रत मांड़िकें ॥
तूं क्यों चढ़ै गिरिनार गढ़पर सो अब मोहि वताइये ।
कौन दुख ? तोहि परो वेटी छोड़िघर वन जाइये ॥३॥
सुन मायल हो कौन गुनह मोहि लाय जादौंराय परिहरी ।
सुन मायल हो मोहि तजी बिललात भजी शिव सुंदरी ॥
सुन मायल हो जाको धनी वन जाय धिया कौनकी रही ।
सुन मायल हो कहो वावुलतें जाय धिया विनती करी ॥
मैं करौं विनती दोउ जननतें वेग मुझे पठाइये !
जहाँ गयो मेरो प्राण प्रीतम अब विलम्ब न लाइये ॥
मैं जाऊँ संयम लेहुं प्रभुसों जो उनहूं ऐसी करी ।
अब क्यों रहों घर बैठि माता नाथ जो मुझ परिहरी ॥४॥
सुन राजुल हो वैठि निचौंती आन क्यों मेरो हियो दहे ।
सुन राजुल हो ऐसे वचन कठोर तू क्यों मोसे कहे ॥
सुन राजुल हो भार सहो दश मास जवै तुझ उरधरी ।
सुन राजुल हो दुःख सहे वहु भाँति जवै तुम अवतरी ॥
तुम होत वहु दुख सहे लाड़िल पालि थनहि चुखायकें ।
अब तो सयानी भई वेटी कहति है यह आइकें ॥

संसारके सुख कहा देखे सो अब मोहि बताइये ।
जब तीसरा पन होय बेटी तबै तपको जाइये ॥५॥
सुन मायल हो यह संसार असार अथिर करि पेखिये ।
सुन मायल हो जियका कोऊ न शर्ण मरण दिन देखिये ॥
सुन मायल हो इह संसार मझार चतुर्गति जियभ्रमे ।
सुन मायल हो एहि अकेला जीव सदा सुख दुख रमे ॥
यह स्वर्ग नरकहिं जाय जियरा देह यातें भिन्न है ।
अरु चाम वेढ़ी हाड पिंजर मल भरी निर घिन्न है ॥
आश्रवनकी जे मूल ताको परहि पर कर जानिये ।
संवर गहे बिन मुक्ति नाही यहै निज मन आनिये ॥६॥
सुन मायल हो निरजर कीजै कर्म तों शिव पद पाइहों ।
सुन मायल हो तीनो लोक मझार वहुरि नहिं आइहों ॥
सुन मायल हो धर्म्म महन्त मैं पाय अवर नहिं ध्याइहों ।
सुन मायल हो मानुष जन्म दुर्लभ वहुरि नहिं पाइहों ॥
कब लहों मानुप जन्म फिरके और उत्तम कुल परै ।
अब गोद बालक छोड़ि माता पेट को? आशा करै ॥
ये सकल सुख संसारके है सो न मोहि बताइये ।
जहाँ गये मेरे नाथ जननी तही मोहि पठाइये ॥७॥
सुन राजुल हो तोहि सिखाई कौन कहै की आपसे ।
सुन राजुल हो अब मैं जाय कहोंगी तेरे बापसे ॥
सुन राजुल हो बापकी कानि न तोहि जो तू ऐसी कहै ।

सुन राजुल हो जाको एतो परिवार सो संयम क्यों गहै ॥
क्यों गहै संयम होत बापहि विना व्याही कुमारिका ।
यह तोहि लायक बात नाही करै हठ गिरिनारिका ॥
क्यो जान दीहै बाप तोकों सो अब मोहि वताइये ।
अब सयानी भई बेटी कुल कलंक न लाइये ॥८॥
सुन मायल हो जाय कहो निहचंत बाबुल मेरा क्या करें ।
सुन मायल हो तासों कहा बशाय जु संयम आदरें ॥
सुन मायल हो ऋषभदेवकी धिया दोउन दीक्षा धरी ।
सुन मायल हो भरतचक्रिसे वीर तिनहुं मने ना करी ॥
चक्री भरतसे वीर जिनके तिनहुँ दीक्षा आदरी ।
जो करी ब्राह्मी सुंन्दरी अब सोई मन हमहूँ धरी ॥
तुमहि करिवे होय सोई करो तात मात जु दोउ जने ।
अब जु निकसी मेरे मुखतैं सोई मोहि किये बने ॥९॥
सुन राजुल हो ऐसे वचन कठोर भूलि नहिं काढ़िये ।
सुन राजुल हो लीजे हाथ अंगार नो आपहि जारिये ॥
सुन राजुल हो संयम है असिधार सो कैसे सम्हारि है ।
सुन राजुल हो तेरी है बारी वयस कैसे मन मारि है ॥
तू कहा ? मनमें समझि बेटी लेन संयम जाति है ।
एक छिनके भूख प्यासन कमलसी कुमलाति है ॥
क्यों सहैगी बाइस परीषह तीन काल विषैं कहे ।
तू कहो मेरा मान राजुल बैठि अपने घर रहै ॥१०॥

सुन मायल हो मोहि कहा तुम जान बचन ऐसे कहे ।
सुन मायल हो वे दुख त्रिभुवन कौन जु मैंने ना सहे ॥
सुन मायल हो वह थानक है कौन जहाँमैं ना गई ।
सुन मायल हो वह गति है कहो कौन जु मो नाहीं भई ॥
मो भई नाना गति जु जननी स्वर्ग नर्कहि जायकैं ।
जिय अकेलो अन्य पुदगल अशुचिके घर आयकैं ॥
संसारके सुख कौन गिनती तिनहिं देखि लुभाइये ।
अब कहा मेरा मान जननी वेग मुझे पठाइये ॥११॥
यह सुन कर हो रानी गई पिय पास बचन गदगद कहै ।
सुन मोपिय हो राजुल भई है उदास सो बरजी ना रहै ॥
सुन भूपति हो कहति चढ़ों गिरिनार ताको कहा कीजिये ।
सुन कंथा हो आनिधिया समुझाय गरे लगि लीजिये ॥
तुम लेहु उरहि लगाय बेटी दे दिलासा अति घनी ।
संतोष जाविध होय वाकों बहुत है वह अन मनी ॥
कहति है जे वचन मुखतें जाको जवाब न आवही ।
बाइश परीषह सहन कहती ताहि को समझावही ॥१२॥

जवाब पिताका राजुलसे ।

यह सुनतहि हो उग्रसेनि नृप आन धियासों यों कहै ।
सुन राजुल हो काहेको तूं मेरी लाड़िलि जिय अपनो दहै ॥
सुन राजुल हो ल्यावों गो राजकुमार और वर चन्दसो ।
सुन राजुल हो रूप अनूप विचित्र महा मकरंदसो ॥

मकरन्दसो वरु राजवंसी ढूंढ़ि ल्यायो तो सही ।
वासों नहीं सम्बन्ध तोसों जानि यह निहचैं सही ॥
तू दुःख मन मति करहि बेटी यही मनमें लायकें ।
अब देख धों क्या होय बेटी बैठि रहो घर जायकें ॥१३॥
सुन बाबुल हो गालिय जो मुझे देहु सो तोहि कहा भयो ।
सुन बाबुल हो औरनको सिख देहु सो ज्ञान कहाँ गयो ॥
सुन बाबुल हो एक सो गारी चढ़ाय जो दूजी आदरै ।
सुन बाबुल हो शील भंगसों नारि नरक गतिमें परै ॥
सो परै नरक मझार बाबे सात भव लो दुख सहै ।
छेदन जु भेदन ताप ताड़न बरनि को मुखसों कहै ॥
तातें मैं बहुत डरांव बाबे नर्कके दुख क्यों सहों ।
तू दे विदाकरि मोहि बाबे विनय करि तोसों कहों ॥१४॥
सुन राजुल हो काहेको बहुत डराव एक कहो मो करो ।
सुन राजुल हो चहिये कह अब तोहि जो तूं संयमधरो ॥
सुन राजुल हो घरहिं सकल तप करो शील व्रत आदरो ।
सुन राजल हो चार प्रकार है दान सोई तुम नितकरो ॥
तुम देहु दान अहार पात्रन और शास्त्र लिखायकें ।
रोगी पुरुष लखि देहु औषध अभयदान बुलायकें ॥
तूं चित्तको समझाय बेटी धर्म्म एकहि ध्याइये ।
गिरिनार ऊपर और क्या है सोइ मोहि बताइये ॥१५॥
सुन बाबुल हो दानदिये कह होय सो मोहि बताइये ।

सुन बाबुल हो बिन दीक्षा तप क्रिये न शिवपद पाइये ॥
सुन बाबुल हो दीजे दान अहार तो संपति पाइये ।
सुन बाबुल हो अभयदान जो देहि तो भय नहिं आइये ॥
भय न उपजे, दिये औषध देह निरबाधा लहों ।
दीजे जो शास्त्र सिद्धांत साँचे ज्ञान श्रुत तातें कहों ॥
तुम ढील अब मति करहु बाबे देख चित्त बिचारिकें ।
मुहि दे बिदाकरि वेगिबाबे धरोव्रत गिरिनारपैं ॥१६॥
यह सुनतहिं हो उग्रसैन नृप जाय धियाके पग परें ।
यह सुनतहिं हो शीसते मुकुट उतार चरणपर शिरधरें ।
सुन राजुल हो जो तुम आज्ञा देहु सो मैं शिरपर धरों ।
सुन राजुल हो तेरे बचन प्रमाण, भंग मै ना करों ॥
मै किये वचन प्रमाण तेरे एक बच सुन लीजिये ।
कहे हैं जे वचन मुखतें सोई दिढ़ करि कीजिये ॥
यह जैन संयम महा दुद्धर तुमहि को समभावही ।
अब सोई कीजै लाड़िली मो कुलकलंक न आवही ॥१७॥
सुन बाबुल हो कौन कुलक्षण देख कहा पहिचानके ।
सुन बाबुल हो ऐसी कहा तुम बात कहो मोहि जानकें ॥
सुन बाबुल हो ऊंचेकुल उतपन्न सो क्यों ऐसी करें ।
सुन बाबुल हो जो जिय भारी होय तो डूबि न क्यों मरे ॥
सो मरै क्यो नहिं डूबि समुदहि काहे को संयम धरै ।
ते परै नर्कहिं जाय निश्चै लेय व्रत अनुचित करै ॥

मैं सहोंगी बाइस परीषह तीन काल बितायकें।
तूं दे बिदा करि मोहि आवे लेहुँ संयम जायकें ॥१८॥
तब भूपति हो पालकी पर बैठार बिदा राजुल करी।
तब राजुल हो सकल कुटुम्ब बुलाय छमा तिन सों लई ॥
सो ततछन हो जाय चढ़ी गिरिनार जिनेंद्र निहारियो।
तब राजुल हो तीन प्रदच्छण दै करि जिनजय कारियो ॥
जाय जिनकी करी अस्तुति गद्य पद्य सुहावनी।
अष्टांगनमि तब भाल भूधरि करैं अति मति पावनी ॥
करकंज संपुट धरे शिर पर दीन वानी उच्चरी।
एक पगसे खड़ी राजुल नेमिकी अस्तुति करी ॥१९॥
जय जय प्रभु हो पंच महाव्रत धरन महा मुनि धीर हो।
जय जय प्रभु हो पंचकल्याणक नायक गुण गम्भीर हो ॥
जय जय प्रभु हो पंच समिति मन धरि परमपद जिनधरो।
जय जय प्रभु हो करण त्रिषै निर्वार मदनदल वश करो ॥
तुम मदनदल सब जीति स्वामी राग दोष निवारिया।
क्रोध मान रु लोभ माया आठ मदहि विदारिया ॥
तुम तरण तारण भव निवारन तीन भुवनहिं गाइया।
तुम दर्शतें सब पाप भाजे बड़े भागन पाइया ॥२०॥
जय जय प्रभु हो तुम बिन मेरे नाथ कौन ऐसी करे।
जय जय प्रभु हो मात तात धन धाम वाम सब परिहरे ॥
जय जय प्रभु हो तीनों लोक मंझार भवांबुधि जानहीं।

जय जय प्रभु हो मोह महातम नाशक भानु प्रधानहीं ॥
तुम तो प्रधान दया जु सागर अब बिलम्ब न कीजिये ।
मो दीन ऊपर दया करिकैं वेगि संयम दीजिये ॥
मोहिं देहु दीक्षा रहों गिरिपर जिन चरण सेवा करों।
पाछें तुम्हारे नाथ मैंहूँ भव समुद्रहि से तरों ॥२१॥
तब जिनवर हो देखी अवधिविचारि भविक जिय जानके ।
तब जिनवर हो दीनी दिक्षा ताहि हरष उर आनके ॥
जिन जानी हो यह जिय मरके स्वर्ग सोरहें जाय है ।
जिन जानी हो वहाँसे चय नर होयके शिवपद पाय है ॥
यह पाय है शिव पद दुतिय भव जानि तव दीक्षा दई ।
केश लुंच कराय मन वच काय राजुलने लई ॥
और संघकी सखी जेतीं सबन दीक्षा आदरी ।
ले अनुव्रत महा दुद्धर करहिं तप सब मिलि खरी ॥२२॥
अब राजुल हो द्वादश विध तप करहिं त्रिशुद्ध बनायकैं ।
अब राजुल हो छह बाहर छह भ्यन्तरके उरलायकैं ॥
अब राजुल हो अनशन अवमौदर्य बहुतविधि आदरे ।
अब राजुल हो व्रतपरि संख्या करहिं छहो रस परिहरे ॥
परिहरें स्वाद विविक्त सज्या काय क्लेश नु बहु सहैं ।
अरु करैं आभ्यन्तर तपस्या प्रायश्चित्त विनय लहैं ॥
और वैयाव्रत मुनिनके जूथ स्वाध्याय जो करैं ।
व्युतसर्ग पंचम ध्यान षष्ठम कर्म यहविधि निरजरैं ॥२३॥

अब राजुल हो भेद अठारह सहस शील परिचय दियो ।
अब राजुल हो घोर वीर तप पाल करम रिपु वशकियो ॥
अब राजुल हो अंतसमय दिन आठको तिन अनसन लियो ।
अब राजुल हो मरण कियो सन्यास जाय सुरपद लियो ॥
लियो सुर पद ध्यान शुभ धरि सोरहें स्वर्गहिं गई ।
छेदि स्त्री लिङ्ग तवहीं देव ललितांगहि भई ॥
वाईस सागर आयु चय करि वहुरि नरभव पाय है ।
करि तपस्या वहुरि विधसों अंत शिवपुर जाय है ॥२४॥

सुन भविजन हो यह राजुल पचीसी विचित्र वनाइये ।
सुन भविजन हो अपनी सक्ति प्रमाण शतीगुण गाइये ॥
सुन भविजन हो सम्वत सत्रह सौ पर त्रेपण जानिये ।
सुन भविजन हो माघसुदी तिथि दोज वार गुरु आनिये ॥
गुरुवारको सहजादपुरमें रची सुख समाजसों ।
शाह नौरंग जेव आलम गीर ताके राजमो ॥
गावत विनोदीलाल हर्षित भव्यजनन सुनावही ।
और गावैं नर जु नारी सो अमरपद पावहीं ॥२५॥

श्रीराजुलपच्चीसी सम्पूर्ण ।
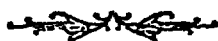
# अथ फूलमालपच्चीसी
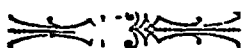
दोहा।

जैन धरम त्रेपन क्रिया, दया धरम संयुक्त।
यादों वंश विषैं जये, तीन ज्ञान करि युक्त ॥१॥
भयो महोछो नेमिको, भूनागढ़ गिरिनार।
जाति चुरासिय जैन मत, जुरे त्रोहनी चार ॥२॥
माल भई जिनराजकी, गूंथी इंद्रन आय।
देश देशके भव्यजन, जुरे लेनको धाय ॥३॥

छप्पय।

देश गौड़ गुजराति चौड़ सोरठि वीजापुर।
करनाटक कशमीर मालवो अरु अमेर धुर ॥
पानीपथ हिंसार और वैराट महा लवु।
काशी अरु मरहट्ट मगध तिरहुत पट्टन सिंधु ॥
तहँ वंग चंग वंदर सहित उदधिपारलौं जुरिय सब।
आए जु चीन महचीन लग माल भई गिरनारि जब ॥

नाराचछन्द ।

सुगंध पुष्प वेलि कुंद केतकी मगायकें ।
चमेलि चंप सेवती जुही गुही जु लायकें ॥
गुलाव कंज लाइची सवै सुगंध जातिके ।
सु मालती महाप्रमोद लै अनेक भाँतिके ॥५॥
सुवर्ण तार पोइ वीच मोति लाल लाइया ।
सु हीर पन्न नील पीत पद्म जोति छाइया ॥
शची रची विचित्र भाँति चित्त दे वनाइ है ।
सु इंद्रने उछाहसों जिनेंद्रको चढ़ाइ है ॥६॥
सु मागहीं अमोल माल हाथ जोरि आनियें ।
जुरी तहाँ चुगम्नि जाति राज राव जानियें ॥
अनेक और भूप लोग सेठ साहु को गनें ।
कहा लु नाम वर्णियें सु देखते सभावने ॥७॥
खँडेलवाल जैसवाल अग्रवाल आइया ।
वघेरवाल पोरवाल देशवाल छाइया ॥
सहेलवाल दिल्लिवाल मेतवाल जानिकें ।
चंदेलवाल पुष्पमाल श्रीश्रिमाल पाँनिकें ॥८॥

सु ओसवाल पल्लिवाल चूरुवाल चौसखा ।
पद्मावतीयपोरवाल ढूँसरा अठैसखा ॥
गँगेरवाल बंधुराल तोर्णवाल सोहिला ।
करिंदवाल पच्चिवाल मेढ़वाल खोहिला ॥९॥
लमेंचु और माहुरे महेसुरी उदार हैं ।
सु गोललार गोलपूर्व गोलहू सिंघार हैं ॥
बंध नौर मागधी बिहारवाल गूजरा ।
सु खंडरा गहोय और जान राज बूसरा ॥१०॥
भुराल औ सुराल और सोरठी चितौरिया ।
कपोल सो मराठवर्ग हूमड़ा नगौरिया ॥
सिरी गहोड़ भंडिया कनौजिया अजोधिया ।
मिवाड़ मालवान और जोधड़ा समोधिया ॥११॥
सु भट्ट नेर रायवल्ल नागरारु धाकरा ।
सु कंथरारु जालुरारु वालमीक भाकरा ॥
पमार लाड़ चोड़ कोड़ गोड़ मोड़ संभरा ।
सुखंडिआत श्रीखँडा चतुर्थ पंचमं भरा ॥१२॥
सुरत्न कार भोजकार नार सिंघ हैं पुरी ।

सु जंबूवाल और क्षेत्र ब्रह्म वैश्य लौं जुरी ॥
सु आइ है चुरासि जाति जैनधर्मकी घनी ।
सबै विराजि गोटियों जु इन्द्रकी सभा बनी ॥१३॥
सु माल लेनको अनेक भूप लोग आवहीं ।
सु एक एक तैं सुमाग मालकों बढ़ावहीं ॥
कहें जु हाथ जोरि जोरि नाथ माल दीजिये ।
मगाय देउँ हेम रत्न सो भँडार कीजिये ॥१४॥
बघेलवाल वाँकड़ा हजार वीस देत हैं ।
हजार दे पचास पोरवार फेरि लेत हैं ॥
सु जैसवाल लाखदेत माललेत चोंपसों ।
जु दिल्लिवाल दोयलाख देते हैं अगोपसों ॥
सु अग्रवाल वोलिये जु माल मोहि दीजिये ।
दिनार देंहु एक लक्ष सो गिनाय लीजिये ॥
खँडेलवाल वोलिया जु दोयलाख देउंगो ।
सु वाँटिके तमोल मैं जिनेन्द्रमाल लेउँगो ॥१६॥
जु संभरी कहें सु मेरिखानि लेहु जायके ।
सुवर्ण खानि देत हैं चितौड़िया बुलायकें ॥

अनेक भूप गाँव देत रायसो चँदेरिका ।
खजान खोलि कोठरीं सु देत हैं अमेरिका ॥१७॥
सु गौड़वाल यों कहै गयन्द बीस लीजिये ।
मद्दाय देंउ हेमदन्त माल मोहि दीजिये ॥
पमारके तुरंग साजि देत हैं बिना गने ।
लगाम जीन पाहुड़े जड़ाउ हेमके बने ॥१८॥
कनौजिया कपूर देत गाड़ियाँ भरायकें ।
सु हीर मोति लाल देत ओशबाल आयके ॥
सु हूमड़ा हँकारहीं हमै न माल देउगे ।
भराइहों जिहाजमें कितेक दाम लेउगे ॥१९॥
कितेक लोग आयकें खड़े ते हाथ जोरिकें ।
कितेक भूप देखिकें चले जु बाग मोरिकें ॥
कितेक सूम यों कहैं जु कैसँ लच्छिदेतहो ।
लुटाय माल आपनो सु फूलमाल लेत हो ॥२०॥
कई प्रबीन श्राविका जिनेन्द्रको बधावहीं ।
कई सुकंठ रागसों खड़ी जुमाल गावहीं ॥
कई सु नृत्यकों करैं नटैं अनेक भावहीं ।

कई मृदङ्ग तालपै सु अङ्गकों फिरावहीं ॥२१॥
कहैं गुरू उदारधी सु यों न माल पाइये।
कराइये जिनेन्द्र यज्ञ बिंबहू भराइये॥
चलाइये जु संघजात संघही कहाइये।
तबै अनेक पुण्यसों अमोलमाल पाइये॥२२॥
सँबोधि सर्व गोटि सो गुरू उतारकें लई।
बुलायकें जिनेन्द्र माल संघरायकों दई॥
अनेक हर्षसो करैं जिनेन्द्रतिलक पाइये।
सु माल श्रीजिनेंद्रकी बिनोदिलाल गाइये॥

दोहा।

माल भई भगवन्तकी पाई संघ नरिंन्द।
लाल विनोदी उच्चरैं सबको जयति जिनंद॥
माला श्रीजिन राज की पावै पुण्य सँयोग।
यश प्रघटै कीरति बढ़ै धन्य कहैं सब लोग॥२५॥

फूलमालपच्चीसी समाप्त

## पंचमेरुनंदीश्वर पूजन विधान ।

इसमें पंचमेरुके अस्सी जिनालय और नंदीश्वर द्वीपके बावन चैत्यालयोंकी न्यारी न्यारी पूजा हैं जैनधर्ममें इसे महान पर्वोमें गणना किया है क्योंकि इसी व्रतके प्रभावसे श्रीपालराज कोटीभटका कुष्टव्याधि दूर होकर सुवर्णके समानकांति होगई थी उसी व्रतकी ये पूजा है मोटे अक्षरोंमें छपा है इस पाठके करता स्व० कवि टेकचंदजी है न्यो० ॥=) मात्र ।

## पंचकल्याणक पाठ भाषा ।

इसमें चौवीस तीर्थंकरोंकी समुच्चय एक और गर्भ जन्म तप. ज्ञान, मोक्ष, पाँचौ कल्याणककी पाँच पूजा न्यारी २ है, जिनमें एक २ पूजनमें चौवीस २ अर्घ हैं जिनके विषैं भगवान के पंचकल्याणकी तिथियाँ और माता पिता तथा कल्याणक नगरियोंके नाम दिये गये हैं। इस पाठके कर्त्ता कवि कमल नैनजी हैं। इनकी कविता कैसी मनोहर है पाठक स्वयं समझ लेंगे न्यो० सात आना मात्र ही है ।

## पंचपरमेष्ठी पूजन विधान ।

इसमें अर्हंतनके छयालीसगुण सिद्धनके आठगुण और आचार्यके छत्तीस गुण उपाध्यायके पच्चीस साधुके अट्ठाईस इस प्रकार १४३ गुणोंके वर्णन करते हुवे अर्घ चढ़ानेका ढंग है विस्तार पंचकल्याणकपाठके समानही है टेकचन्दजी कृत न्यो० ।=)

# सीता-चरित्र

लेखक—

दयाचंद गोयलीय

प्रकाशक—

श्रीकन्हैयालाल मूलचंद

सदुबोधरत्नाकर कार्यालय

बड़ाबजार सागर (सी० पी०)

जैनसिद्धांत प्रकाशक प्रेस कलकत्तामे

पंडित श्रीलाल जैन द्वारा,

मुद्रित।

* श्रीः *

सद्बोध रत्नाकर　　　　　　　　　　द्वितीय रत्न

# सीताचरित ।

अर्थात्

जगत विख्यात राघोवंश तिलक महाराज श्रीरामचन्द्रजी की पतिव्रता भार्या श्रीमती जनकनन्दिनी जानकीजीका संक्षिप्त चरित

लेखक

बाबू दयाचन्द्रजी गोयलीय, बी. ए.

प्रकाशक—

श्रीमूलचन्द जैन मैनेजर व मालिक सद्बोध रत्नाकर कार्यालय, सागर ( सी. पी. )

द्वितीयावृत्ति ]　　　　१९२५ ई०　　　　[ मूल्य ।)

# प्रस्तावना।

महाराज रामचन्द्रजीका यशस्वी नाम कौन नही जानता। वे किसके पूज्य आराध्य देव नहो है। भारतका बच्चा २ उन के नामसे परिचित है। प्रत्येक भारतवासीके घरमें उनकी नित्यशः पूजा वन्दना की जाती है, उनके अलौकिक गुणों और उपकारोंसे समस्त भारतभूमि गूंज रही है। यद्यपि उनको हजारों वर्ष होगए, परन्तु आजतक उनकी विमल कीर्ति उसी प्रकार विस्तृत है। उन्हीकी साध्वी स्त्री सती सीताजी ( जानकीजी ) का यह संक्षिप्त चरित्र है।

प्रिय बहनो ! सीताजीका चरित केवल एक मनोरंजक कथा वा उपन्यास ही नहीं है किंतु नीति और शिक्षाका एक भंडार है। उनके चरितकी एक एक घटना उपदेशसे भरपूर है। उन्होंने एक तेजस्वी पराक्रमी राजाकी पुत्री और एक प्रतापी लोकप्रिय राजाकी पुत्रवधू होकर वे कार्य किए कि जिनके कारण हिन्दू मात्र उनको अम्बे, मात कहकर पुकारता है। संसारमे जितने उत्तम गुण है वे सब मानो विधाताने उनमेंही कूट २ कर भरदिए थे। स्त्रियोमें सबसे उच्चासन सीताजीका है। सीताजीने मानो जन्म लेकर संसारको आदर्श स्त्रीका स्वरूप बता दिया। स्त्रियोंमें जिन २ गुणोंकी आवश्य-कता है उन सबकी परिपूर्णता सीताजीमें थी। यद्यपि योरप

आदि देशोंमे अनेक स्त्रियां हुई, परंतु कोई भी सीताजीकी समानता नही करसकी। सीताजीने भारतवर्षमें जन्म लेकर भारतवर्षके नाम और गौरवको संसारके इतिहासमें सदैवके लिए अंकित कर दिया। जबतक इस पृथ्वी पर चन्द्र सूर्यका प्रकाश रहेगा, सीताजीके अलौकिक गुणोंके कारण समस्त विश्वमंडलमें भारत भूमिका मस्तक ऊंचा रहेगा।

सीताजीने अपने उदाहरणासे सम्पूर्ण जगतको बता दिया कि पतिव्रत धर्म इसे कहते है। जिस सुकुमारी जनकनन्दनीने कभी घरसे बाहर पैर भी न रक्खा था, जिसने कभी भूख प्यासकी वेदनाका नाम भी न सुना था-उसने पतिके साथ जंगलोंमें अनेक कष्टोको सहष सहन किया। कई कई दिन तक बिना खाए पीए रहना गवार किया, परंतु पतिसेवासे क्षणमात्रके लिए भी मुँह न मोड़ा। पति देवका मुखसरोज देखते ही वह सब कष्टोंको भूल जाती थी और एक दम उसके शरीरमें आल्हाद हो आता था।

जब दुष्ट रावण सीताजीको हरकर लेगया और उनके शक्ति भर प्रयत्न करने पर भी कुछ फल न हुआ तो इस पतिव्रता देवीने आहार जलका त्याग कर दिया और दृढ़ प्रतिज्ञा करली कि जब तक श्रीरामकी कुशल क्षेमके सामाचार न सुनूंगी, आहार जलका स्पर्श भी न करूंगी। रावणने कितना समझाया, कितना रिझाया और कितना लोभ दिखाया, परंतु धन्य है, उस पतिव्रता साध्वीको कि जिसने आंख भी उठाकर

उसकी तरफ नहीं देखा और वे अकाट्य उत्तर दिए कि रावणका मुंह बंद होगया और वह अपनासा मुंह लेकर रहगया। फिर जब रामचन्द्रजीने लोकापवादके भयसे सीताजीको निर्जन वनमें निकाल दिया तब उन्हें अनेक घोर कष्टोंको सहन करना पड़ा, परंतु उन्होंने कभी स्वप्नमें भी रामचन्द्रजीको उलाहना नहीं दिया व सदा उन्हींका स्मरण करती रही और यही कहती रही कि इसमें रामचन्द्रजीका कोई दोष नहीं है। यह सब मेरे अशुभ कर्मोंका फल है। मैंने पूर्व जन्ममें अवश्य कुछ बुरे काम किए हैं जिनके ये फल भोग रही हूं। पश्चात जब लव, अंकुशका रामचन्द्रजीसे युद्ध हुआ तो श्रीरामने उनके शीलकी परीक्षा करनेके लिए उनको जलते हुए अग्नि कुंडमेंसे निकलनेका हुकुम दिया, तो वह शीलसुंदरी तत्काल आराध्य देवका स्मरण करके यह कहकर अग्निकुंडमें कूदपड़ी कि यदि मैंने स्वप्नमें भी रामचन्द्रजीको छोड़ कर और किसीका ध्यान किया हो, तो मैं इस अग्निमें भस्म होजाऊं। सीताजी साक्षात् शीलकी मूर्ति थीं। उनके अखंड शीलके प्रभावसे वह महान जाज्वल्यमान अग्निकुंड शीतल जलमय हो गया और देवताने आकर उनकी रक्षाकी।

बहनो! विचार करो, सीताजीको कितने कष्ट सहने पड़े, कितनी आपत्तियोंका सामना करना पड़ा, घर बार छूटा, मित्र सम्बन्धी छूटे, देश ग्राम छूटे, दूसरेकी कैदमें पड़ना पड़ा, तिस पर भी उन्होंने किस प्रकार पतिव्रत धर्मका पालन किया और

शीलकी रक्षाकी। वास्तवमें संसारमें स्त्रीके लिए शीलसे बढ़कर और कोई उत्तम वस्तु नहीं। शील ही स्त्रीका रूप है, शील ही आभूषण है और शीलही शृंगार है। शील ही मरना है। चाहे और सर्वस्व चलाजाय, परंतु यदि शील बच जाय तो कुछ भी गया नही समझना चहिए। यही अमूल्य शिक्षा सीताजीके जीवनसे मिलती है। जिस तरह सीताजीने सब सुखों पर धूल डालकर, पतिके साथ जंगल पहाड़ोंमें शेर, बाघ, स्याल प्रभृतिका सामना करते हुए कंकर पत्थरोंकी ठोकर खाकर कांटों पर चलना स्वीकार किया, इसी प्रकार आपका भी धर्म है कि आपत्ति आने पर भी पतिकी सेवासे विमुख न होओ। वह जिस दशामे हो उसीमे अपना सौभाग्य समझो। चाहे कुछ हो, प्राण रहे या जायँ, मरते २ शीलकी रक्षा करो। तथा पति चाहे कितनाही रुष्ट हो जाय, चाहे कितनाही दण्ड वह दे, परंतु कभी उसकी निंदा न करो। सदा इष्टदेवकी समान उसकी आराधना करो। अहर्निश उसीका स्मरण करती रहो। विश्वास रक्खो कि जो स्त्रियां पतिव्रत धर्मका पालन करती है, देव सदा उनकी रक्षा करते हैं।

एक बात ग्रहण करने योग्य है। सीताजीका स्वभाव बड़ा कोमल था। सदा उनके मुख मंडलसे प्रसन्नता झलकती थी। वे भूलकर भी क्रोध करना नही जानती थी। इसी कारण सब कोई उनसे भगिनीके समान प्रेम करते थे। बहनो! आपको भी यह गुण अवश्य ग्रहण करना चाहिये। संसारमें

उन्हींकी प्रशंसा होती है जिनका स्वभाव नम्र होता है। अपने तो अपने, पराये भी उनसे निस्वार्थ प्रेम करने लग जाते हैं।

बहनो! यह चरित हमने केवल आपके लाभार्थ लिखा है। इसे पढ़कर यदि आपने कुछ भी लाभ उठाया तो हम अपने परिश्रमको सफल समझेंगे और शीघ्र अन्य पतिव्रता देवियोंके चरित भी आपके सन्मुख उपस्थित करेंगे।

इस पुस्तकके संशोधनमें हमें अपने मित्र श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमी बम्बई, तथा लाला भगवानदासजी जैन मालिक जैनप्रेस अहियागंज, लखनऊसे बहुत सहायता मिली है। अतएव हम दोनों महानुभावोंके अत्यन्त आभारी हैं।

लखनऊ

१०-८-१४ दयाचन्द्र गोयलीय

# सीता-चरित्र

## पहला परिच्छेद।

भारतवर्षमें अनेक देश हैं। उन्हींमेंसे एक मैथिल देश है। यह प्राचीन कालसे अनेक ऐतिहासिक घटनाओंके कारण जगत्प्रसिद्ध है। आबाल वृद्ध सबही इसके नामसे परिचित हैं। इसमें ही मिथिलापुर नामका एक नगर था जो हर प्रकारकी धन धान्यादि सम्पदाओंसे भरपूर और प्रकृतिकी विलक्षण शोभाओंसे विभूषित था। यहां किसी समय विश्वविख्यात राजा जनक राज्य करते थे। उनके ऐश्वर्यकी कोई सीमा न थी। वे बड़े सत्यवादी, प्रतापी और प्रजाहितैषी थे। उनकी पट्टरानी श्रीमती विदेहा देवी भी रूप गुणमें सब प्रकारसे उनके

अनुरूप ही थी। उनके अलौकिक गुणों और शील स्वभावके कारण प्रजा उन्हें माता पिता तुल्य मानती थी।

पूर्व पुण्यके उदयसे रानी विदेहाने गर्भ धारण किया। क्रम २ से नौ मास व्यतीत होने पर सर्वांग सुन्दर पुत्र पुत्री का जन्म हुआ, परन्तु दैव योगसे जन्मान्तरके एक वैरी दैत्यने अपना बदला लेनेके अभिप्रायसे पुत्रको उसी रात्रिमें हरण कर लिया। दैत्यको उसपर इतना क्रोध आया कि उसे आकाशसे पृथ्वी पर पटक कर अपने स्थानको चला गया। रथनूपुरका राजा चन्द्रगति, जो अपनी प्राणप्यारीसहित आकाशमें विचर रहा था, बालकको आकाशसे पृथ्वी पर गिरते देख तत्काल नीचे आया और बालकको उठाकर अपने घर लेगया। इस मनोज्ञ बालकको पाकर राजा, रानी दोनोंको अपार आनन्द हुआ। उन्होंने महान् उत्सव मनाया और उस देवोपनीत रत्नोंके कुण्डलकी किरणोंसे मण्डित पुत्रका नाम प्रभामंडल (भामंडल) रक्खा।

## दूसरा परिच्छेद।
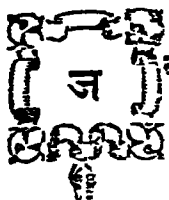
जब सवेरा हुआ और विदेहाने अपने प्राण प्यारे पुत्रको अपने पास न पाया तब उसके बदनमें सन्नाटा छा गया। ऊपरका दम ऊपर नीचेका नीचे रह गया था। थोड़ी देरमें होश आने पर वह गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाने लगी और हाय! हय! कर गगन मंडलको कंपाने

लगी। जनक महाराजने बहुत कुछ समझाया पर उस अब-लाका दु.ख दूर न हुआ। राजाने पुत्रकी खोजमे चारों तरफ तेज घुड़सवारोंको दौड़ाया, अपने मित्र सम्बन्धी राजा महा-राजाओंको समाचार भिजवाया, पर कही भी पुत्रका पता न पाया। लाचार होकर शोकातुर दम्पति पुत्री पर ही संतोष करके बैठ रहे। उसीको लाड प्यारसे पालने लगे। थोड़ी ही दिनोंमे मनोहारिणी जानकीने अपनी बाललीलासे पुत्रका शोक भुला दिया। पुत्री क्या थी? मानों रूप लावण्यकी खानि थी। स्वर्गसे साक्षात् देवकन्या ही भूमंडल पर उतर आई। शिरसे लेकर नख तक उसका एक एक अंग अनुपम सौन्दर्यका एक आदर्श चित्र था। यह कमलनयनी मृगलोचनी कोमलाङ्गिनी, लक्ष्मीस्वरूप कन्या शुक्लपक्षकी शशिकलाकी समान दिनों दिन बढ़ने लगी। क्रमश. इसने यौवनावस्थामे पग रक्खा। अब तो इसके अंग प्रत्यंगकी शोभा और भी बढ़गई। यह अपने रूप लावण्यसे कामदेवकी स्त्री रति और इन्द्राणीको भी लजाने लगी।

अब माता, पिताको विवाहकी चिंता हुई। वे रात दिन यही सोचा करते थे कि इसके योग्य कौनसा राजकुमार है। सोचते सोचते राजा जनकने विचार किया कि इस समय अयोध्याके राजा दशरथ मेरे सबसे बड़े मित्र है। उनके राम लक्ष्मण पुत्र है, जिनमे राम सर्व गुण सम्पन्न. बड़े साहसी शूर वीर है। उन्होंने अभी मुझे शत्रुओंके जीतनेमे बड़ी सहायता दी

है। अतएव मैं उन्हींके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करूंगा। महाराजने अपना यह संकल्प अपनी रानी पर भी प्रकट कर दिया।

## तीसरा परिच्छेद।

नारदजीका कौतूहल जगत्प्रसिद्ध है। कौतूहलही उनके जीवनकी विशेष वस्तु है। चाहे किसीका घर उजडे, चाहे बिगड़े, चाहे कोई सुखशय्या पर शयन करे, चाहे कोई बन बनकी राख छाने, पर उन्हें अपने कौतूहल से काम। कौतूहल वश ही उनके मनमें इच्छा हुई कि चलो ज़रा उस जनकनन्दिनी जानकीको तो देखें जिसे राजा जनकने रामचन्द्रजीको देनी की है। वह किन लक्षणोंसे मंडित है, कैसी सुन्दरी है।

जिस समय नारदजी सीताके महलमें पहुंचे, उस समय वह दर्पणमें अपना मुख देख रही थी। उसमें नारदजीकी भयंकर जटाका प्रतिबिम्ब देखकर वह भयभीत होकर घरके अन्दर घुसने लगी। नारदजी भी उसके पीछे चले, पर द्वारपालके रोकने पर पीछे हट गये। इस अनादरको सीताका किया हुआ समझ कर वे मनमें खेदखिन्न होते हुए कैलाश पर्वतकी ओर चल दिये।

वहां जाकर उन्होंने विचार किया कि इस पापिनी जनकसुताने मेरा घोर अपमान किया। मैं इससे अवश्य बदला

गा। यह दुष्टिनी मेरे आगे कहां बचेगी? यह जहां जहां जायगी, वहां ही कष्टोंमे डालकर इसके इस कृत्यका मज़ा चखाऊंगा। ऐसा विचार कर नारदजीने सीताका एक चित्र पट बनाया और उसे वे रथनूपुर उसके भाई भामंडलके पास लेगये। भामंडल यह नही जानता था कि यह मेरी बहनका चित्र है। चित्र बहुतही सुन्दर बना था। उसे देखकर साक्षात् सजीव सीताका भ्रम होता था। वह उसे देखतेही कामके बाणसे घायल होगया। किसका खाना, किसका पीना सब भूलगया। रात दिन सीताकी चाहमें उन्मत्त रहनेलगा।

उसकी यह दशा देखकर चन्द्रगति विद्याधरने धैर्य दिया और कहा—बेटा! क्यों विह्वल हो रहा है, विषादको दूर करदे तू विद्याधरोंकी अत्यन्त रूपवती कन्याओंको छोड़कर भूमिगोचरियोंसे सम्बन्ध करता है, यह हमारे कुल और जातिके लिये लज्जाकी बात है। अस्तु, यदि तेरे मनमें सीताही बसी है तो क्या चिन्ता है, अभी उसके पिताको बुलाकर सब ठीक किये देता हूं।

विद्याधर राजाने तत्काल अपने दूतको बुलाकर और सब हाल उसे अच्छी तरह समझाकर मिथिलापुरीकी ओर रवाना कर दिया। दूत वहां गया और अपनी विद्याके बलसे महाराज जनकको आकाश मार्गसे रथनूपुरमे ले आया। चन्द्रगतिने राजा जनकका बड़े आदर सत्कारसे स्वागत किया। दोनों एक दूसरेसे मिलकर बड़े आनन्दित हुए।

अवसर पाकर चन्द्रगतिने कहा कि मित्रवर! मैंने सुना है कि आपकी कन्या सीता सर्वगुणसम्पन्न, और सुन्दरी है। अतएव आप उसका मेरे पुत्र भामंडलके साथ सम्बन्ध कर दीजिए। आपको ऐसा वर मिलना कठिन है। जनकने उत्तर दिया,—हे विद्याधरपति! आपका कहना सिर माथे पर है, परन्तु मैंने उसे अयोध्याके राजा दशरथके पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको देनी करदी है। इसपर विद्याधर अपनी प्रशंसा और भूमिगोचरियोंकी निन्दा करनेलगे, कि कहां हम विद्याधर और कहां वे रंक भूमिगोचरी। हे जनक! तुम्हारी बुद्धि कहां चली गई? कुछ तो विवेकसे कामलो। यह तुम्हारा बड़ा भाग्य है कि विद्याधरोंके साथ तुम्हारा सम्बंध होता है, पर जनकने एक न मानी। वे रामकी ही प्रशंसा करते रहे।

जब चन्द्रगतिने देखा कि जनक किसी तरह नहीं मानता तब उसने अपने विद्याधरोंसे सलाह करके जनकराजासे कहा कि तुम वृथा ही राम लक्ष्मणकी प्रशंसा करते हो, उनके बल पराक्रमको तुम जानते नहीं। इसलिए हम देवो द्वारा पूजनीय वज्रावर्त, और सागरावर्त दो धनुष देते है, यदि राम लक्ष्मण इनको चढ़ा देवें, तो हम उनकी शक्ति जानें। तब आप उन्हें अपनी कन्या खुशीसे दे दें, हम कुछ न कहेंगे, अन्यथा हम तुम्हारी कन्याको जबरदस्ती ले आवेंगे, और तुम देखते के देखते ही रह जाओगे। जनक महाराजने यह बात स्वीकार करली। वे धनुष और विद्याधरोंको लेकर मिथिलापुर चले आये।

जब महाराजने नगर प्रवेश किया तब अनेक मंगलाचार गाये गये। सब कोई भेट लेलेकर सन्मुख उपस्थित हुए।

विद्याधरोंने नगर बाहर आयुधशाला बनाई और वहां उन्होंने भयंकर धनुषोंको रखदिया।

राजा जनकने बात स्वीकार करही ली थी, परन्तु उन्हें अन्तरंगमें बड़ी चिन्ता हो रही थी। वे धनुषोंको देखकर भयसे कम्पित हो रहे थे।

## चौथा परिच्छेद।

अ तमे महाराज जनकने सभासद और मंत्रियोंको बुलाकर स्वयम्बर रचनाकी आज्ञा दी। बातकी बातमें राजकुमारीके स्वयम्बरकी बात सारे नगरमें फैलगई। सर्व साधारणकी उत्सुकता स्वयम्बर देखनेके लिए शनैः शनैः बढ़ने लगी। देश देशान्तरोंसे आये हुए राजा महाराजाओंसे सारा शहर भरगया, नगरके चारों ओर हज़ारों डेरे, तम्बू बातकी बातमें दिखलाई देने लगे। अयोध्याके महाराजा दशरथ भी अपने चारों राजकुमारों सहित वहाँ पधारे और स्वयम्बरके दिनकी प्रतीक्षा करने लगे।

आज स्वयम्बरका दिन है। जिधर देखो उधर ही झुंडके झुंड लोगोंके दिखाई देते है। निमंत्रित राजा महाराजा सज धजकर स्वयम्बर मण्डपकी ओर आरहे है। नगरकी सौभाग्य--

-वती स्त्रियां अपने अपने कोठों पर चढ़ी फूलोंकी वर्षा करती और नाना प्रकारके क्रीड़ा कौतुक कर रही हैं। कोई हँस रही है, कोई गारही है, कोई अपनी सहेलीसे बातें कर रही है। राजकुमारोंके रूप, रंग, अस्त्र, वस्त्र उनके आलोच्य विषय हो रहे हैं।

अब स्वयम्वरका समय आ गया। शंखध्वनिसे सारा मण्डल गूंज उठा। स्त्रियां मंगल गीत गाने लगीं, भांति भांतिके बाजे बजने लगे। बन्दीजन उच्चस्वरसे यशगान गाने लगे और जय जय शब्दका उच्चारण करने लगे। भारतके सभी निमंत्रित राजे महाराजे एक पंक्तिमें कुमारीके महलके सामने विराजमान थे। सभाके चारों ओर दर्शकोंकी अथाह भीड़ थी। कान पड़ा शब्द सुनाई न देता था। सभीकी दृष्टि जानकी पर लगी हुई थी। एक खोजा जो सबसे परिचित था, हाथमें एक बेत लिये हुए इशारा कर करके कुमारीको हर एक राजकुमारका गुण सुनाता जाता था।

हे राजदुलारी, तुम्हारे पिताजीके बुलाये हुए भारतके सभी प्रधान प्रधान राजा इस स्वयम्वर सभामें पधारे हैं। ये अंग, वंग, कलिंग, कौशल, पांचाल, मगध, काशी, गांधार आदि देश देशोंके अधिपति तुम्हारे अनुपम सौंदर्यको सुनकर तुम्हारे पाणिग्रहणके इच्छुक होकर आये हैं। इनमेंसे जो कोई आयुध-शालामें रक्खे हुए वज्रावर्त, सागरावर्त, धनुषोंको चढ़ा देगा, वही तुम्हारा पति होगा।

जनकनंदिनीने सबकी ओर देखते हुए अपने मनमे विचार किया कि यद्यपि राजपुत्र तो सभी सुभग और सुन्दर है। परन्तु इन सबमे दशरथसुत रामचन्द्रजो ही शिरोमणि है। देखिये, भाग्यमे क्या बदा है ? धनुष चढ़ालें तभी मनोकामना पूर्ण हो। सीता ज्यों ज्यों रामको देखती थी, उसके सारे शरीरमे रोमञ्च हो आता था। सबकी दृष्टि जानकी पर थी, पर जानकीकी दृष्टि केवल राम पर थी। वह उन्हे निर्निमेष दृष्टिसे टकटकी लगाये हुए देख रही थी।

जनक महाराजका इशारा पातेही सब राजा महाराजा खड़े होगये और आयुधशालाकी ओर जाने लगे। धनुषोंको देखतेही बड़े बड़े पराक्रमी पीछे हट गये। किसीका साहस नही हुआ जो उनको हाथ लगावे। किसी किसीने उद्योग भी किया, परन्तु उन्हे अपना मुंह लेकर पीछे हट जाना पड़ा। अन्तमें श्रीरामने वीरतासे आगे बढ़कर बातकी बातमे वज्रावर्तको तान दिया। लक्ष्मण भी अपना पराक्रम दिखलानेके लिये आगे बढ़े और उन्होंने दूसरे धनुष सागरावर्तको उठाकर खैंच लिया।

धनुष चढ़ातेही सीता हाथमे वरमाला लिए शीघ्रतासे आगे बढ़ी और उसने वह प्रफुल्ल मनसे अपने प्राणप्यारे श्रीरामके गलेमें डालदी। बस अब क्या था ? सखियां मंगल गीत गाने लगीं, बाजे बजने लगे, पुष्पवृष्टि होने लगी, चारों ओरसे जय जय शब्द होने लगे और आकाशमे देवगण धन्य धन्य कहने लगे।

इस अपूर्व दृश्यको देखकर जनक, दशरथ तथा उनके सम्बन्धी बहुतही आनन्दित हुए। सीता रामका जोड़ा ऐसा मालूम होता था मानो चाँद और सूरज दोनों एकसाथ पृथ्वी पर उतर आये है।

विधि अनुसार 'विवाह संस्कार हुआ और दशरथ बड़े आनन्द मंगलके साथ पुत्रवधूसहित अयोध्याको रवाना हुए। जब यह शुभ संवाद अयोध्यावासियोंने सुना, तब वे हर्षके मारे अंगमें फूले न समाये। घर घर आनन्द मंगल होने लगे। बड़ो धूम धामसे नवीन वर वधूका स्वागत किया गया। इस समय प्रत्येकके हृदयमें रामकी वीरताका चित्र घूम रहा था।

## पांचवां परिच्छेद ।
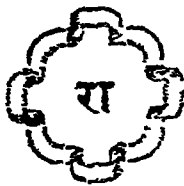
म जानकीका जोड़ा आदर्श पति पत्नीका जोड़ा था। उनका जीवन सच्चा धार्मिक जीवन था। जिन सुखोंके लिये विवाह किया जाता है वे सब उन्हें प्राप्त थे।

इन सुखोंको भोगते हुए इनका जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगा, परन्तु जब भामंडलको यह समाचार पहुंचे तब उसका सारा शरीर कांपने लगा। वह ठंडी साँस भरकर कहने लगा—"इस हृदयविदारक घटनाने तो मेरी रही सही आशाओंकी एकदम इतिश्री करदी। हा! अब मैं कहां जाऊं? क्या करूं? वह मेरे मनको हरण करनेवाली, मेरे नेत्रोंमें वास

करनेवाली जानकी क्या सचमुच रामको मिलगई ? चाहे कुछ हो, प्राण रहें या जाएँ, पर मैं सीताको रामके भवनमेंसे निकाल कर लाऊंगा। ऐसा दृढ़ विचार करके भामंडलने अयोध्याका रास्ता लिया। वह अनेक वन, उपवन, नदी सरोवरोंको पार करता हुआ सीताकी चाहमे जा रहा था, परन्तु दैव ! तू प्रबल है, तेरे आगे पुरुषार्थ सिर झुकाता है कहां तो भामण्डल सीता-को अर्धांगिनी बनानेके लिए जा रहा था और कहां उसे रास्तेमें ही एक शहरके देखतेही जातिस्मरण हो आया और वह तत्काल विचारने लगा। रे आत्मन्, तू क्यों मूढ़ हुआ है, तेरी समझ पर क्या पत्थर पड़े है। अरे पापी, जिसकी धुनमे तू पागल हुआ वन वनकी राख छानता फिरता है, वह तो तेरी माजाई बहिन है। इस प्रकार भामण्डल अपनेको धिक्कारता हुआ लौट आया।

राजा चन्द्रगतिने यह बात सुनते ही संसारको क्षणभंगुर जानकर त्याग दिया और मुनि महाराजके निकट जाकर दीक्षा लेली। इसी समयमे दैवयोगसे महाराज दशरथ भी पुत्रसहित मौजूद थे। मुनि महाराजका उपदेश सुनकर और अपने पूर्वभवोंका हाल जानकर सब गले लग लग मिले। सीता भाईको देखतेही प्रेमके आंसू बहाती हूई उसकी छातीसे चिपट गई। महाराज जनक और महारानी विदेहा दोनों अपने बिछुरे हुए लालको पाकर हर्षके मारे अंगमे फूले नही समाये।

---

## छठा परिच्छेद ।

दैवकी महिमा अपरम्पार है। वह जो कुछ न करे थोड़ा है। सीताजीको अभी सुख चैनसे रहते हुए कुछ देर न हुई थी कि एक नवीन घटना उपस्थित हो गई। एक दिन महाराज दशरथ संसारसे विरक्त होकर जिन दीक्षाके लिए उद्यमी होगये। "हाय! पति तो दीक्षालेते ही हैं, क्या पुत्र भी इस नव यौवन अवस्थामें दुर्द्धर तप करेगा? फिर मेरी कौन सुधि लेगा? मैं किसके आश्रय रहूंगी? ऐसा सोचकर महाराणी केकईने महाराजसे प्रार्थना की कि प्राणनाथ! आपको याद होगा, आपने मेरी युद्धस्थलकी चतुराईसे प्रसन्न होकर मनचाहा वर मांगनेके लिए वचन दिया था। सो अब कृपा करके उस वचनको पूरा कर दीजियेगा। महाराज दशरथने सहर्ष उत्तर दिया, प्रिये, निश्चयसे मैं तुम्हारा ऋणी हूँ; जो चाहो माँगो। केकईने नीची दृष्टि करके कहा कि राजगद्दी भरतको मिले।

यद्यपि यह वचन न्यायविरुद्ध और लोकविपरीत था कि बड़े पुत्रके होतेहुए राजगद्दी छोटेको मिले, परन्तु राजा दशरथने यह विचार करके कि "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहि पर वचन न जाई" भरतको राजतिलक देना स्वीकार करलिया। रामचन्द्रजी इस समाचारको सुनकर तनिक भी

दिलगीर न हुए। उल्टा उन्होंने भरतको समझा बुझाकर राज्यभार संभालनेके लिए तैय्यार कर दिया। भरत पहलेसे ही भोग विलासोंसे उदासीन हो रहा था। अब तो उसकी उदासीनताकी सीमा न रही। वह बार बार अपनेको धिक्कारने लगा, परन्तु सबके और विशेषकर रामचन्द्रजीके आग्रहसे विवश हो उसे राज्यका भार लेनाही पड़ा।

श्रीरामचन्द्रजीने यह ही नही किया, किन्तु उन्होंने यह विचारकर कि यदि मैं यही अयोध्यामें रहूंगा तो मेरे रहते हुए लोग भरतकी आज्ञाका प्रतिपालन न करेंगे, उसका महत्त्व और ऐश्वर्य जगत्मे विस्तरित न होगा। अयोध्यासे बाहर दक्षिण देशको जानेका दृढ़ संकल्प कर लिया और वे धनुष-बाण हाथमे लेकर चलनेको उद्यमी हो गए। यह समाचार सुनकर लक्ष्मण दोड़ा हुआ आया और भाईके साथ चलनेके लिये तैयार हो गया। रामचन्द्रजीने हजार समझाया पर उसने एक न मानी।

जब पतिगमनके हृदयविदारक समाचार जानकीको मिले तब उसकी जो दशा हुई, लेखनी द्वारा उसका प्रगट करना मनुष्योंकी शक्तिसे बाहर है। यह बात आबाल वृद्ध किसीसे छिपी नही कि संसारमे सच्चरित्रता और पवित्रतामें कोई भी स्त्री सीताकी समानता नही कर सकती। उसके शील और पतिव्रत धर्मकी देवता तक मुक्त कंठसे प्रशंसा करते थे। अपने आराध्यदेव प्राणनाथको वन जाते सुन कर वह एकदम अचेत

होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। अनेक शीतोपचार करने पर होशमें आई और पतिके संग चलनेके लिए खड़ी हो गई।

प्रेमके भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी भी वहाँ आ पहुँचे और जानकीको छातीसे लगाकर कहने लगे, प्राणप्यारी! पूज्य पिताजीने भरतको राजगद्दी दी है, अतएव मैं कुछ कालके लिये दक्षिणकी ओर जाता हूँ। जब भरतका राज्य यहां निष्कंटक जम जायगा, तब लौट आऊँगा। इतने समय तक तुम यहाँ सुखपूर्वक माताके पास रहो, कोई चिन्ता न करो, मैं बहुत शीघ्र तुमसे आकर मिलूँगा।

सीता—प्राणनाथ! आप क्या कहते हैं? मेरी समझमें कुछ नहीं आता। आप जंगलमें जायँ मैं सुखपूर्वक घर पर रहूँ क्या यह सम्भव है? नाथ! सुख शब्दका प्रयोगही पतिके संग है। पतिके बिना यह रमणीय संसार श्मशान भूमिके समान प्रतीत होता है। आपके बिना मेरे लिए सारी पृथ्वी शून्य है। यह कदापि नहीं हो सकता कि आप जांय और मैं यहां रहूँ। मैं आपके संग चलूँगी। इसमें ही मेरा सौभाग्य है। करुणाकर मुझपर दया करो।

राम—प्राणवल्लभे! मार्ग बड़ा कठिन है। तुमने कभी घरसे बाहर पैर भी नहीं रक्खा। तुम किस तरह रास्तेके कष्टोंको सहन करोगी। ठौर ठौर पर सिंह व्याघ्र मिलेंगे, तुम उन्हें कैसे देख सकोगी? तुमने ग्रीष्म और शीत ऋतुको जाना नहीं, तुम कैसे गर्मी, सर्दीको सहन करोगी। तुमने कभी रेशमी

मखमली फर्श परसे पैर नही उतारा, अब तुम किस तरह कठिन कंकर पत्थरोंमें चलोगी। पग पग पर पैरोंमें कांटे चुभेंगे, चलते चलते छाले पड़जावेंगे। प्रिये, तुम्हारा यह शरीर इस योग्य नहीं। मेरा कहा मानो घरपर रहो। दिन जाते देर नही लगती। मैं जल्द वापिस आजाऊँगा।

जानकी—प्राणप्यारे, आपके विना मुझे स्वप्नमें भी सुख नहीं। सारे सुख आपके साथ है, आप मेरी कोई चिंता न करें, आपके चरणकमलमें निवास करते हुए मेरे सारे दुःख सुखमें परिणत हो जायँगे। मैं रास्तेके कष्टोंको सहर्ष सहन कर सकूँगी, पर दयालुनाथ! आपके वियोगके असह्य दुःखको क्षण-भर भी सहन नही कर सकूंगी। आपके विना मेरा जीवन व्यर्थ है। नाथ! मुझपर दया करो, मुझे जीवन दान दे अपने साथ ले चलो।

राम—प्रिये मेरा कहा मान लो, घर पर रहो, इसीमे मेरा तुम्हारा दोनोंका कल्याण है। अन्यथा मेरी लोकमे निन्दा होगी। तुम व्यर्थ कष्ट उठाओगी और तुम्हे कष्ट सहते देखकर मेरा चित्त सदा व्याकुल रहेगा। यहाँ घर पर सास तुम्हे लाड़ प्यारसे रक्खेंगी।

सीता—स्वामिन्, मुझे दुःख मत दीजिये। मेरा हृदय फटा जाता है। आपके विना माता, पिता, भगिनी, भ्राता, सास, श्वसुर मेरा कोई शरण नही। प्राणाधार, मुझे इस संसारमे एक आप ही शरण है। क्या आप मुझे अशरण छोड़कर जा-

यँगे ? हृदयेश्वर, क्यों मुझे जीतेजी शोकसागरमें पटकते हो ?
मैं सबकुछ सहलूँगी, पर आपका वियोग नही सह सकूँगी।

रामचन्द्र—प्यारी ! मैं फिर कहता हूं। जंगलके कष्ट तुमसे सहे न जायँगे। पैदल तुमसे चला न जायगा। फल फूल खानेको मिलेंगे। तुमारा स्वभाव अति मृदु है। तुम जंगल के निशाचरादिक देखकर भयभीत होजाओगी। हठको छोड़कर तनिक विचारसे काम लो। यहां तुमको स्वप्नमें भी कष्ट न होगा।

सीता—नाथ ! यह सब कुछ सच है। पर मैं इन कष्टों की कुछ भी परवा नही करती। जहां आप होंगे, वहां मुझे कोई कष्ट न होगा। मैं बार बार हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूं। मुझपर दया करो। दयालु प्रभो, आपकी दया जगत् प्रसिद्ध है। फिर मेरे लिये क्यों कठोर हो रहे हो। क्या मुझसे नेह तोड़ दिया ? क्या आपको मुझसे प्रेम नहीं रहा ?

रामचन्द्रजीने सीताजीको बहुत कुछ समझाया, पर वह पतिव्रता अपने धर्मसे एक पग पीछे न हटी। वह जनकनन्दिनी जानकी जिसने पिताके घर एक पैर भी खाली भूमि पर न रक्खा था और पतिके घर धूप तक भी नहीं देखी थी, अब पति-के साथ वन चलनेके लिए खड़ी है। स्वर्ग समान भोग विला-सोंको जलांजली देनेके लिए तैयार है, पर पतिका संग नहीं छोड़ती। सुखमे सब कोई साथी है पर सीता दुखमें उपस्थित है। पतिही उसका रूप है, पतिही उसका भूषण है, पतिही

उसका धर्म है, पतिही उसका आराध्य देव है, यहां तक कि पतिही-उसका सर्वस्व है। पतिके सुखमें सुख और दुखमें दुख समझना यही सच्चा पतिव्रत धर्म है।

अंतमे रामचन्द्रजीने लाचार होकर संग चलनेकी आज्ञा दे दी। अब तो सीता अगमे फूली न समाई। दौड़ी हुई अपनी सासके पास आई और उनसे आज्ञा मांगने लगी।

कौशल्या रोने लगी और पुत्रवधूको छातीसे लगाकर कहने लगी। हे चन्द्रमुखे! क्या तू भी जाती है? अब इस अवधपुरी में कौन रहेगा? तुम्हे देखकर ही संतोष करती, पर हाय! अब तो जीतेजी मर चुकी। राजदुलारी! तुम्हारा यह सुन्दर शरीर जंगलके घोर दुख सहनेके योग्य नही है। प्राणप्यारी तुम तो यहां रहो। हा दैव! मेरी मृत्यु क्यों नही आजाती! मैं इनके वियोगमें किस तरह तड़प तड़प कर दिन काटूंगी।

सीता—माता इसमें किसीका दोष नहीं, यह हमारे पूव अशुभ कर्मोंका फल है। आप विषाद न करें। कर्म वलवान् है। किसीका टाला टलता नहीं। अब मुझे आशीर्वाद दीजिये, यदि जीवित रही, तो फिर आन मिलूंगी।

यह कहकर सीता रोने लगी।

कौशल्या—लाड़ली क्यों रोती है? आजका दिन मुझे देखना था मेरे भाग्यमे यही वदा था। तुम सदा पतिकी सेवा करती रहना। पातिव्रत धर्म समझना। संसारमें वेही स्त्रियां यश पाती है, उन्हीकी जगत् प्रशंसा करता है जो पतिव्रत

धर्मका पालन करती हैं। तुम शीघ्र वनसे वापिस आना। मैं एक एक समय कष्टसे विताऊंगी। हा! अव मेरा घर शून्य होगया।

लक्ष्मण भी चलनेको तैयार हो गया। सारी अयोध्यामें शोक छागया। घर घरमें रो रुहाट मचगया। हाट वाज़ार वंद होगये। राम लक्ष्मण सीता तीनोंने माता पिता तथा कुटुम्बी जनोंसे आज्ञा लेकर नगरसे वाहर प्रस्थान किया। सारे नगरनिवासी गला फाड़ फाड़ कर रोने लगे। हज़ारों नरनारी उनके संग चलने लगे। राम मना करते थे। वड़ी कठनाईसे वहुत दूर जा कर उन्हे समझा वुझाकर विदा किया।

## सातवां परिच्छेद।

कड़ी धूप पड़ रही है, ज़ोरसे लूयें चल रही है; भूमि अग्निसमान जलरही है। मुसाफिरोंके पैरोंमें छाले पड़गये हैं। घड़ियों पानी पीने पर भी प्यासके मारे व्याकुल होरहे है। ऐसी दशामें हमारी पतिव्रतादेवी जानकी असह्य कष्टोंको सहती हुई कॅकरीले रास्तोंमें जारही है, परन्तु पतिके प्रेमवश उसके मुख कमल पर तनिक भी खेद नहीं, जव कभी शरीरसम्वन्धी अधिक कष्ट होता था, प्राणनाथकी ओर दृष्टि पसारतेही वह सव दुःख भूल जाती थी और उसके चेहरेसे पूर्ववत् प्रसन्नता झलकने लगती थी। इसी तरह तीनों धीर

धीरे चलते, रमणीक वनोंमें विश्राम लेते, जंगलके कन्दमूल फलोंको खाते रसभरी बातें करते, मार्गमे असहाय पुरुषोंकी सहायता करते और अपने बल पराक्रमसे उनके कष्ट निवारण करते हुए बहुत दूर निकल गये और नासिकके समीप दण्डक बनमे जा पहुंचे।

वहांका जल वायु अति उत्तम है। प्रकृतिकी छटा अद्भुत है। स्थान स्थान पर पानीके झरने बह रहे है। पक्षीगण मीठे स्वरसे कल नाद कर रहे है। ज्योंही यहां ठहर कर जानकीने तरह तरहके फलोंका मिष्ट स्वादिष्ट भोजन तैयार किया उसी समय भाग्यवश दो चारण ऋद्धिके धारी मुनि महाराज भी आगये। जानकीने बडी भक्तिसे उनको भोजन कराया।

इस ही समय एक पक्षी वृक्ष परसे मुनियोंके चरणोंमे आ पड़ा। मुनि महाराजोंने उसके पूर्व भवका हाल सुनाकर उसको श्रावकके व्रत धारण कराये और उसे रामचन्द्रजीके पास छोड़कर आप आकाशमार्गसे विहार कर गए।

राम, जानकी, इस पक्षीको जटायु कहकर पुकारने लगे। जानकी इसे बहुत ही प्यार करने लगी और हर समय इसे अपने पास रखने लगी।

---
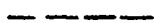
## आठवां परिच्छेद ।

एक दिन लक्ष्मण वनमे इधर उधर सैर करता फिर रहा था। अकस्मात् उसकी दृष्टि 'सूर्यहास्य' नामक प्रकाशमान खड्गपर पड़ी। उसे लंकाधिपति रावण का भानेज शम्बूक एक बांसके वीड़ेमे १२ वर्षसे सिद्ध कर रहा था। इसे देखते ही लक्ष्मणने उछलकर खड्गको ले लिया और परीक्षार्थ उसी वीड़े पर चला दिया जिससे सारा वीड़ा एक ही हाथमें साफ होगया और उसके साथ ही खडगके अभिलाषी शम्बूकका शिर भी धडसे जुदा होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। लक्ष्मण खड्गको लेकर अपने डेरे पर चला आया। इधर शम्बूककी माता चन्द्रनखा ( सूर्पनखा ) जो शम्बूकके लिए भोजन लेकर आई थी, अपने पुत्रका शिर कटा देखकर वेहोश होगई। वहुत देरमें सचेत होकर हाहाकार करती हुई घातककी खोजमें इधर उधर जगलमें भटकने लगी। हाय पापी काल! तुझे मेरा ही पुत्र भक्षण करना था। मैंने तेरा क्या विगाड़ा था? हा मेरे प्यारे लाल! तू अपनी माताको छोड़कर कहां चला गया? कौन दुष्ट तेरे खूनका प्यासा था?

इस प्रकार चन्द्रनखा विलाप करती फिर रही थी कि उसकी दृष्टि राम लक्ष्मण पर पड़ गई। इन्हें देखतेही वह तमाम शोक भूल गई और कामके वाणसे घायल हो गई। अवसर पाकर उसने इन दोनों भाईयोंसे अपनी मनोकामना पूर्ण करने-

की प्रार्थना की, परन्तु इन्होंने मौन धारण कर लिया और कोई भी उत्तर न दिया। यह देखकर और अपनी दाल गलती न देखकर चन्द्रनखा बुरा हाल बनाकर रोती पीटती अपने पति खरदूषणके पास गई और कहने लगी कि नाथ, आपके राज्यमें एक दुष्टने मेरे पुत्रको मारकर खड्ग रत्न ले लिया और उसी पापीने मुझे बलात्कार पकड़कर मेरे शीलको भंग करना चाहा, परन्तु पूर्व पुण्यके उदयसे और कुलदेवीके प्रसादसे मैं शील बचाकर यहां बच आई।

यह बात सुनते ही अलंकाधिपति खरदूषण क्रोधके मारे लाल ताता हो गया। उसने तत्काल ही रावणको पत्र लिखा और बहुत बड़ी सेना लेकर राम लक्ष्मण पर चढ़ गया।

चारो तरफसे सेनाको आती देखकर सीता रामचन्द्रजीसे कहने लगी—नाथ ! देखो यह सेना हमारी ओर आरही है, लक्ष्मण किसीको मारकर खड्ग ले आये है, उसके कारण अथवा उस दुष्टा व्यभिचारिणी स्त्रीकी कृपासे यह उपद्रव हुआ जान पड़ता है।

राम - (धनुष चढ़ाकर) प्यारी डरो मत, कोई चिंता नही। सेना आती है, तो आने दो।

लक्ष्मण—( तीर कमान हाथमें लेकर ) पूज्य भ्राताजी आप सुखपूर्वक यहां रहें, मैं इन गीदड़ोंको अभी भगा आता हूं। आप सीताजीकी रक्षा करें। यदि आवश्यकता हुई, तो मैं आपको सिंहनाद करके बुला लूंगा।

रामचन्द्रजी सीताके पास बैठ गए। लक्ष्मण रणभूमिमें जाकर बड़ी शूरवीरतासे शत्रुका सामना करने लगा और ऐसी चतुराईसे लड़ा कि थोड़ी ही देरमें शत्रुकी सारी सेनाके पैर उखाड़ दिये। अपनी सेनाको पीछे हटते देखकर खरदूषणने रावणको सहायताके लिये बुला भेजा।

## नौवां परिच्छेद।
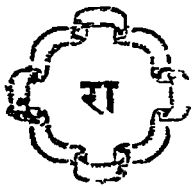
रावण समाचार पातेही खरदूषणकी मददके लिये पुष्पक विमानमें बैठकर चल पड़ा। परन्तु अभी रणभूमिमें आया भी न था कि रास्तेमें सीताके रूप लावण्यको देखकर मुग्ध हो गया। यह कोई देवकन्या है, या कामदेवकी स्त्री रति है, या शिवकी अर्धांगिनी पार्वती है। ऐसी सुन्दर नवयौवनवती स्त्री तो न कभी हुई, न कभी होगी। इसके बिना मेरा जीतव्य निरर्थक है। इस तरह वह तरह २ के ऐसे विचार करने लगा। अब रावणको लोक परलोककी कोई चिन्ता नही, पुण्य पापका विचार नही, "युद्धमें जाना है" इसका भी ख्याल नही। अब तो एक मात्र सीता उसके मनमें बसी है, उसीके प्रेममें वह अंधा हो रहा है और उसीके हरण करनेका उपाय सोच रहा है।

रावण साधारण पुरुष न था। वह बड़ा ज्ञानी पंडित था। बड़ा पराक्रमी था। तीन खंडका अधिपति, महाशूर वीर तेजस्वी राजा था। परन्तु चित्तकी गति विचित्र है। लोकमें लोभ

समान कोई पाप नही और लोभमें भी परस्त्रीके समान कोई अनर्थ नही। परस्त्रीके कारण रावण जैसे पंडितकी भी बुद्धि विगड़ गई। उसे एक कर्णपिशाचिनी विद्या सिद्ध थी। उसके बलसे उसने यह जान लिया कि लक्ष्मण आपत्तिके समय सिंह-नाद करनेको कह गया है। अब तो वह फूला अंग न समाया, उसका काम बन गया। उसने आपही लक्ष्मणके समान सिंह-नाद कर दिया। रामचन्द्रजीको "राम ! राम !" की पुकार सुनाई दी।

इन शब्दोंको सुनते ही रामका चित्त व्याकुल हो गया। उन्होंने विचार किया कि भाई पर अवश्य कोई आपत्ति आई है और उसीने यह शब्द किया है। लाचार प्राणप्यारी सीताको जटायु पक्षीकी रक्षामें छोड़ कर आप भाईकी मददके लिये युद्ध-स्थलमें जा पहुंचे।

जिस समय अशुभ कर्मोंका उदय आता है, उस समय सारे कुलदेवी देवता सो जाते है। बैठे बिठाये आपत्तिका पहाड़ सिर पर आ पड़ता है। यह आपत्ति कौन कम थी कि राज्य विभूति-को छोड़कर, सुख सम्पत्तिको त्यागकर जनकनंदिनी गर्मी सर्दी-के कष्टोंको सहन करती, भयंकर वनोंमें पैदल पतिके संग फिरती थी। पर हा दैव ! तू बड़ा दुष्ट है। तुझे इस कोमलांगी पर तनिक भी दया न आई। एक आपत्तिसे निकली नही कि इस बेचारीको दूसरीमें पटक दिया।

रामचन्द्रजीके जाते हो रावण उस स्थान पर आया, जहां

पतिव्रता सीता अपने प्राणनाथको याद कर रही थी। एक अपरिचित व्यक्तिको अपनी तरफ शीघ्रतासे आता देखकर सीता भयसे कांप गई और कहने लगी 'तुम कौन हो? क्यों मेरी तरफ बढ़े आ रहे हो? जरा दूर रहो, परस्त्रीके आंचलको मत छुओ'।

रावण—प्यारी! "कहां यह वन जहां भालू, बन्दर। कहां तू सुकुमारी अति सुन्दर।" प्रिये, यह स्थान तुम्हारे योग्य नहीं, यह जंगल सुनसान बियाबान है। नाना दुष्ट भयंकर जीव यहां विचरते हैं। कोई तुम्हें क्षणमात्रमें भक्षण कर जायगा। चलो, मैं तुम्हे विमानमें बिठाकर लंकापुरी ले चलता हूं, जिसकी बनावट सजावटके सामने इन्द्रपुरी भी शरमाती है। मैं तीन खण्डका धनी रावण हूं। मेरे बल पराक्रमको देखकर काल भी भयभीत होता है। मेरे यहां चलो, वहां आनन्दपूर्वक जीवनके अकथनीय सुख भोगना। मुझे आशा है कि लंका देखकर तुम्हें रामचन्द्रका नाम भी याद न आयगा।

सीता—अरे पापी! कैसे शब्द मुखसे निकालता है; हट, दूर हो। परस्त्रीसे एकान्तमें बात करना ही पाप है। मुझे तेरे महलोंकी जरूरत नहीं। मेरे लिये वे ही महल हैं जहां मेरे प्राण-पति-राम विराजते हैं। याद रख जिस लंकाकी तू इतनी बड़ाई करता है, एक रोज उसमें गीदड़ और कुत्ते रोएंगे।

वृथा अभिमान करता है अरे मतिमन्द तू बलका॥ टेक॥
अकेली जानकर मुझको वचन बोला है तू छलका। अरे हट दूर हो पापी पकड़ पल्ला न अंचलका॥

रावण—प्रिये, तुझे मेरे बलका पता नही है। मैं कुबेरका सौतीला भाई ही हूं। मेरे डरसे देवता तक थर थर कांपते है, मनुष्योंको तो बिसात ही क्या हैं। मेरे सामने तेरा पति तिनकेके बराबर भी नही। मेरी शक्ति, मेरी विभूति, मेरा ऐश्वर्य इन्द्रसे भी अधिक है। मेरे मंदोदरी आदि सहस्रों स्त्रियां है, मैं सबसे उच्चपद तुमको दूंगा। मेरा वचन मानो, मेरे साथ चलो।

सीता—अरे नीच कुबेरका भाई बनते और पराई स्त्रीको चुराते लज्जा नही आती। अरे राक्षस! इन्द्रकी इन्द्राणी सचीको चुराकर भले ही कोई जीता बच जाय पर रामकी भार्याको हर कर कोई बच नही सकता। बस अधिक मत बोल, मेरे हाथ न लगा। यदि तू अधिक सतायेगा तो अभी प्राण दे दूंगी। इतना कहकर सीता राम राम पुकार कर रोने लगी।

रावण उसको पकड़कर विमानमें बिठाने लगा। बेचारे जटायुने चोंचें मार मारकर उसे बहुत रोका और उसका वस्त्र भी फाड़ दिया, परन्तु रावण जसे बलवान् पुरुषके सामने अल्प-शक्ति धारी पक्षी क्या कर सकता था? रावणने जटायुको मार कर गिरा दिया और सीताको बलात्कार विमानमे बिठाकर लंकाकी ओर चल दिया।

———

## दशवां परिच्छेद ।

अव सीताके दुखका कोई पार नहीं । वह चिल्ला चिल्ला कर गगन मंडलको फाडे डालती है । उसके रुदनसे जंगलके पशु पत्ती भी स्तम्भित रह जाते है । हाय राम ! हाय राम !! यही शब्द उसके मुखसे बार २ निकलते है । हा जगदीश ! मुझपर यह कौनसी विपत्ति आई । मुझ अबलापर यह क्या दुख डाल दिया, मैं किस तरह सहन करू । प्राणनाथ ! आप कहां है ? शूर वीर देवर लक्ष्मण ! तुम्हारी शक्ति कहां गई ? तुम्हारा वल पराक्रम कहां है ? हा भाई भामंडल क्या तू भी इस समय अपनी वहिनकी सहायता नहीं कर सकता । कुलदेवी ! क्या तू भी रूठ गई । भगवन् ! मैं ने ऐसा कौन सा अपराध किया है ?

रावण—हे देवि, मैं तेरी सोहनी सूरत और मनोमोहिनी मूरतको देखकर प्रेमवश विह्वल हुआ जाता हूं । यद्यपि तेरा सुन्दर मुख क्रोधसे लाल हो रहा है तथापि वह मुझे प्राणोंसे भी प्यारा मालूम होता है । प्यारी ! जिन नेत्रोंने मुझे घायल किया है, उनसे तनिक तो मेरी ओर प्रेम दृष्टिसे निहार, जिससे मेरे तड़फते हुए दिलको कुछ तो शांति प्राप्त हो ।

सीता—अरे दुराचारी, नराधम ! तुझे शर्म नहीं आती ? तेरे अन्तःपुरमें सहस्रों रूपवती स्त्रियां होते हुए भी विषय वासना के वश तू परस्त्रीको विकार भावसे देखता है, और मुझ अवला-

के शील भंग करनेके लिये उतारू हुआ है ? क्या तुझ जसे भूपतिको ऐसा घोर अन्याय करना उचित है ? याद रख, इसका फल बहुत बुरा होगा।

रावण—प्यारी ! जो होगा सो हो रहेगा, इसकी कुछ चिता नही। तेरे लिए मैं प्राण तक देनेको तैय्यार हूं।

सीता—धिक्कार है तुझ जैसे राक्षसी नीच पुरुषको। बस, मेरे हाथ न लगा और अधिक बातें न बना। मैं कोई ओछी

सुधारलें।

प्रेसकी गलतीके कारण पृष्ठ संख्या २६ के आगे गलत छप गई है, पाठक सुधारलें।

... आई और कहने लगी, नाथ ! आप क्यों उदास हो रहे है ? क्या खरदूषणकी मृत्युका शोक है ? हम क्षत्री है। क्षत्रियोंका यही धर्म है। इसके लिए शोक करना व्यर्थ है।

रावण—वल्लभे, इसका तो मुझे कोई शोक नही पर मुझे शोक अपना है। मेरी जानके लाले पड रहे है। प्रिये ! तेरे समान जगतमें मेरा कोई मित्र नही। मुझे विश्वास है कि तू मेरा जीते जी साथ देगी। यदि तू मेरा जीवन चाहती है, तो सीताको मुझपर मोहित कर, नहीं तो अभी प्राण तजे देता हूं।

मरनेसे नही डरती। यदि तू अधिक पांव फैलायगा, तो अभी गला घोट कर मरजाऊंगी।

भजन।

अरे रावण तू धमकी दिखावे किसे, मुझे मरनेका खौफ़ो खतर ही नही। मुझे मारेगा क्या अपनी खैर मना, तुझे होनी की अपनी खबर ही नही ॥ अरे० ॥ क्या तू सोनेकी लंकाका मान करे मेरे आगे वह मिट्टीका घर भी नही। मेरे मनका सुमेरु हिलेगा नहीं, मेरे मनमें किसीका डर ही नही ॥ अरे० ॥ आवें इन्द्र नरेन्द्र जो मिलके सभी क्या मजाल जो शीलको मेरे हरें। तेरी हस्ती है क्या सिवा राम पिया, मेरी नजरोंमे कोई बशर ही नही ॥ अरे० ॥ तेरे घरमें है कितनी ये रानी वरी, आया इसपर भी तुझको सबर हो नहीं। पर तिरिया पै तूने जो ध्यान दिया, क्या निगोदो नरकका खबर ही नही, ॥ अरे० ॥ मेरी चाह जो थी तेरे दिलमें बसी, क्यों न जीत स्वयंवर तू लाया यहीं। वह कौनसा देश बतावै मुझे, जहं पहुंची स्वयम्वरकी खबरी नही ॥ अरे० ॥ जो हुआ सो हुआ अब भी मान कही, मुझे राम पिया पै पठा दे सही। कहै 'न्यामत' न मानेगा तू जो कही, तेरे धड़ पर रहैगा शिर ही नही ॥ अरे० ॥ ( न्यामतसिंह )

## ग्यारहवां परिच्छेद ।

इधर तो सीता रामके वियोगमे तड़फ रही है, रात दिन रोनेके सिवाय कोई काम नही, खाने पोनेका नाम नही, उधर राम लक्ष्मण सीताके वियोगमें विकल हो रहे है। रामने जिस समय सीताको कुटीमे न पाया, उनके होश हवाश जाते रहे, वे पछाड़ खाकर धमसे नीचे गिर पड़े और "हाय जानकी, प्राण प्राणकी" कहकर रोने लगे। कभी इधर देखते है, कभी उधर। यह सोचकर कि कहीं वृक्षों-में तो नहीं छिप गई, कहों जंगल देखनेको तो नहीं चली गई, कभो मोह वश अबोल वृक्षोंसे पूछते है। कभी वनके पशु पक्षि-योंसे कहते है कि कहीं तुमने तो मेरी सीता नही देखी।

चौपाई।

हा गुणखान जानकी सीता। रूप शील व्रत नेम पुनीता॥
हे खग, हे मृग मधुकर श्रेनी। तुम देखे सीता मृगननी॥
सुन जानकी तोहि बिन आजू। मोहि न भावै एकहि काजू॥
प्रिया वेग किन प्रगटउ आई। केहि कारण नहि देत दिखाई॥

( तुलसीदासजी )

इस तरहसे विलाप करते हुए जंगलमें फिरने लगे। लक्ष्मणने बहुत कुछ धैर्य्य दिया, परन्तु उनके विथित हृदयको कुछ भी शांति न हुई। प्राण प्यारीके विछोहका किसे दुख नही

होता और विशेष कर सीता जैसी पतिव्रता सुशीला स्त्रीका हरण तो वज्रपात समान समझना चाहिये।

यद्यपि जानकीको उसकी हटसे साथमें लाये थे, परन्तु अब तो इस निर्जन वनमें वह उनके जीवनका अवलम्ब थी। उसे देखकर ही वे सारे कष्टोंको भूल जाते थे और घरके समान सुखोंका अनुभव करते थे। जानकीके विना उनका जीवन निरर्थक होगया। खाना पीना सब भूल गये। हाय जानकी, हाय जानकी! के सिवाय और कुछ उनके मुखसे न निकलता था। एक एक घड़ी कष्टसे बीतती थी।

कई दिनोंके बाद उनका किष्किन्धापुर नरेश सुग्रीव और पवनञ्जयसुत हनुमान आदिसे मिलाप हुआ और बहुत कुछ मित्रता होगई। उनसे ज्ञात हुआ कि सीताको लंकाधीश रावण हरकर लेगया है। अब तो कुछ जानमें जान आई और लक्ष्मणजीको ढाढ़स बंध गया। शत्रुका पता लगना ही कठिन था, अब पता लग गया, बस सीताको आई ही समझो। यह सुनकर सुग्रीवादि सब विद्याधर कांपने लगे और कहने लगे, आप ऐसे शब्द क्यों कहते हैं? रावण साधारण पुरुष नहीं है। हम सब उसके आधीन हैं। हृदयसे हम आपके दास हैं, पर वाह्यमें रावणके विरुद्ध हमारा साहस नहीं होता।

लक्ष्मण—अरे भाई! इतने क्यों घबड़ा गये? क्या रावण कोई देवता है? जो कायर परस्त्रीको हर कर ले गया, वह मेरे सन्मुख खड़ा भी नहीं रह सकता।

विद्याधर—महाराज ! आप भी क्यों एक स्त्रीके लिए इतने विह्वल हो रहे है। ऐसा सीतामे क्या धरा है जिसके लिए जान बूझकर मौतका सामना किया जाय। आपकी एक ही सीता गई। हम आपको सीतासे बढ़ कर सकड़ो सीता ला दें गे।

रामचन्द्र—भाई, तुम्हे इन बातोंसे क्या मतलब ? न मुझे सौ चाहिए न दो सौ। यदि वे हजारों भी हों, तो वे भी सीता-के सामने पैरकी धूल है। चाहे कुछ हो, जान जाय या रहे हम सीताको रावणके यहांसे लाकर ही छोड़ें गे। आप हमारा साथ दें या न दें।

बहुत कुछ बाद विवादके बाद महाराज सुग्रीवने अपने आधीन राना पवनजयके पुत्र वीर हनुमानको सीताजीके समा-चार लानेके लिए लंका जानेको कहा। हनुमान आज्ञा पाते ही लंकाकी ओर रवाना हो गया और बहुत जल्द पहुंचकर विभी-षणसे मिला और कहने लगा, कि कहिए सीताजीका क्या हाल है ?

विभीषण—क्या बतलाऊं, आज ११ दिन होते हे उस बेचारीने अन्न जल आंखोंसे भी नही देखा।

हनुमान—तो फिर आप क्यों उस पतिव्रताके प्राण लिए डालते हे। रावणको समझा बुझाकर क्यों उसे रामके पास नही भिजवा देते।

विभीषण—प्यारे हनुमान, मैं क्या करूं मैंने सौ बार रावणको समझाया, पर उसने मेरी एक न मानी और साफ

कह दिया कि जो कोई मुझसे सीताके विषयमे कहेगा, मैं उस-से शत्रुवत् व्यवहार करूंगा। अब बतलाओ क्या कहूं और क्या करूं ?

## बारहवां परिच्छेद।

अब हनुमान विभीषणासे वार्तालाप करके प्रमद उद्यानमे पहुंचा जहां सती सीता पतिके वियोगमें मलिन मुख बैठी थी। यद्यपि यह वन अनेक शोभाओंसे मंडित था और साक्षात् नन्दन वन जान पड़ता था, परन्तु महादेवीको यह जंगल ब्याबान मालूम होता था। उसके नेत्र आंसुओंसे भर रहे थे। सिरके केश बिखर रहे थे। उसकी यह दशा देखकर हनुमानका हृदय भर आया। उसने दृढ़ संकल्प कर लिया कि चाहे कुछ हो इस पतिपरायणा सतीको इस दुःखरूपी समुद्रसे अवश्य निकालूंगा, इसका रामसे मिलाप कराऊंगा।

हनुमानने धीरेसे आगे बढ़कर गुप्त रूपसे श्रीरामकी अंगूठी सीताके चरणकमलोंमें डाल दी। मुद्रिका देखतेही सीताका मुख-कमल हर्षसे कुछ प्रफुल्लित होगया। पासमें जो स्त्री बैठी थी, उसने उसी समय जाकर प्रसन्नताके समाचार रावणको कह सुनाये। रावणने विचार किया कि शायद सीताकी कुछ समझमें आगया है। अब मेरे कार्यकी अवश्य सिद्धि होगी। उसने तत्काल ही मन्दोदरीको सारे अन्तःपुर सहित सीताके पास भेजा।

मन्दोदरी—हे बाले, आज तू प्रसन्नचित्त है। तूने हम पर बड़ी कृपा की। अब तू लोकके स्वामी रावणको अंगीकार कर।

सीता—हे खेचरी, आज मुझे मेरे पतिका कुशल समाचार मिला है। वे आनन्दमें है, इसीलिये मुझे हर्ष हुआ है। मन्दोदरीने समझा कि इसने ११ दिनसे कुछ खाया पीया नही है, इस कारण इसे वातरोग होगया और यद्वा तद्वा बकती है। तब जानकी मुद्रिका लाने वालेसे कहने लगी कि भाई, मैं समुद्रके भीतर इस द्वीपके अगम्य वनमें पड़ी हूं। जो कोई उत्तम जीव मेरे प्राणनाथकी यह मुद्रिका लाया हो, वह प्रगट होकर साक्षात् दर्शन दे। तब हनुमानने आगे बढ़कर हाथ जोड़कर प्रणाम किया, अपना पूरा पूरा परिचय दिया और फिर श्रीरामका संदेशा सुनाकर विनय पूर्वक निवेदन किया कि हे सती शिरोमणि बहिन, श्रीराम स्वर्गके समान रमणीय स्थानमे विराजमान है, परन्तु तुम्हारे बिना उन्हे वहां जरा भी विश्राम नही मिलता। सारे भोगोपभोगोंको तज कर मौन धारे तुम्हारा स्मरण कर रहे है। सदा तुम्हारा कथन करते है, और केवल तुम्हारे लिए ही प्राणोंको धारण कर रहे है।

यह सुनकर सीताको अत्यन्त दुःख हुआ। वह आंखोंमें आंसू भर कर कहने लगी भाई, मैं दुःख सागरमे पड़ी हूं, तुमसे प्राणनाथके समाचार सुनकर बहुत कुछ ढाढस बंध गया है, तुम बड़े उपकारी हो, मैं तुम्हे जन्मजन्मान्तरोंमें न भूलूंगी, पर भाई मेरे मनमें अनेक विकल्प उठते है, तुमने मेरे नाथको

कहां देखा ? तुम्हारा उनसे कैसे परिचय हुआ ? कदाचित मेरे पति परलोकवासी होगये हों, अथवा सन्यासी होगये हों और तुम्हें यह मुद्रिका मिल गई हो, कृपा करके सारा हाल सुनाओ जिससे मुझे विश्वास हो जाय।

इसके उत्तरमें हनुमानने राम लक्ष्मणका सारा वृत्तान्त आद्योपान्त कह सुनाया जिससे सीताको पूर्ण विश्वास हो गया कि यह रामचन्द्रजीका ही दूत है। यह देखकर मन्दोदरीने हनुमानसे कहा बड़े आश्चर्यकी बात है कि तू महाराज रावणका सम्बन्धी है, तो भी भूमिगोचरियोंका दूत बनकर आया है। क्या तुझे अपने स्वामीका कुछ भी विचार न आया ?

हनुमान—इसका तो आश्चर्य करती हो, पर तुम तो कहो कि राजा मयकी पुत्री और रावणकी पट्टरानी, होकर भी यहां दूती बनकर क्यों आई हो। जिस पतिके प्रसादसे तुमने देवांगनाओं के समान सुख भोगे, शोक कि उसे अकार्यमें स्वयं लगाती हो और ऐसे कार्यकी अनुमोदना करती हो। तुम तो सब बातोंमें प्रवीणा, परम बुद्धिमती थीं, पर न जाने क्यों तुम्हारी मति मारी गई कि देखते भालते अपने हाथों अपने लिये गढ़ा खोदती हो। तुम अर्धचक्रीकी महिषी पट्टरानी हो, पर अब मैं तुममें इस पदकी जरा भी योग्यता नहीं देखता।

हनुमानके वचन सुनकर मन्दोदरी क्रोधसे लाल ताती होकर कहने लगी अरे हनुमान, तेरा वाचालपना निरर्थक है। निर्लज्ज सुग्रीवादिक अपने स्वामी रावणको छोड़कर भूमिगोचरियोंके

सेवक बने है, जान पड़ता है कि इनकी मृत्यु निकट आई है।
इनके समान मूढ़ और कृतघ्नी और कौन होगा। सीतासे मन्दो-
दरीके ये वचन सहन न हो सके। उसने तत्काल उत्तर दिया,
अरी मंदबुद्धी मन्दोदरी, तू मेरे पतिको नही जानती, इसीलिए
इतना अभिमान करती है। अरी किसीसे पूछ तो सही, कि मेरे
राम कितने बली और पराक्रमी है। क्या किसीकी सामर्थ्य है
कि उनके सन्मुख आ सके? क्या कोई नर भूमि पर उपजा है,
जो बल और विद्यामें उनका सामना कर सके। क्या तूने कभी
मेरे शूरवीर देवर लक्ष्मणका नाम नही सुना, जिनके दर्शनसे
देवता तक कम्पित हो जाते है, मनुष्यों और विद्याधरोंकी तो
बात ही क्या है। अधिक क्या कहूं मेरे पति अपने भाई
लक्ष्मण सहित समुद्र तिरकर शीघ्र ही यहां आते है और तेरे
पतिको मारकर तुझे विधवा बनाते है।

इन शब्दोंको सुनकर रावणकी सब रानियां सीताजीको
मारनेके लिए दौड़ी, पर हनुमानने बीचमें आकर सबको रोक
दिया। तब वे सब मानभंगके कारण उदास होकर रावणके
पास गईं। इधर हनुमानने सीताजीसे आहारके लिए प्रार्थनाकी
और थोड़ा बहुत खिलाकर कहने लगे, बहन तुम मेरे कन्धे पर
बैठ जाओ, मैं तुम्हें श्रीरामके पास ले चलूं। पर आज्ञाकारिणी
सीताने उत्तर दिया कि भाई मैं इस तरह नही जाती। कदाचित्
प्राणनाथ यह कहने लगें कि तू बिना बुलाये क्यों आई? तुम
जाकर उनसे सब हाल कहना और उनको धीरज बंधाना, तब

जैसी उनकी आज्ञा होगी मैं उनकी आज्ञाके विना एक पग भी आगे पीछे नही रक्खूंगी।

मन्दोदरीने रावणसे जाकर कहा महाराज पवनंजयका पुत्र हनुमान रामका दूत बनकर आया है और उसने ही सीताको बहका रक्खा है। रावणने तुरंत गारदको हुक्म दिया कि जाओ हनुमानको शीघ्र पकड़ लाओ। गारदने किसी तरहसे हनुमानको पकड़कर रावणके सामने उपस्थित कर दिया। रावण तथा समस्त कार्यकर्ता मंत्रीगण हनुमानको धिक्कारने लगे कि अरे दुष्ट पापी, तू बड़ा कृतघ्नी है। जिस स्वामीकी पृथ्वीमें तूने प्रभुता प्राप्त की उसके प्रतिकूल होकर तू भूमिगोचरोंका दूत बना। तू पवनका पुत्र नहीं किसी औरका है। केशरी सिंह स्यालका आश्रय नहीं लेता। तू राजद्वारका दोषी है तुझे अवश्य मार डालना चाहिए।

हनुमान इन शब्दोंको सुनकर हसकर कहने लगा कि कौन जाने किसकी मृत्यु निकट आई है। तेरे सहस्रों स्त्रियां होते हुए भी तुझे संतोष न हुआ। तूने पापी परस्त्री पर दृष्टि डाली। रावण तू रत्नस्रवा राजाके कुलक्षय पुत्र हुआ। तुझसे राक्षस वंशका क्षय हो जायगा। तेरे वंशमें बड़े बड़े मर्यादाके पालक राजा हुए पर न जाने तू कहांसे दुष्ट, कुलनाशक वंशविध्वंसक हुआ। ऐसा वचन कहकर फुर्तीसे अपने बंधन छुड़ाकर सबके देखते देखते ऊपरको उड़ गया और शीघ्रतासे श्रीराम और सुग्रीवके पास पहुंच कर उसने सीताका सारा हाल कह सुनाया।

# तेरहवां परिच्छेद ।

सवं सम्मतिसे यही निश्चय हुआ कि लंकाको शीघ्र प्रस्थान कर देना चाहिये। रावण जसे पापी दुष्टात्मा-को अवश्य दंड देना उचित है । भामंडलको भी बुला लिया और सुग्रीवादिक अनेक राजा महाराजा शूरवीर योद्धा श्रीराम लक्ष्मणके साथ लंकाको रवाना हुए मार्गमें अनेक राजाओंको परास्त करते हुए और अभिमानियोंका मान गलित करते हुए लंकामे जा पहुंचे। लक्ष्मणको आया देखकर रावणको विभीषणने बहुत कुछ समझाया और सीताको वापिस देनेके लिए शक्ति भर कहा, परंतु उसने एक न सुनी और क्रोधित होकर लंकासे निकल जानेका हुक्म दिया। विभीषण उसी समय अपनी सेनासहित रामसे आ मिला और इनका जी जानसे भक्त हो गया। रामचन्द्रजी भी विभीषणको पाकर बड़े प्रसन्न हुए और अब उनको पूर्ण विश्वास हो गया कि अब मैं अवश्य लंकाको जीतूंगा।

रणभेरी बजते ही दोनों ओरकी सेना सज धजकर रणभूमि में विधिपूर्वक खड़ी हो गई और इशारा होते ही बाणोंकी वर्षा होने लगी। दोनों पक्षके सुभट अपना अपना बल दिखलाने लगे। इधर लक्ष्मण, विभीषण उधर रावण, कुम्भकर्ण अपने अपने गुण दिखलाने लगे। दोनों दलमें घोर संग्राम होने लगा। श्रीरामने कुम्भकर्णको घेर लिया और नागफांससे बांध लिया.

उधर इन्द्रजीतको लक्ष्मणने पकड़ लिया। रावण कोई तीर विभीषण पर छोड़नेको ही था कि उसने लक्ष्मणको तीर ताने सामने खड़ा देख लिया और इस जोरसे अपने शक्तिवाणको लक्ष्मण पर चलाया कि लगते ही लक्ष्मण मूर्च्छा खाकर गिरपड़ा।

भाईको गिरा देखकर रामचन्द्रके होश हवाश जाते रहे और साहस टूट गया। वे उस दिन युद्धको बंद करके लक्ष्मणका सिर गोदमें रखकर धाड़ मार मार कर रोने लगे। हाय! लक्ष्मण हाय! भाई तू बोलता क्यों नहीं? तुझे यह कैसी निद्रा आई? तूने अब तक तो साथ दिया, अब अंत समय क्यों रूठ गया? भैया! उठ, आंखें खोल, देख तो, मैं कैसा तड़फ रहा हूं। मुझे अकेला यहां क्यों छोड़ दिया? भैया! अकेली तो लकड़ी भी नहीं जलती। तेरी मांने तुझे धरोहर रूप सौंपा था, अब मैं उसे जाकर क्या मुख दिखाऊंगा? भैया! देर न कर, उठ खड़ा हो, मैं क्षण भर भी तेरा वियोग नहीं सहन कर सकता। सीता बिछुड़ी तो क्या तू भी बिछुड़ गया? इस प्रकार श्रीराम विलाप करने लगे और हा लक्ष्मण! हा लक्ष्मण! कहकर रोने लगे।

सीताजीको भी ये समाचार मिल गये। पहिले से ही उसकी दशा बुरी थी, अब तो उसपर साक्षात एक आपत्तिका पहाड़ ही टूट पड़ा। हाय लक्ष्मण! क्या तुम जैसा शूर वीर बलवान् आजकी घड़ीके लिए ही पैदा हुआ था? प्यारे देवर, क्या तुमने मुझ पापिनीके लिए अपने प्राणों तकको अर्पण कर दिया?

सारी सेनामें कोलाहल मच गया। सबके नेत्रोंसे टप टप आंसू गिरने लगे।

कुछ देरके बाद शुभ कर्मोदयसे एक आदमी आता हुआ दिखलाई दिया। उसने हनुमान को देखते ही कहा कि तुम अयोध्या जाकर द्रोणमेघकी पुत्री विशल्याके स्नानका जल ले आओ। हनुमान तत्काल ही अयोध्याको रवाना होगया और वहांसे विशल्याको ही ले आया। उसके स्नानके जलके छींटे देनेसे लक्ष्मण खड़े होगये और होशमें आकर शत्रुसे लड़नेके लिए तयार होगये।

## चौदहवां परिच्छेद।

लक्ष्मणके अच्छे होजानेका सवाद रावणको भी मालूम होगया। उसने और कोई उपाय न देखकर बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध किया और युद्धमें जानेसे पहले वह एक बार फिर सीताके पास गया और बड़े प्रेमसे कहने लगा, हे देवी, यदि अब भी तुमको रामकी अभिलाषा है तो उसे मनसे निकाल दो। अब उसका पूर्ण होना असंभव है। मेरे साथ आनन्दपूर्वक जीवनके भोग भोगो और मेरी उभरती हुई इच्छाओंको पूर्ण करो। मैंने तुम्हारे प्रेममें अपने भाई बन्धुओं और मित्रोंसे भी नेह तोड़ दिया।

सीता—हे दशानन, यदि श्रीराम तेरे हाथसे मारे हो जांय, तो मारनेसे पहले कृपया इतना उनसे अवश्य कह देना कि

शोक ! तुम्हारी प्यारी सीता अन्त समयमें तुम्हारा दर्शन न कर सकी। अब तक तुम्हारे कारण प्राण टिके थे, पर अब तुम्हारे दर्शनोंकी पिपासा और वियोगके दुःखको अपने कोमल हृदय पर लिये हुये वह भी प्राण न्योछावर कर देगी। अब रावणको निश्चय होगया कि सीता मुझे कदापि नही चाहेगी। शोक !!! संसारमें कलंकका टीका मेरे माथे पर लग गया और मेरा कार्य भी न हुआ। हा ! मैं ने अपने कुलको कलंकित किया, पूर्वजोंकी मर्यादाको भंग किया, भाई बन्धुओंको हाथसे खो दिया, मित्रोंको शत्रु बना लिया, सहस्रो शूर वीरोंका घात करा दिया, तो भी सीताने मेरी ओर पलक भी उठाकर नही देखा। निस्सन्देह सीता साध्वी और पतिव्रता देवी है। धिक्कार मुझ को ! जो मैं ने ऐसी पतिव्रता देवीके शील भंग करनेका विचार किया। न मुझे यह विचार होता, न यह युद्ध होता और न अपनी पराई जानोंका स्वाहा होता, परन्तु अब क्या होता है। पीछे भी नहीं हटा जाता। क्या करूं क्या न करूं। इधर खाई उधर कूआं। अस्तु, जो होगा सो हो रहेगा। ऐसा विचार कर मंदोदरीसे अन्तिम भेंट करनेके लिए गया और कहने लगा, आज न जाने युद्धसे बचकर आऊं या न आऊं, अतएव यह अन्तिम भेंट है। जीता रहा, तो फिर आ मिलूंगा।

मन्दोदरीसे विदा होकर अस्त्र शस्त्र धारण करके रावणने रणभूमिमें प्रवेश किया और बड़ी शूर वीरतासे युद्ध किया, परन्तु लक्ष्मणके चक्रसे कहां बच सकता था। तत्काल बेहोश

होकर भूमि पर गिर पड़ा और क्षणमात्रमे परलोकवासी होगया। रावणकी मृत्युसे विभीषणको अत्यन्त शोक हुआ। सारे रणवासमे प्रलयका दृश्य दिखलाई देने लगा। चारों ओर रोने चिल्लानेके शब्द सुनाई देने लगे। श्रीरामने भक्त विभीषणको धैर्य दिया और तमाम रानियोंको ससारकी असारता दिखलाकर शांत किया। कुम्भकर्ण, मेघनाद इत्यादि रामचन्द्रके बंदीगृह से मुक्त होकर संसारको क्षणभंगुर जानकर, भोगविलासोंको त्यागकर राजविभूतिको लात मारकर दीक्षित होगये।

अब श्रीराम शीघ्र वहां पहुंचे, जहां उनकी प्यारी अर्धांगिनी रावणकी कैदमें पड़ी हुई उनके दर्शनोंकी अभिलाषामे जीवनके श्वास पूरे कर रही थी। देखते ही दोनोंके नेत्रोंसे अश्रुजलकी अविरल धारा बहने लगी। सीता रामकी छातीसे चिपट गई और कहने लगी, हे तात, प्राणाधार, धन्य आपको, आपने दर्शन देकर मुझे प्राणदान दिया। स्वामिन्! मैं तो निराश हो गई थी और प्राणोंको अर्पण करनेके लिए तैयार बैठी थी। धन्य मेरा भाग्य, जो मुझे आपके दर्शन होगये। नाथ, मैंने पूर्व भवमें अवश्य ही कोई पाप किया था जिसका यह फल भोग रही हूं। आपके कहनेको न मानकर मै हठ करके जंगलमें आई, मेरे कारण आपको कितने कष्ट हुए। महाराज, कहां अयोध्या और कहां यह समुद्र पार लंका। इस तरह बहुत देर तक दोनों वार्तालाप करते रहे। दोनों एक दूसरेसे मिलकर अपार आनंदित हुए। अनेक बनोपवनोंकी शोभा देखते हुए भगवानके मंदिरमें पहुंचे।

बडे भक्ति भावसे दोनोंने दर्शन पूजन किया। तदनन्तर विभीषणको राज देकर उन्होंने अयोध्याको प्रस्थान किया।

## पन्द्रहवां परिच्छेद।

उनके अयोध्याके पहुंचनेपर बड़ा आनन्द मनाया गया। घर घरमें उत्सव होने लगे। बाजे बजने लगे। यों तो सारी अयोध्या, और रनवासको अथाह आनंद हुआ; किंतु कौशल्या और सुमित्रा जो चौदह वर्षसे आशा लगाये मार्ग देख रही थीं, अपने प्यारे आंखोंके तारे पुत्रों और पुत्रवधूको देखकर हर्षमें फूली न समाई। वे बार बार सीताको गलेमें लगाती थीं। उसका मुख चूमती थीं और सहस्रों मोहरें उसपर न्योछावर करती थीं।

महाराज भरतने प्रतिज्ञानुसार दीक्षा ले ली और श्रीराम गद्दीपर बैठकर अकंटक राज्य करने लगे। उनके सुशासनके प्रतापसे सारा कौशल राज्य सुख और धनसे परिपूर्ण होगया।

कुछ दिन कुशलपूर्वक बीतनेपर सीताजीके गर्भचिह्न प्रगट हुए और उनको दो शुभ स्वप्न भी दिखलाई दिए। यह देखकर रामचन्द्रजी और रामजननी कौशल्याको बड़ा आनंद हुआ। सारा राज्यभवन उत्साहसे पूर्ण होगया। सब कोई आशा पूर्ण नेत्रोंसे सीताकी ओर देखने लगे, परन्तु हाय समय तू किसीको फलाफूला नही देख सकता, जब यह हर्ष समाचार सब साधारण

को ज्ञात हुए तो शत्रुओं और द्वेषियोंको अपने मनके फफोले फोड़नेका अवसर मिल गया। उन्होंने सीताजीकी पवित्रतामे कलंक लगाकर संदेह प्रगट किया और प्रत्येकके हृदयमे यह अं- कित कर दिया कि यह कदापि सम्भव नहो कि सीता जैसी रूप- वती स्त्री रावणसे बची हो। अतएव कुछ लोग मिलकर श्रीराम- चन्द्रके पास गये और भयसे कांपते हुए कहने लगे, महाराज, हम आपके राज्यमे पूर्णरूपसे सुखी है। ऐसा राज्य किसीने भी आजतक अयोध्यामे नही किया, पर शरणागत पालक, आपके राज्यमे व्यभिचार दिनों दिन बढता जाता है। जो चाहे जिसकी यौवन संपन्न स्त्रीको बलात्कार हर लेता है, धर्मकी कोई मर्यादा नही। सब कोई कहते है कि जब हमारे राजा ही सीताको ले आये, जो बहुत दिनों तक रावणके घरमें रही और सम्भव है कि उससे अछूती बची हो, तो फिर हमको क्या भय है। प्रजा राजाकी अनुयायी होती है। "यथा राजा तथा प्रजा" अतएव महाराज कोई ऐसा उपाय करो जिससे धर्मकी रक्षा हो। प्रजा- का हितहो। आप लोकमें बडे राजा है। यदि आप प्रजाकी रक्षा न करेंगे तो फिर कौन करेगा। हे देव ! आप मर्यादाके प्रवर्तक पुरुषोत्तम हो। यही अपवाद यदि आपके राज्यमें न होता तो आपका राज्य इन्द्रसे भी बढ़कर होता।

लोगोंके मुखसे सीताको कलंकित करनेवाले शब्द सुनकर महाराज रामचन्द्रके हृदय पर इतनी गहरी वेदना हुई कि उसका वर्णन नही हो सकता. उन्होंने बड़ी कठिनाईसे आपको सम्हाला,

वे आंखोंमें आंसू भरे हुए कहने लगे कि हा, कैसी भयंकर हृदय विदारक सर्वनाशकी वात सुनी है। इसकी अपेक्षा मेरी छाती पर वज्रघात क्यों न आ पड़ा। हा, मेरा यश रुपी कमलोंका वन अपयश रुपी अग्निसे जलने लगा। जिस सीताके निमित्त मैं ने विरहका कष्ट सहा, जिसके लिए मैंने समुद्र तिरकर रणसंग्राममें रावण जैसे रिपुको जीता, क्या वही जानकी अब मेरे कुलरूपी चन्द्रमाको मलिनकर रही है? क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं, सीता निष्कलंक और पवित्र है। इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। पर क्या करूं, कुछ समझमें नहीं आता। इस लोकापवादको सुना अनसुना करूं अथवा निरपराधिनी साध्वी सती सीताको परित्याग करूं? भगवन् मैं ने कौन अशुभ कर्म किये थे जिनका यह विषफल मुझे भोगना पड़ रहा है। एक आपत्तिसे निकलता नहीं कि दूसरीमें फंस जाता हूं। मेरी तरह कभी कोई संकटमें न पड़ा होगा।

इस तरह परिताप करके श्रीराम नीची दृष्टि किये सोचने लगे फिर लम्बी सांस भर कर कहने लगे, मैं इन्हीं पाप कर्म्मोंके लिये उत्पन्न हुआ था। मुझ जैसा पातकी नराधम इस लोकमें कौन होगा कि जानते बूझते भी सीता जैसी प्रियभाषिणी, निरपराधिनी, शुद्धाचारिणी, देवीको परित्याग करनेके लिए उतारु हुआ हूं। धिक्! राज्य विभूति और राज्यपद! जिसके कारण मैं पाषाण हृदय होकर सती सीताको कूपमें डालनेके लिए तयार होता हूं, हे वसुन्धरे! मैं तुझमें क्यों नहीं समा जाता। हे

-वज्रपटल ! तुम मुझपर गिरकर क्यों मेरे टुकडे टुकडे नही कर डालते। हा !!! सीता तू मेरे साथ कुछ भी सुख न भोग सकी। तूंने विषवृक्षका चन्दन तरु समझकर आश्रय लिया था। अब मैं तुझसे इस जन्मके लिए विदा होता हूं। प्यारी, तेरा रक्षक पोषक श्रीजिनेन्द्र भगवानके सिवाय और कोई नहीं। संसार-में स्त्रीका रक्षक पति होता है, पर देवी तेरा पति तेरा शत्रु हो गया, उसका हृदय पाषाणका हो गया। उसकी आशा छोड़कर एक मात्र जिनेन्द्रदेवका स्मरण कर। इस प्रकार मन ही मन विलाप करके रामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीको बुलाया और कहा हे वत्स लक्ष्मण ! सीता इतने दिन रावणके घर रही और फिर मैंने उसे ग्रहण कर लिया, इस बातकी लोकमें निन्दा है, अत-एव मैंने दृढ़ प्रतिज्ञा करली है कि जानकीका परित्याग करूंगा। सब तरहसे प्रजा रंजन करना राजाका परम धर्म है। मैं अपने चिर पवित्र त्रैलोक्य पूज्य उज्ज्वल वंशको इस लोकापवादसे कलंकित न करूंगा। आशा है कि तुम भी मेरे इस कार्यमे सहा-यक हो जाओगे।

लक्ष्मण—भाई साहब आप क्या करते है। क्या किसीका साहस हो सकता है कि जो सती सीताके विषयमें ऐसे शब्द मुखसे निकाल सके ? मैं अभी गुप्त रीतिसे जांच करता हूं और उस दुष्टकी अभी जिह्वा निकाल लाता हूं। शोक और आश्चर्य है कि आपको भी मूर्ख लोगोंके कहने पर विश्वास आ गया।

रामचन्द्र—नहीं भाई, यह बात नहीं है, मैं अच्छी तरह जानता हूं कि सीता निष्कलंक और पवित्र है। वह सच्ची पति-व्रता देवी है। उसके शीलमें दोष लगाना महा अनर्थ है। पर वत्स, क्या करूं ? प्रजाका मुंह मैं बन्द नहीं कर सकता। प्रजाको विश्वास है कि पापाचारी रावणने अवश्य सीताके शील को भंग किया है। मैं उनके इस विश्वासको किसी तरह नहीं हटा सकता, यदि मैं राजा न होता, तो मैं इस निर्मूल लोक-निन्दाका निरादर करके निडर होकर अपना जीवन व्यतीत करता। परन्तु राजा होकर यदि मैं प्रजाको संतुष्ट न कर सका, तो मेरे जीवनसे क्या लाभ ? मैं प्रजा रंजनके लिए सीता तो क्या चीज़ अपने प्राण तक त्यागनेको तैयार हूं। ऐसी दशा-में सीताका त्यागना कोई बड़ी बात नहीं। मैंने निश्चय कर लिया है, तुम इस विषयमें और अधिक कहकर मेरे मनको दुखी न करो। जो कुछ होगा, वह अवश्य होकर रहेगा। बेचारी जनकनन्दनीको दुःख भोगनेके लिए ही विधाताने पैदा किया है।

लक्ष्मण—महाराज क्षमा कीजिए, सीता सती निर्दोष है, इसे न तजिएगा। यह जनक लाड़ली गर्भके भारसे पीड़ित अकेली कहां जायगी, किसकी शरण लेगी। दीनबन्धु ! यद्यपि यह रावणके यहां रही और रावण तथा उसकी दूतियां इसके पास आईं, पर महाराज ! देखनेमें क्या दोष है। भगवानके सामने चढ़ाया द्रव्य निर्माल्य है, परन्तु उसके देखनेमें दोष

नही। ग्रहण करनेमें दोष है। हे नाथ, मुझ पर प्रसन्न होकर सीता सतीको न तजो।

राम क्रोधमें आ गए और कहने लगे, बस लक्ष्मण मैं अधिक सुनना नही चाहता। मैंने निश्चय कर लिया है चाहे जो हो सीताको निर्जन वनमे अकेली छोड़ दो। चाहे मरे चाहे जीये मेरे देश अथवा नगरमें क्षणमात्र भी न रहने पावे। इससे सर्वत्र मेरी अपकीर्ति हो रही है।

यह कह कर रामचन्द्रजीने कृतान्तवक्र सेनापतिको बुलाया और उसे सब हाल समझाकर आज्ञा दी कि तुम सीताको ले जाओ और मार्गमें जिन मन्दिरों तथा निर्वाण भूमियोंके दर्शन कराकर सिंहनाद अटवीमे अकेली छोड़ आओ।

सेवकका काम सेवकाई है। तर्क वितर्क करना उसका काम नहीं। कृतान्तवक्र इन हृदय विदारक समाचारोंको सुनकर छाती दाबकर सीताजीके मन्दिरमे गया और कहने लगा कि हे माता, उठो रथमें चढ़ो, तुम्हारी चैत्यालयोंके दर्शन करनेकी वांछा है, सो पूर्ण करो। श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा दी है। सीता पंच-परमेष्ठीको स्मरणकर और प्राणनाथको परोक्षमें नमस्कार करके रथमें सवार हो गई। चढ़ते समय अनेक अपशकुन हुए, परन्तु जिनभक्तिमे अनुरागिनी सीता निश्चिन्त चित्त चली गई।

अनेक चैत्यालयोंके दर्शन करनेके पश्चात् अब सेनापति गंगाको पारकरके सिंहनाद अटवीमे पहुंचा। वहां पहुंचते ही सेनापतिने रथको थाम दिया और रोने लगा। उसके मुखसे

एक शब्द भी न निकल सका। उसकी यह दशा देखकर सीता कुछ देर तक यों ही कर्तव्य विमूढ़ सी हो रही। फिर कातर होकर कहने लगी—"भाई, तू इतना व्याकुल क्यों हो रहा है? मैं इस समय तुझको बहुत घबराया हुआ देखती हूं। शीघ्र कहो, क्या बात है? मेरा हृदय फटा जाता है। आर्य पुत्रका तो कुछ अमंगल नहीं हुआ। शीघ्र कहो, विलम्ब न करो, मेरे प्राण निकले जाते है, इन्हे बचाओ।"

सीताजीको इस प्रकार व्याकुल देखकर सेनापतिने लाचार जसे तैसे चित्तको कुछ कड़ाकरके बड़ी कठिनतासे कहा, "माता! क्या कहूं कहते मेरी छाती फटती है। आप इतने दिन रावण-के घर रही, इस कारण नगर निवासी लोग आपके विषयमे संदेह कर रहे है। उन्हींके वचनोंको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने दया, स्नेह और ममताको छोड़कर अकीर्तिके भयसे आपको परित्याग किया है। लक्ष्मणजीने बहुत कुछ समझाया, पर उन्होंने अपनी हठ न छोड़ी। हे स्वामिनि अब तुमको एकमात्र धर्म ही शरण है। संसारमे कोई किसीका नही।"

यह वज्रपातके समान शब्द सुनते ही सीता मूर्च्छा खाकर जमीन पर गिर पड़ी। थोड़ी देरमे सचेत होकर गद्गद वाणी से कहने लगी, हे सेनापति एक तरफकी बात गुड़से भी मीठी होती है। यदि राम दोनों तरफसे परीक्षा करके कोई आज्ञा देते तो न्याय हो जाता, परन्तु उनकी इच्छा, वे प्रसन्न रहें, मुझे उनकी आज्ञा शिरोधार्य है और इसीमें मेरा सौभाग्य है।

सेनापति—माता, मैं निरापराध हूं, मुझे क्षमा करो, मैं पराधीन किंकर हूं। इस पराधीनताको धिक्कार है। मुझे आज्ञा दीजिए।

सीता—हां तुम जाओ, प्रसन्न रहो, परन्तु श्रीरामसे यह अवश्य कह देना कि "मेरे त्यागका कोई विषाद न करना, परम धैर्यका अवलम्बनकर सदा प्रजाकी रक्षा करना, परन्तु यह स्मरण रखना कि दुष्ट जन संसारमें किसीकी बढ़तीको देखकर प्रसन्न नहीं होते, मेरी निंदा यदि की तो आपने मुझे त्याग दिया। अच्छा किया, पर यदि वे आपके धर्मकी निंदा करने लगें, तो धर्मको मेरे समान बिन परीक्षा किये न त्यागना। हे नाथ, मेरे अपराधोंको क्षमा करना। सदा धर्ममें तल्लीन रहना। जगत दुर्निवार है, जगतका मुख बन्द करनेको कौन समर्थ है? जिसके मुखमे जो आवे सो कहे। इसलिए जगतकी बात सुनकर योग्य अयोग्य जो हो सो कीजिएगा। दानसे जनोंको प्रसन्न रखना, विमल स्वभावसे मित्रोंको वश करना, चतुर्विधि संघकी सेवा करना, मन, वचन, कायसे शुभ कर्म उपार्जन करना, क्रोधको क्षमासे, मानको निगर्वतासे, मायाको निष्कपटसे, लोभको संतोषसे जीतना, आप स्वयं शास्त्रोंमें प्रवीण हो, मैं क्या कहूं, मैं केवल क्षमाकी प्रार्थी हूं। हे नाथ! क्षमा करो।"

यह कहकर सीता तृण पाषाण युक्त भूमिमे अचेत हो कर गिर पड़ी। कृतान्तवक्र उन्हे निर्जन वनमें अकेली पड़ी छोड़

कर अयोध्याकी ओर चल दिया। सीता उसके जानेके बहुत देर बाद मूर्च्छासे सचेत होकर यूथत्यक्त मृगीकी नाईं विलाप करने लगी। उनके रुदनके शब्दोंको सुनकर वनके पशु पक्षी भी स्तम्भित हो रहे। हाय, कमलनयन, राम, नरोत्तम मेरी रक्षा करो। मुझसे वचनालाप करो। आप महा गुणवन्त शान्तचित्त हो। आपका लेशमात्र भी दोष नहीं। आप तो पुरुषोत्तम हो। यह मेरे पूर्वोपार्जित कर्मोंका फल है। मैंने पूर्व जन्ममें अवश्य किसीका वियोग किया है, अथवा कोई घोर पाप किया है; उसीका यह फल भोग रही हूं। हाय, मैं महाराज जनककी पुत्री, बलभद्रकी पट्टरानी, स्वर्ग समान महलोंकी निवासिनी, हजारों सहेली मेरी सेवा करनेवाली, अब पापके उदयसे इस दुःख सागरमें कैसे रहूं। रत्नोंके मन्दिरमें अति रमणीय वस्त्रोंसे सुशोभित सुन्दर सेज पर शयन करनेवाली, अब इस वनमें अकेली कैसे रहूंगी। मैं मनोहर वीणा, बांसुरी मृदंगादिके मधुर शब्द निरन्तर सुना करती थी, अब इस भयंकर शब्दोंसे प्रतिध्वनित वनमें अकेली कैसे रहूंगी। मैं रामदेवकी पट्टरानी अपयशरूपी दावानलसे जलती हुई इस भयावने वनमें कंकरीली पृथ्वी पर कैसे शयन करूंगी। ऐसी अवस्थामें यदि मेरे प्राण न जांय, तो समझना चाहिये कि ये प्राण ही वज्रके है। क्या करूं, कहां जाऊं, किससे क्या कहूं। किसका आश्रय लूं; हाय! गुण समुद्र राम, मुझे क्यों छोड़ दी। हाय महाभक्त लक्ष्मण मेरी सहायता क्यों न की। हाय, पिता

जनक ! हाय माता विदेहा !! यह क्या हुआ। मुझे पैदा होते ही क्यों न मार डाली। हाय, विद्याधरोंके स्वामी भामंडल, मैं इस दुःखमें कैसे रहूं। तुमने भी मेरी सहायता न की। हाय वसुन्धरे! तू क्यों फटकर अपनेमे मुझे समा नहीं लेती। हा काल तू कहां सो गया, मुझे भक्षण क्यों नहीं कर जाता। यह कहते कहते सीताजीके नेत्रोंसे अविरल अश्रुजलधारा वह निकली।

## सोलहवां परिच्छेद।

दैवयोगसे इसी समय पुण्डरीकपुरका अधिपति राजा वज्रजंघ जो हाथी पकड़नेके निमित्त उस वनमे आया था, सीताजीके रुदनको सुनकर उसके पास आया और कहने लगा हे वहिन, तू कौन है? इस निर्जन वनमें किस पाषाण हृदय मनुष्यने तुझे अकेली छोड़ी है। हे पुण्यरूपिणी, अपनी इस अवस्थाका कारण बतला, शोकको त्याग कर; धैर्य धारण कर। मुझसे भयभीत मत हो। मैं पुण्डरीकपुरका राजा वज्रजंघ हूं। तब सीताने कठिनाईसे शोकको दबाकर अपनी सारी कथा कह सुनाई। इसे सुनकर वज्रजंघका हृदय करुणासे भीग गया। उसने सीता-को बहुत धैर्य दिया और उसे अपनी धर्म वहिन बनाकर पाल-कीमें बिठाकर बड़े आदर सत्कारसे पुण्डरीकपुर ले गया। राजपरिवारकी समस्त स्त्रियोंने सीताजीका यथेष्ट स्वागत किया।

वज्रजंघ तथा उसकी समस्त रानियां सीताजीकी निष्कपट हृदयसे सेवा करने लगी और उसे भगिनीके समान प्रेम करने लगीं।

अब वह दिन भी आ गया कि नवां महीना पूर्ण हुआ और श्रावक शुक्ला पूर्णिमाके दिन श्रवण नक्षत्रमें पुत्रयुगलका जन्म हुआ। पुत्रोंके जन्मसे पुण्डरीकपुरीने स्वर्गपुरीका रूप धारण कर लिया। सकल प्रजा अति हर्षित हुई मानो नगरी नाच उठी। तरह तरहके वाजे वजने लगे और चारों ओरसे "चिरंजीव, चिरंजीव जय जय" शब्द सुनाई देने लगे। एकका नाम अनंग लवण और दूसरेका नाम मदनांकुश रखा गया। ये दोनों दोयजके चन्द्रमाके समान दिनोंदिन वढ़ने लगे और अपने मीठे मीठे तोतले शब्दोंसे माताके मनको मोहित करने लगे। माता इनको देखकर अपना सारा दुःख भूल गई। बालक वड़े हुए और विद्या पढ़नेके योग्य हुए। दैवयोगसे एक वड़े ज्ञानवान् क्षुल्लक वहां आ गये। उन्होने कुमारोंको होनहार जानकर थोड़े ही दिनोंमें उन्हे ज्ञान विज्ञानमे निपुण कर दिया। दोनों भाई चन्द्र सूर्यके समान अपने वल और विद्याके प्रतापसे सारे जगतमें प्रसिद्ध हो गये। संसार भरमें किसीकी भी सामर्थ्य न थी, जो इनके सामने आ सके। जिस किसीने जरा भी सिर उठाया कि उन्होंने तुरत उसे मारकर यमलोकका रास्ता दिखलाया। इसके वल पराक्रमके प्रभावसे राजा वज्रजंघ शान्तिपूर्वक निष्कंटक राज्य करने लगे।

एक दिन दोनों कुमार वनक्रीड़ा करते फिर रहे थे कि नारदजी दिखलाई दिये। कुमारोंने नारदजीको मस्तक झुका कर प्रणाम किया। नारदजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम दोनों भाई राम लक्ष्मणकी तरह फलो फूलो। कुमारों-ने पूछा—"महाराज' राम लक्ष्मण कौन है? कहां रहते है? क्या उनकी राज्यविभूति हमसे ज्यादह है? नारदजीने आदि-से ले कर सीताजीके त्याग पर्यंतका सारा हाल कुमारोंको कह सुनाया।

अंकुश—निस्सन्देह राम लक्ष्मण बड़े पराक्रमी बलधारी है, पर उन्होंने मिथ्या लोकापवादके कारण सीताको त्याग दिया, यह अच्छा न किया।

लवण—महाराज यहांसे अयोध्या कितनी दूर है?

नारद—यहांसे ६४० कोस उत्तरकी ओर है। क्यों किस लिये पूछते हो?

लवण—हम राम लक्ष्मणके साथ लड़ेंगे और देखें कि उन-का बल वोर्य कितना है।

कुमारोने घर आकर राजा वज्रजंघसे कहा कि मामाजी, हम अयोध्या पर चढ़ेंगे। आप शीघ्र युद्धकी तैयारी कीजिए। यह सुनते ही सीता रुदन करने लगी और नारदजीसे कहने लगी महाराज! आज यह क्या स्वांग रचाया है। क्यों वठे विठाये बाप बेटोंमें वजवा दो? मैं दुखिया बहुत दिनोंके शोक-को ज्यों त्यो दाबे बैठी थी। न कुछ तुम्हारा विगड़ेगा न इन

बाप बेटोंका। आपत्ति मुझ अबला पर आई; इधर कुवां उधर खाई। अब किसी तरह इस विरोधको रोको।

नारदजीने कहा—बहन, मैंने तो कुछ नहीं किया। इन्होंने मुझे प्रणाम किया। मैंने इन्हे आशिष दी कि तुम राम लक्ष्मण से हो, इन्होंने राम लक्ष्मणका वृत्तान्त पूछा, मैंने आदिसे अंत तक सारा हाल कह सुनाया। अस्तु, तुम कोई चिंता न करो, अच्छा ही होगा।

लवण अंकुश माताको दुखी सुनकर उसके पास आये और कहने लगे—माता! तुम किस लिये उदास हो। शीघ्र कहो। हम जसे शूरवीरोंकी माताको कायर न होना चाहिये। आपको तो हर्ष मानना चाहिये कि आपके सपूत आज इस योग्य हुए कि शत्रुओंका मान गलित करके उनका शिर नीचा करें।

सीता—बेटा, तुम्हारी वीरताका मुझे अभिमान है; परन्तु प्रेम भी तो दोनों ओरका है। युद्धमें किसीको हानि पहुंचे इसीका मुझे भय है। तुमसे प्यारे मुझे राम लक्ष्मण और उनसे प्यारे तुम हो। बस यही उदासीका कारण है।

कुमार—(आश्चर्यसे) माता, वे हमसे प्यारे कैसे हैं।
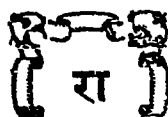
सीता—श्रीराम तुम्हारे पिता और लक्ष्मण तुम्हारे चाचा हैं। वे दोनो तुम्हारे पूज्य गुरुजन हैं। अतएव मैं तुमसे अधिक उनको समझती हूं। मुझे तुम्हारा इतना ख्याल नहीं जितना उनका है। वे भी बड़े शूरवीर बलवान हैं। इस युद्धमें किसी न किसीका अवश्य पराजय होगा। मुझ अभागनीके भाग्यमें

शोक ही बढ़ा है। मेरा कहा मानो, तो जाकर पिताको प्रणाम करो। यही नीतिका मार्ग है।

कुमार—माता, ये कैसे हो सकता है? हम दीनताके वचन कैसे कहे? हम तुम्हारे पुत्र है। हम रणांगनमें जाकर अवश्य तुम्हारा बदला लेंगे। 'उन्होंने तुमको तजा' यह हमसे सहन नही हो सकता।

माता चुप हो गई, परन्तु मनमे अति खेदखिन्न होती रही। कुमार सज धज कर और एक बड़ी सेना लेकर अयोध्या पर चढ़ गये और वहां पहुंचकर उन्होंने जंगलमे डेरा डाल दिये।

## सत्रहवां परिच्छेद।

राम लक्ष्मण भी किसी शत्रुको अपने राज्य पर चढ़ आया देखकर एक बड़ी भारी सेना लेकर प्रातःकाल रणभूमिमें आ डटे। रणभेरी बजते ही दोनों दलोंमें घोर संग्राम होने लगा, बाणोंकी वर्षा होने लगी, पैदल पैदलोंसे घुड़सवार घुड़सवारोंसे हाथीसवार हाथी सवारोंसे भिड़ गये। परन्तु न उनके बाण उन पर काम करते और न उनके बाण उन पर चलते थे। दोनों दल अटल खड़े रहे जिसे देख कर सबको बड़ा आश्चर्य हो रहा था। महारानी सीताजी भी आकाशमे विमानमें बैठी यह तमाशा देख रही थी।

इतनेमे नारद मुनि आते दिखलाई दिये। उन्हें देखते ही

लक्ष्मणने प्रणाम करके कहा, महाराज ! आज तक मेरा वार कभी खाली नहीं गया। आंख मीचकर भी जहां तीर फेंका, जिगरको पार करता हुआ निकल गया, पर न जाने आज क्या होनहार है। सबके सब वार खाली जा रहे है।

नारद—लक्ष्मण, इसमें आश्चर्य क्या है। तुम जानते हो, ये कौन है? ये दोनों सती सीताके पुत्र है। जिस समय रामचन्द्रजीने निरपराधिनी सीताजीको घरसे निकाला था, ये ही दोनों सुत गर्भमे थे। प्रकृतिके नियमानुसार न तुम्हारा तीर इन पर चल सकता है और न इनका तुम पर। यह सुनते ही राम लक्ष्मणने हाथसे हथियार डाल दिये और सीताका स्मरण करके रोने लगे। फिर बड़ी शीघ्रतासे पुत्रोंके सन्मुख आये। अपने पूज्य पिता और काकाजीको अपनी ओर आते देखकर दोनों भाई रथसे उतर पड़े और हाथ जोड़कर रामचन्द्रजीके चरणोंमें गिर पड़े। रामचन्द्रजीने अति स्नेह प्रेमसे उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया और अपनेको धिक्कारने लगे। हाय, मैंने तुम्हारी महा गुणवती, व्रतवती पतिव्रता माताको निरपराध वनमें तजकर महा अनर्थ किया। धिक्कार मुझको, मैंने तुम जैसे वीर पुत्रोंको घोर कष्ट दिया। पश्चात दोनों भाइयोंने लक्ष्मणजीको प्रणाम किया और उन्होंने अनेक आशीर्वाद दिये।

यह दृश्य देखकर सीताजीको आकाशमें असीम आनंद हुआ और वे तत्काल ही पुण्डरीकपुर लौट गईं। भामंडल, सुग्रीव,

विभीषण आदि अनेक राजा, महाराजाओं, मित्रों सम्बन्धियों और नगर निवासियोंको लव अंकुशसे मिलकर अत्यन्त हर्ष हुआ। बड़े समारोह और गाजे बाजेके साथ उनका अयोध्यामें प्रवेश हुआ।

एक दिन हनुमान, सुग्रीव आदि सबने मिलकर रामचंद्रजी-से विनयपूर्वक निवेदन किया कि महाराज अब सती सीताजी-को बुला लेना चाहिए। रामचन्द्रजीने कहा कि भाई मुझे उस-के शीलमें तनिक भी संदेह नहीं है, पर मैंने उसे लोकापवादके भयसे निकाली थी, अब कैसे बुलाऊं। कोई उपाय ऐसा करो कि जिससे समस्त विश्वमंडलको उसके शील और पातिव्रत धर्मकी श्रद्धा होजाय। सुग्रीवादिने पुण्डरीकपुरीमें जाकर सीताको सारा वृत्तान्त सुनाया। सीताजीकी आंखोंमें आंसू भर आये वे रोकर अपनी निंदा करने लगीं। हे वत्स सुग्रीव, मेरे अंग दुर्जनोंके वचन रूप दावानलसे दग्ध हो रहे हैं। ये क्षीरसागरके जलसे सींचनेसे भी शीतल न होंगे। तब वे कहने लगे, हे देवि भगवति, सौम्ये, उत्तमे, अब शोकको तजो और धैर्य धारण धरो। इस पृ-थ्वीमें किसकी सामर्थ्य है जो आपके विरुद्ध जिह्वा निकाल सके। हे पतिव्रते! रामचन्द्रजीने तुम्हारे लिये यह पुष्पक विमान भेजा है। अयोध्या तुम्हारे विना शून्य हो रही है। हे पंडिते, तुमको अवश्य पतिका वचन मानना होगा। यह सुनकर सीताजीने उन की बातोंको स्वीकार किया और पुष्पक विमानमें चढ़कर संध्या समय अयोध्या नगरीके महेन्द्र नामक उद्यानमें जा ठहरीं।

# अठारहवां परिच्छेद।

अगले दिन सवेरा होते ही निष्पाप हृदय रामकी रमा सती सीता रामकी सभामें आई। सारी सभाने सीताजीको देखकर विनयसंयुक्त वंदना की और सबके मुखसे "माता सदा जयवंत हो, नादो, विरधो, फूलोफलो धन्य यह रूप, धन्य यह धैर्य, धन्य यह सत्य, धन्य यह ज्योति धन्य यह वीरता, धन्य यह गम्भीरता, धन्य यह निर्मलता" आदि शब्द निकलने लगे। जय जयकारसे सारा सभा मंडप गूंज उठा।

सीताजी अपने स्थान पर बैठ गई। रामचन्द्रजीने उनकी ओर दृष्टि करके कहा—हे देवि! धन्य है तुमको, तुम निष्कलंक और पवित्र हो, मैंने लोकापवादके भयसे तुमको तजी थी, अब तुम कोई ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारे अखंड शीलका सब साधारणको विश्वास हो जाय। सीताजीने कहा, प्राणनाथ! आपने केवल दूसरोंके भयसे मुझे त्यागा, यह अच्छा नही किया मेरे मनमें जिन चैत्यालयोके दर्शनकी वांछा हुई थी, सो आपने यात्राका नाम लेकर विषम वनमें छुड़ा दी। यदि आपके जीमें तजने ही की थी तो मुझे आर्यिकाओंके समीप तजी होती। अब जो आज्ञा करो, सो ही प्रमाण है। आप कहें महाविषकालकूट को पीऊं, अग्निकी ज्वालामें प्रवेश करूं अथवा जो आप आज्ञा करो सो करूं। रामने क्षणिक विचारकर कहा कि अग्निकुण्ड

में प्रवेश करो। सीताने मस्तक नमाकर स्वीकार किया। तब तीन सौ हाथ चौकोर वापिका खोदी गई, जिसमे कालागुरु अगर चन्दन भरा गया और अग्नि जाज्वल्यमान की गई। चारों ओर ज्वाला फैल गई। दशों दिशायें स्वर्णमय हो गईं। यह दृश्य बड़ा ही विषम था। सबके हृदय थर थर कांप रहे थे। स्वयं राम अति व्याकुल हो रहे थे। असंख्य नर नारी देख देख कर रो रहे थे। इतनेमे ही सीताजी उठी और अत्यन्त निश्चल चित्तहो कायोत्सर्ग धार हृदयमें ऋषभादि तीर्थंकर देवोंको विराजमानकर, पंचपरमेष्ठीको स्मरणकर, बीसवें तीर्थंकर हरिवंश-तिलक मुनि सुव्रतनाथ स्वामीका ध्यानकर सर्व जीवोंमें समता धारण कर गम्भीर स्वरसे बोली;—

"मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,
मम यदि पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं पावके मामकेदम्
सुकृतविकृतनीतेर्देवसाक्षी त्वमेव"

अर्थात् हे उपस्थित महानुभावो! यदि मैंने रामचन्द्रजीको छोड़कर अन्य पुरुषकी मन वचन कायसे स्वप्नमें भी कामना की हो, तो यह मेरा शरीर इस प्रचंड अग्निमें भस्म हो जाय और यदि मैं सती, पतिव्रता, अणुव्रत धारणी श्राविका हूं, तो हे भगवन् मेरी रक्षा कोजियो। ऐसी प्रतिज्ञा कर नमोकार मंत्र-का उच्चारण करती हुई सती सीता उस प्रचंड दहकते हुए अग्नि कुंडमें निशंक कूद पड़ी। उसके कूदते ही इधर तो दर्शकोंके

होश हवास उड़ गये, राम लक्ष्मण मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े, भामण्डल सुग्रीवादि सब ही हा हा कार करके रोने लगे उधर उस सतीके अखण्ड शीलके प्रभावसे वह अग्निकुंड स्फटिक मणि समान निर्मल जल वापिका हो गई। जलमें कमल फूल गये, कमलों पर भ्रमर गुंजार करने लगे, अग्निका कहीं चिह्न भी न रहा, सारा कुंड जलमय हो गया। जन साध रणको सती सीताके शीलका माहात्म्य दिखलानेके लिए देव विक्रियासे उस वापिकाका प्रवाह इतना बढ़ा दिया कि दर्शकों डूबनेमे कुछ भी सन्देह न रहा। सब चिल्लाने लगे और कहं लगे, हे देवि, हे लक्ष्मि, हे सरस्वती, हे कल्याणरूपिणी, हे धर्म धुरन्धरे, हमारी रक्षा करो, हे माता दया करो, बचाओ बचाओ प्रसन्न हो। जब सब लोगोंको सीताजीके अखण्ड शीलका परि चय हो गया, तब रक्षक देवने जलकी बढ़ती हुई बाढ़को रोका तब सबको शान्ति हुई। देवोंने वापिकाके मध्य भागमें सहस्र दलका एक कमल बनाया और कमलकी मध्य कर्णिकापर सिंहा- सन निर्माण कर उस पर सीताजीको बैठाया और सिंहासनके ऊपर मणिखचित मंडप बनाया। ऊपरसे देवोंने प्रसन्न होकर आकाश मार्गसे रत्न पुष्पादिकी वर्षा की। लव अंकुश अपनी माताको देवोंद्वारा सम्मानित देखकर अति प्रसन्न हुए और उसके दोनों ओर जाकर खडे होगये। रामचन्द्रजी भी ऐसे मुग्ध हुए कि उसके पास जाकर अपने दोषोंकी क्षमा मांगने लगे। हे प्रिये! मेरे अपराध क्षमा करो, मैं लोकापवादके कारण तुमको तज

कर महा अनर्थ किया। आओ, अब एक बार फिर उसी प्रेम बन्धनसे बंधकर सांसारिक सुखोंका रस पान करे। परन्तु जानकी संसारका सारा तत्व भली भांति जान चुकी थी। उसने प्रत्येय अवस्थाका अनुभव कर लिया था। उसने उत्तर दिया, स्वामिन् आपका कोई दोष नहीं और न लोगोंका ही दोष है। दोष केवल मेरे अशुभ कर्मोंका है। इन्होंने ही मुझे इस चतुगति रूप संसारमें अरहटके समान अनादि कालसे घुमा रक्खा है। मैंने आपके साथ बहुत काल तक स्वर्ग समान सुख भोगे। अब यह इच्छा है कि जिन दीक्षा धारण करूं, जिसमें स्त्रीत्वका अभाव हो। मैंने संसारका समस्त सार देख लिया सिवाय दुःख के सुखका लेश भी नही है। सुख केवल मोक्षमें है और वह मोक्ष कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है। अतएव उन कर्मोंके नाश करनेके लिये ध्यानरूपी शस्त्रको धारण करती हूं। यह कह कर शिरके केश उखाड़कर रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिये और देव परिवार के साथ जिनेंद्र भगवानके दर्शन करके पृथ्वीमती अर्जिकासे जिन दीक्षा लेली ॥

❊ सम्पूर्ण ❊